राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भाषाई और सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी.(हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

हिन्दी विभाग

2024

शोधार्थी-: शेषांक चौधरी

19HHPH11

शोध-निर्देशक

प्रो. आलोक पाण्डेय

हिन्दी विभाग, मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

विभागाध्यक्षा

प्रो. सी.अन्नपूर्णा

हिन्दी विभाग, मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग,मानविकी संकाय,हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद- 500046

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भाषाई और सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्तन

अध्यायीकरण	**पृष्ठ संख्या**
अनुक्रमणिका	**1-5**
भूमिका	**6-12**
प्रथम अध्याय- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : परिचय	**13-40**

1.1 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की पृष्ठभूमि

1.2 उन्नीसवीं सदी के हिन्दू धर्म सुधार आन्दोलनों का सातत्य: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

1.3 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ: नामकरण और अर्थ

1.4 संघ परिवार का संगठनात्मक स्वरूप

1.5 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की संगठनात्मक संरचना

1.6 संघ की शाखा

1.7 भगवा ध्वज

1.8 गुरु-दक्षिणा

1.9 गणवेश

1.10 प्रार्थना

1.11 प्रतिज्ञा

1.12 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्सव

द्वितीय अध्याय- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भाषाई चिंतन **41-68**

2.1 भारत की सनातनता की उत्तराधिकारिणी भाषा 'संस्कृत' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन

2.2 अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व के बरक्स भारतीय भाषाओं की स्थापना को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण

2.3 मातृभाषा और शिक्षा की माध्यम भाषा को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन

2.4 भाषावार प्रान्तों के गठन को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण

2.5 भारत में सर्वाधिक समझी और बोली जाने वाली भाषा 'हिन्दी' के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण

तृतीय अध्याय- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सामाजिक चिंतन **69-116**

3.1 व्यक्ति-निर्माण

3.2 समाज

3.3 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'समाज' की अवधारणा

3.4 समष्टि के पुरुषार्थ

3.4.1 समाज का धर्म

3.4.2 समाज का अर्थ

3.4.3 समाज का काम

3.4.4 समाज का मोक्ष

3.5 व्यक्ति और समाज

3.6 कुटुम्ब

3.7 विवाह

3.8 अन्तरजातीय विवाह तथा लिव-इन-रिलेशनशिप

3.9 वर्ण-व्यवस्था

3.10 जाति-व्यवस्था

3.11 महिलाओं को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण

3.12 समलैंगिकों व तृतीयपंथियों (किन्नरों) को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण

3.13 शिक्षा

3.14 धर्म

3.15 सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

चतुर्थ अध्याय- राजनीति और आर्थिकी को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन 117-141

4.1 राजनीति और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

4.2 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आर्थिक चिन्तन

4.2.1 प्रकृति का दोहन, शोषण नहीं

4.2.2 अर्थ के अभाव व प्रभाव से मुक्त अर्थव्यवस्था

4.2.3 अर्थायाम

4.2.4 यन्त्रों (मशीनों) के प्रभुत्व का विरोध

4.2.5 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'स्वदेशी' की अवधारणा

4.2.6 कृषि

पंचम अध्याय- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सांस्कृतिक चिंतन **142-192**

5.1 संस्कृति : अर्थ एवं परिभाषा

5.2 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'हिन्दू' की अवधारणा

5.3 'हिन्दू-संस्कृति' ही 'भारतीय-संस्कृति'

5.4 हिन्दू-संस्कृति की आत्मा

5.5 हिन्दू-संस्कृति- 'सेवा-भाव'

5.6 'राष्ट्र' की चिरकालिक भारतीय कल्पना

5.7 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'राष्ट्र' (हिन्दू-राष्ट्र) की अवधारणा

5.8 'धर्म' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण

5.8.1 धर्म, रिलिजन नहीं

5.9 सामाजिक उत्सवों को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण

5.10 'खानपान' और 'वेशभूषा' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण

5.11 संगीत और कला को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिन्तन

5.12 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा

उपसंहार **193-199**

परिशिष्ट-

1. साक्षात्कार, श्री सुनील आंबेकर जी (अखिल भारतीय प्रचार प्रमुख, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) **200-204**

2. साक्षात्कार, श्री श्याम प्रसाद जी (अखिल भारतीय समरसता प्रमुख, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) **205-219**

3. साक्षात्कार, श्री मनोहर शिंदे जी (वरिष्ठ प्रचारक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) **220-227**

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची **228-236**

भूमिका

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाला संगठन है। देश के प्रत्येक हिस्से में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की उपस्थिति है। समाजोत्थान का शायद ही ऐसा कोई आयाम हो जहाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक सक्रिय न हों। अपने विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भिक दिनों में मैं जब सरस्वती शिशु मन्दिर का विद्यार्थी था, तब मैंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का नाम पहली बार सुना था। अपने विद्यार्थी जीवन की शुरुआत में मैंने जैसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोग देखे थे, तथा बाद के दिनों में थोड़ा-बहुत जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में अध्ययन किया था,उससे जो छवि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की मेरे मन-मस्तिष्क में थी, वह इस अकादमिक जगत में ख्यात राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की छवि के ठीक उलट थी। जब स्नातक और परास्नातक में मैंने हिन्दी विषय को अपने अध्ययन का आधार बनाया तब मैंने महसूस किया कि हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रति एक प्रकार की पूर्वाग्रही मानसिकता का प्राबल्य है। हिन्दी अकादमिक जगत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को लेकर एक खास दुराग्रह का बोलबाला था और कुछ मात्रा में अब भी विद्यमान है। मैं अक्सर यह सोचता था कि एक संगठन जिसकी समाज में इतनी स्वीकार्यता है, उसकी समाज-सेवा का फलक इतना विस्तृत है, वह हिन्दी अकादमिक जगत में इतना हेय दृष्टि से क्यों देखा जाता है ? मेरी इसी उधेड़बुन ने मुझे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में अधिक जानने, समझने को प्रेरित किया। इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि जिस विषय के अध्ययन में मेरी रुचि थी, वही मेरे शोध-कार्य का भी विषय बना।

शोध-कार्य का विषय-क्षेत्र जब मैंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में चुना तब मेरे मन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक रहे श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य 'श्री गुरुजी' की वह बात घुमड़ रही थी, जो उन्होंने एक पत्रकार के एक प्रश्न के उत्तर में (1973 ई. में) कही थी कि- 'तैंतीस साल सरसंघचालक रहने के बाद मैं अब थोड़ा-थोड़ा संघ को समझने लगा हूँ।' जो व्यक्ति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के शिल्पियों में से एक हो, तैंतीस साल से संघ के सर्वोच्च दायित्व का निर्वहन कर रहा हो, संघ के सभी निर्णयों में उसकी निर्णायक भूमिका रही हो, वह व्यक्ति जब कहता है कि मैं संघ की थोड़ा-थोड़ा समझने लगा हूँ, तो यह संघ की गूढ़ वैचारिकी एवं उसके विस्तृत फलक का ही द्योतक है। जब हम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विराट संगठन-वृक्ष को देखते हैं तो हमें यह बात अतिशयोक्ति नहीं लगती है। जाहिर है जब श्री गुरुजी जैसा व्यक्तित्व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में पूर्ण ज्ञान होने

का दावा नहीं कर सकता तो हम जैसे अध्येताओं की बात ही क्या। इसीलिए अपने इस शोध-कार्य के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जिन-जिन आयामों को मैंने अपने अध्ययन का आधार बनाया है, उनके बारे में पूर्ण और अन्तिम निष्कर्ष प्रस्तुत करने का दावा मैं नहीं कर सकता। हाँ, अपने शोधकार्य के सम्बन्ध में मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि जिन-जिन विषयों की चर्चा मैंने अपने शोध-कार्य में की है उनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का अधिकृत रुख क्या है ? इसकी प्रस्तुति तथा पड़ताल का प्रयास अवश्य किया है।

मेरे शोधकार्य का शीर्षक है- 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भाषाई और सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्तन'। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वर्तमान में समाज के हर क्षेत्र में व्याप्त हो चुका है। एक ऐसा संगठन जिसकी समाज में इतनी व्यापक उपस्थिति हो और हिन्दी साहित्य के अकादमिक जगत में उस पर सिर्फ मनगढ़ंत चर्चा ही की जाये यह तो उचित नहीं। हिन्दी के कई साहित्यकारों ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जिक्र अपनी कृतियों में (यथा- रेणु ने अपने उपन्यास 'मैला आँचल' में, राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यास 'सारा आकाश' में) किया है, मगर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में पढ़ने के बाद आज मैं यह दावे से कह सकता हूँ कि उनमें से अधिकतर के द्वारा चित्रित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्वरूप सुनी-सुनाई बातों पर ही आधारित है। उन्होंने अगर संघ के वैचारिक अधिष्ठान को, उसकी कार्य-पद्धति को समझने की श्रमसाध्य चेष्टा की होती तो वे शायद इस राष्ट्रोत्थान के निमित्त अहर्निश सन्नद्ध संगठन का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर पाते।

संघ के साथ यह विडम्बना है कि यह जितना सुप्रसिद्ध है, उतना सुपरिचित नहीं है। संघ के आलोचकों व विरोधियों को तो छोड़ दीजिए संघ के अनेक शुभचिन्तकों तथा कार्यकर्ताओं को भी संघ क्या है ? इस प्रश्न का अचूक उत्तर देने के लिए संघ को अधिकाधिक समझने का सतत प्रयास करना पड़ता है। संघ की अपनी अलहदा, विलक्षण वैचारिक चिन्तन की दृष्टि ही इस स्थिति का मुख्य कारण है। संघ को यह दृष्टि उसके संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार से प्राप्त हुई जिसमें प्रचलित चिन्तन की दिशा से हटकर मूलगामी चिन्तन की दिशा के विकास का भाव निहित है। समाज में एकात्मता, देशभक्ति, समर्पण, आत्मविश्वास, अनुशासन तथा अन्य गुणों का निर्माण कर उनको एक सूत्रबद्ध संगठित व्यवहार की आदत बना सकने वाले स्वयंसेवकों के निर्माण की कार्यपद्धति का नाम ही एक प्रकार से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है। संघ के बाहरी स्वरूप को देखकर समाज में व्याप्त विविध प्रकार की विसंगतियों के परिहार से तथा राष्ट्र के परमवैभव की प्राप्ति से उसका क्या सम्बन्ध है ? यह समझना दुष्कर है। इसके लिए संघ की

गतिविधियों का संघ में जाकर अवलोकन अपेक्षित है तथा संघ के नीति-निर्माताओं के चिन्तन का अध्ययन आवश्यक है।

प्रस्तुत शोध-कार्य विशुद्ध साहित्यिक शोध की परिधि में न आकर अन्तरविद्यावर्ती शोध प्रकृति के अन्तर्गत आता है, जिसमें एक विद्यानुशासन का अध्येता दूसरे विद्यानुशासन के विषयों पर अपने विद्यानुशासन की शोध प्रकृति के माध्यम से अनुशीलन करता है। मेरे शोध-विषय के भाषाई चिन्तन वाले पक्ष को अगर छोड़ दें (हालाँकि भाषाई चिन्तन में भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भाषा को लेकर जो चिन्तन है उसे ही प्रस्तुत किया है, न कि भाषाशास्त्रीय विवेचन) तो सामाजिक व सांस्कृतिक चिन्तन मुख्य रूप से समाजशास्त्रीय विषय हैं; और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य-क्षेत्र भी समाज ही है तथा उसकी प्रतिष्ठा भी सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन के रूप में ही है। चूँकि साहित्य और समाज के मध्य अटूट सम्बन्ध है, अतः साहित्य का अध्येता एक 'सामाजिक- सांस्कृतिक संगठन' के चिंतन के बारे में क्या सोचता है इसे प्रस्तुत करने का प्रयास इस शोधकार्य में किया गया है। इस शोध-कार्य में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के भाषा से सम्बन्धित, समाज से सम्बन्धित, राजनीति व आर्थिकी से सम्बन्धित तथा राष्ट्र की संस्कृति से सम्बन्धित चिंतन को स्पष्ट करने के लिए मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक पद्धति तथा यथावसर आवश्यकतानुसार अन्य शोध-पद्धतियों का व्यवहार किया गया है।

'साहित्य समाज का दर्पण होता है' अर्थात् साहित्य का उपजीव्य समाज का प्रत्येक समवाय, प्रत्येक वस्तु हो सकती है। जिस रूप में समाज में उसकी उपस्थिति होगी, वह उसी रूप में साहित्य में दर्पित होगा। यह कैसा विरोधाभास है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जिसका चित्रण हिन्दी साहित्य में बहुधा इतनी हेय दृष्टि से किया जाता है, वह आखिर समाज के आँख की पुतली क्यों बना हुआ है ? उसकी सामजिक स्वीकार्यता का ग्राफ सतत उन्नयन की ओर ही अग्रसर क्यों है ? मतलब यह साफ है कि कहीं न कहीं कुछ न कुछ संदिग्ध तो है। कहीं यह एक योजनाबद्ध तरीके से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सामाजिक-सांस्कृतिक अवदान को नकारने, उससे मुँह मोड़ने की साजिश का हिस्सा तो नहीं ? खैर जो भी हो.... मैं कृतज्ञ हूँ हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय तथा अपने शोध-निर्देशक गुरुवर प्रो. आलोक पाण्डेय का जिन्होंने मुझे इस चुनौतीपूर्ण विषय पर काम करने का अवसर प्रदान किया।

शोध-विषय को कुल पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्थापना की पृष्ठभूमि बताते हुए उसका परिचय दिया गया है। इसके बाद के अध्यायों में (द्वितीय अध्याय से लेकर पञ्चम अध्याय तक) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के भाषाई, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक व सांस्कृतिक चिन्तन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अन्त में सम्पूर्ण अध्यायों के विश्लेषण से प्राप्त नवनीत को उपसंहार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय का शीर्षक- 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघः परिचय' है। इस अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना से पूर्व की परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना के पूर्व प्रयासों को एवं तत्कालीन परिस्थितियों में स्थापित किये गये अन्य हिन्दू समाज के संगठनों से इसकी भिन्नता तथा मौलिकता के बिन्दुओं को स्पष्ट किया है। इस अध्याय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि कैसे बीसवीं सदी में स्थापित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश में उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण कालीन समाज उन्नयन एवं परिष्कार व संगठन के प्रयासों की शृंखला की ही एक कड़ी था। इस अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संगठनात्मक स्वरूप का परिचय देते हुए उसके आधारभूत अंगों- शाखा, गणवेश, प्रार्थना, गुरु पूजा, प्रतिज्ञा, उत्सव आदि पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक- 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भाषाई चिन्तन' है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक अखिल भारतीय संगठन है। संघ के सरसंघचालक जब विजयादशमी के दिन नागपुर से भाषण देते हैं, तो उसे कश्मीर से कन्याकुमारी तथा द्वारिका से कामरूप तक पूरे देश के स्वयंसेवक सुनते हैं। संघ का कार्य-विस्तार सम्पूर्ण भारतवर्ष में है। भारत जैसे देश जहाँ 'चार कोस पर पानी बदले,आठ कोस पर बानी' की बात विख्यात है, वहाँ एक संगठन के रूप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रति क्या दृष्टिकोण है ? इसे प्रस्तुत अध्याय में विश्लेषित किया है। इस अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'संस्कृत' भाषा को लेकर क्या नीति है तथा संस्कृत को जनभाषा बनाने को लेकर किये जा रहे संघ के सांगठनिक प्रयासों का विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय में अंग्रेजी रूपी अमरबेल के कारण सूख रहे भारतीय भाषाओं के छतनार वृक्षों को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दृष्टिकोण तथा भारत की शिक्षा व्यवस्था का माध्यम देश की भाषा, मातृभाषा हो; इसको लेकर के राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिन्तन का विश्लेषण है। भाषावार प्रान्तों के गठन को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका पर भी इस अध्याय में

प्रकाश डाला गया है। साथ ही देश की सर्वाधिक समझी और बोली जाने वाली भाषा 'हिन्दी' के प्रति संघ के दृष्टिकोण का विश्लेषण इस अध्याय में है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक- 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सामाजिक चिन्तन' है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना ही समाज-संगठन के ध्येय को ध्यान में रखकर हुई थी। संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार का मानना था कि चूँकि हमारा समाज संगठित नहीं था, हम आपसी ईर्ष्या-द्वेष के कारण समाज एका को नहीं बचा पाये थे, इसीलिए हमें हजार वर्षों की गुलामी के दुर्दिन देखने पड़े। हमारी सभ्यता के गौरवशाली अतीत तथा संस्कारों को विस्मृत करने के कारण ही हम वर्तमान अधोगति को प्राप्त हुए हैं। इसीलिए डॉ. हेडगेवार ने समाज के संगठन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि हम यदि आपसी भेद को भुलाकर संगठित हो जायें तो राष्ट्र के समक्ष आसन्न समस्त चुनौतियों का सामना माकूल ढंग से करने में सक्षम होंगे। अपने संस्थापक द्वारा प्रदर्शित ध्येय के अनुरूप राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज को एक जीवमान संरचना मानते हुए उसके प्रत्येक अंग को स्वस्थ एवं धर्मानुकूल व्यवहार में रत करने व उसको बीमार करने वाले समस्त अवयवों के परिहार हेतु पूरी तन्मयता से कटिबद्ध है। संघ का मानना है कि राष्ट्र को परमवैभवी बनाने के लिए उसके प्राथमिक अवयव- व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज आदि को पुष्ट करना होगा। प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के 'समाज-संगठन' के विविध पहलुओं व समाज के विविध अंग-उपांगों को चिंतन का आधार बनाकर विवेचित किया है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक- 'राजनीति और आर्थिकी के लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण' है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना हिन्दू समाज के संगठन के ध्येय को ध्यान में रख कर हुई थी। चूँकि राजनीति समाज का अभिन्न अंग है, अतः राजनीति के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की एक सुचिन्तित दृष्टि है। समाज के साथ घुल-मिलकर काम करने के बावजूद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राजनीति से कैसे निर्लिप्त है, इसका विश्लेषण प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। संघ भले ही सक्रिय राजनीति में सहभाग न करता हो, मगर राष्ट्रोत्थान हेतु राजनीति की दिशा कैसी हो इसके निमित्त समय-समय पर संघ नेतृत्व द्वारा प्रकट किये गये विचारों को इस अध्याय में स्थान दिया गया है। समाज के अस्तित्व के लिए 'अर्थ' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बिना आर्थिक शक्ति के न तो समाजरूपी अधिष्ठान स्थायित्व को प्राप्त कर सकता है और न ही यशस्वी हो सकता है। इस सन्दर्भ में समाज की आर्थिकी से सम्बन्धित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिन्तन को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

पञ्चम अध्याय का शीर्षक- 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सांस्कृतिक चिन्तन' है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपनी स्थापना के समय से ही राष्ट्र की यशस्वी संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए लगातार प्रयत्नशील है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का ध्येय ही है- भारतीय संस्कृति के अधिष्ठान को जागृत करना, उसके प्रति राष्ट्र के जन-मन में गौरवबोध जागृत करना तथा उसके आधार पर हिन्दू समाज को सभी प्रकार की विभाजक कुरीतियों से मुक्त कराते हुए, एकता के सूत्र में पिरोना। प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के इसी कार्याधार को स्पष्ट करने के क्रम में- संस्कृति, हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-राष्ट्र, धर्म, कला, संगीत, तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आदि से सम्बन्धित उसके चिन्तन को विश्लेषित किया गया है।

अन्त में उपसंहार के अंतर्गत इन सभी अध्यायों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष को प्रस्तुत किया गया है।

मुझे पीएच.डी. में प्रवेश के योग्य मानने तथा शोध का अवसर प्रदान करने के लिए मैं हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय के प्रति कृतज्ञ हूँ। मैं अपने शोध-निर्देशक गुरुवर प्रो. आलोक पाण्डेय का विशेष आभारी हूँ, जिनके स्नेहिल मार्गदर्शन ने मुझे इस विषय पर कार्य करने की प्रेरणा तथा संबल दिया। आदरणीय गुरुवर ने मेरी रुचि के अनुरूप विषय चयन के सम्बन्ध में अपना बहुमूल्य मार्गदर्शन तो दिया ही साथ ही सम्पूर्ण शोध-कार्य के दौरान शोध सम्बधी उत्पन्न सभी जिज्ञासाओं का यथोचित समन करते हुए शोध को कैसे उचित दिशा में आगे बढ़ा सकूँ, इसके निमित्त सतत प्रेरित भी किया। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह मुझमें ऐसी पात्रता दे कि आदरणीय गुरुवर का स्नेहिल मार्गदर्शन ताउम्र ऐसे ही प्राप्त होता रहे।

विभाग द्वारा निर्धारित मेरी शोध सलाहकार समिति के सदस्य आदरणीय प्रो. एम. अन्जनेयुलु तथा डॉ. जे. आत्माराम सर के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मेरे शोध प्रबन्ध के प्रत्येक अध्यायों का अन्वीक्षण कर कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये, जिनको शामिल कर मुझे अपने शोध-कार्य को उचित दिशा देने में मदद मिली। मैं अपनी विभागाध्यक्षा प्रो. सी. अन्नपूर्णा मैम तथा प्रो. आर. एस. सर्राजू, प्रो. रविरंजन, डॉ. प्रकाश कृष्णा कोपार्डे व डॉ. भीम सिंह मीणा सर का आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों के माध्यम से मेरा पथ प्रदर्शन किया।

मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तेलंगाना प्रान्त के प्रांत प्रचारक आदरणीय लिंगम श्रीधर जी तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तेलंगाना प्रांत कार्यालय प्रभारी आदरणीय नीलम रेड्डी जी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने न केवल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अखिल भारतीय अधिकारियों व कार्यालय में आने वाले वाले संघ के वरिष्ठ प्रचारकों से मेरी मुलाकात करवा के संघ के बारे में अधिक जानने, समझने का अवसर प्रदान किया, साथ ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रांत कार्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध विपुल संघ-साहित्य का भी उपयोग करने की अनुमति प्रदान की। उनके इस अनुग्रह से मुझे अपने शोध-कार्य के दौरान अत्यन्त सहूलियत मिली। मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रांत प्रीमियर इन्स्टीट्यूट प्रमुख आदरणीय ज्योति शर्मा जी तथा गचीबोली नगर कार्यवाह आदरणीय भारतभूषण जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरे सम्पूर्ण शोध-कार्य के दौरान एक अग्रज, एक मार्गदर्शक की भाँति हर प्रकार की सहायता की।

मैं उच्चशिक्षा की तरफ शायद ही उन्मुख होता अगर पूज्य स्वर्गीय पिताजी का आशीर्वाद न होता। उनकी प्रेरणा तथा उनके द्वारा प्रदान किये गये संस्कारों का ही प्रतिफल है कि आज मैं यहाँ तक पहुँचा हूँ। मेरी इस यात्रा में मेरी दादी अम्मा का असीम आशीर्वाद तथा माँ का ममतामयी दुलार मेरा संबल रहा। मुझे घर की फिक्र से मुक्त रखने के लिए मैं अपने दोनों अग्रजों- श्री राहुल चौधरी तथा महेन्द्र प्रताप चौधरी, भाभी- श्री प्रियंका चौधरी, तथा दोनों छोटी बहनों- आयुषी तथा अनन्या को धन्यवाद कहना चाहता हूँ। मैं कोशिश करूँगा कि आप सबकी अपेक्षाओं पर खरा उतर सकूँ। मैं अपने फूफा श्री अखिलेश चौधरी का आभारी हूँ, जिनके पास मेरी सब प्रकार की जिज्ञासाओं के उत्तर होते हैं और जब भी मैं जीवन के गझिन-गह्वर में फँसा हूँ, आपने सदा मेरा मार्गदर्शन किया है, भविष्य में भी आपसे ऐसे ही स्नेह की कामना है। मैं विभाग के कार्यालय प्रभारी श्री राजेश जी तथा श्री प्रदीप जी, व विगत पाँच वर्षों में बने हैदराबाद विश्वविद्यालय परिवार के सभी संघी-साथियों के प्रति तथा उन सब के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरे शोध-कार्य के दौरान सहायता की।

प्रथम अध्याय

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : परिचय

- 1.1 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की पृष्ठभूमि
- 1.2उन्नीसवीं सदी के हिन्दू धर्म सुधार आन्दोलनों का सातत्य: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ
- 1.3 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : नामकरण और अर्थ
- 1.4 संघ परिवार का संगठनात्मक स्वरूप
- 1.5 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की संगठनात्मक संरचना
- 1.6 संघ की शाखा
- 1.7 भगवा ध्वज
- 1.8 गुरु-दक्षिणा
- 1.9 गणवेश
- 1.10 प्रार्थना
- 1.11 प्रतिज्ञा
- 1.12 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्सव

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : परिचय

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वर्ष 2025 ई. में अपनी स्थापना के 100 वर्ष पूरे कर लेगा। जब देश में स्वतंत्रता आन्दोलन अपने चरम की ओर तेजी से पहुँच रहा था, उसी समय राष्ट्र प्रथम की अवधारणा के साथ एक संगठन का जन्म हुआ, उस संगठन का नाम 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' है। जिसे संक्षिप्त रूप में 'संघ' के नाम से भी जाना जाता है। संघ की स्थापना 27 सितंबर 1925 को विजयादशमी के दिन डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार के नेतृत्व में हुई। साल 1925 से चली अपनी लंबी यात्रा में संघ आज देश के शीर्ष और प्रभावी स्वयंसेवी संगठन के रूप में उभरा है। करीब 100 वर्षों के कालखंड में काफी उतार-चढ़ाव से संघ को गुजरना पड़ा, लेकिन संघ ने समाज के सभी वर्गों से व्यक्तिगत सम्पर्क और संवाद की अपनी अनोखी कार्य पद्धति के कारण बड़ी से बड़ी चुनौतियों का सामना अत्यन्त शांतिपूर्ण ढंग से किया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आज विश्व के 50 से अधिक देशों में सक्रिय है। अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा द्वारा वर्ष 2024 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की वर्तमान कार्य-स्थिति के बारे में बताया गया है कि- "वर्ष 2024 में देशभर में 45,600 स्थानों पर 73,117 शाखा, 27,717 साप्ताहिक मिलन व 10,567 संघ मण्डली चल रही है।"[1]

1.1- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की पृष्ठभूमि-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार मूलगामी चिन्तक थे। भारतवर्ष के इतिहास, वर्तमान एवं भविष्य को जोड़कर उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के मूल प्रश्न पर गहन चिंतन किया था। व.ण. शेंडे डॉ. हेडगेवार के विषय में लिखते हैं कि- "1915 से 1924 तक के उनकी आयु के दस वर्ष, देश में होने वाले विभिन्न आंदोलनों एवं संस्थाओं का अभ्यास पूर्वक सूक्ष्म अवलोकन एवं विश्लेषण करने तथा राष्ट्र को ग्रसित करने वाले रोग का अचूक निदान खोज निकालने में व्यतीत हो गये।"[2] डॉ. हेडगेवार सदैव इस बात के लिए सोचते रहते थे कि हमारे देश का अतीत इतना गौरवशाली रहा है फिर हमारी यह अधोगति आखिर हुई कैसे ? हमारी मातृभूमि, भारत-भूमि केवल क्षेत्रफल, आबादी, सौन्दर्य-सृष्टि, खनिज-सम्पदा आदि में ही नहीं अपितु तत्व ज्ञान, धर्म, संस्कृति, इतिहास, पराक्रम, विद्या तथा कला-कौशल आदि में से किसी एक में भी आज से पूर्व कभी भी विश्व में किसी से पीछे न तो थी, न ही आज है। इतना होते हुए भी कौन-सी ऐसी बात है कि यह हमारा गौरवशाली राष्ट्र सतत अधोगति की ओर ही

---

[1] ABPS Annual Report 2024 https://www.rss.org/hindi/Encyc/2024/3/15/ABPS-Annual-Report.amp.html

[2] परम पूजनीय डॉ. हेडगेवार- व.ण. शेंडे, पृष्ठ संख्या-11

अग्रसर है ? यह कसक प्रतिपल डॉ. हेडगेवार के मन को बेधा करती थी। राष्ट्र को इस स्थिति से उबारने के लिए वे सतत चिन्तनशील व प्रयत्नशील रहते थे। डॉ. हेडगेवार का मानना था कि राजनीतिक जीवन में व्याप्त मूल्य-रहित व्यवहार, पद एवं प्रतिष्ठा के लिए राष्ट्रीय हितों का बलिदान एवं व्यक्ति, सम्प्रदाय, धर्म एवं राजनीतिक दलों के सामने राष्ट्र को गौण समझने की प्रवृत्ति भारतीय जीवन की ऐसी बुराई है, जिससे राष्ट्र पतन की ओर बढ़ रहा है। उनका मानना था कि भाषणों, अपीलों अथवा अपेक्षाओं से राष्ट्र सबल नहीं हो सकता। इसके लिए निरन्तर राष्ट्रीयता, देशभक्ति, सामूहिकता, सामाजिक संवेदनशीलता एवं एकता के भाव का संचार होना जरूरी है। वे मानते थे कि 'व्यक्ति' राष्ट्र का प्राथमिक घटक है, इसलिए जब तक उसके मन में देश-प्रेम की प्राञ्जल भावना का प्रस्फुटन नहीं होगा तब तक विशुद्ध राष्ट्रीयता की कल्पना असम्भव है। व्यक्ति-निर्माण के माध्यम से ही राष्ट्र-निर्माण सम्भव होगा। डॉ. राकेश सिन्हा लिखते हैं- "स्वामी विवेकानन्द सहित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के सभी विशिष्ट चिंतकों, महान भारतीय चिंतन परम्परा और ज्ञान के होते हुए भी राष्ट्र में संकीर्णताओं एवं कृत्रिम विभाजनों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय भावना का अभाव था। चिंतक व सिद्धान्तकार थे, चिंतन व सिद्धान्त था, इतिहास एवं परम्पराएँ थीं, भविष्य की कल्पनाएँ थीं, परन्तु इन सबको एक सूत्र में पिरोकर एक स्वर प्रदान करने वाला संगठन नहीं था। डॉ. हेडगेवार ने राष्ट्रीय जीवन की इसी कमी की पहचान कर उसे पूरा करने का जो व्रत लिया था- 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' की स्थापना उसी का परिणाम थी।"[1]

डॉ. हेडगेवार ने 1925 ई0 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना से पहले भी हिन्दू संगठन के निमित्त कई प्रयत्न किये थे। उनका मानना था कि हम सिर्फ स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं जबकि यदि हमें स्वतंत्रता मिल भी जाये तो क्या हमारा समाज इस स्थिति में है कि वह यथोचित ढंग से स्वतंत्रता का स्वीकार कर सके, यही कारण था कि वे स्वाधीनता के निमित्त 'योग्य समाज मन' का निर्माण करना चाहते थे, जिससे स्वाधीनता प्राप्ति का मार्ग स्वतः सुगम हो जाता। संघ के वर्तमान सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी कहते हैं कि- "डॉ. हेडगेवार ने संघ की स्थापना के पूर्व प्रयोग किये। लगभग सात-आठ वर्ष तक यह कैसे हो सकता है, इसके प्रयोग किये। प्रशिक्षण में क्या कार्यक्रम हो सकते हैं, इसके प्रयोग किये। अनेक संस्थाएँ चल रहीं थीं उनके काम देखे, उसमें से कुछ लेकर प्रयोग करने का प्रयास किया, कुछ अपने मन से सोचा प्रशिक्षण देने वाले कुछ मण्डल चलाये, उन्होंने वर्धा में एक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक

[1] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा , पृष्ठ संख्या- 75

मण्डल' भी चलाया था। संघ के वर्तमान नाम के दो शब्द (राष्ट्रीय तथा स्वयंसेवक) संघ की स्थापना के तीन-चार वर्ष पहले ही उन्होंने उपयोग किये थे। ये सारे प्रयोग करके अपने समाज को खड़ा करने की एक पद्धति उन्होंने विकसित की और 27 सितम्बर 1925, दिन-शुक्रवार, विजयादशमी को नागपुर में उन्होंने घोषणा की कि यह काम आज से शुरू हो रहा है।..... इतना ही बताया कि यह काम अभी शुरू हो रहा है और कुछ नहीं बताया। बाकी सब प्रयोग करके विकसित हुआ है।"[1] संघ स्थापना के पूर्व डॉ. हेडगेवार ने तत्कालीन लगभग सभी प्रमुख हिन्दू राष्ट्रवादियों से मिलकर विमर्श किया था। जनवरी 1925 ई0 में मध्यप्रान्त कांग्रेस समिति की ओर से स्वामी सत्यदेव का प्रांत में दौरा हुआ था। इस पूरे दौर में डॉ. हेडगेवार उनके साथ थे। उस दौरान स्वामी सत्यदेव ने हिन्दू संगठन की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा था- "यह मानना बिलकुल गलत होगा कि हिन्दू संगठन मुसलमानों के विरुद्ध है। हिंदुस्थान हमारा सब कुछ है, यह निष्ठा और बलवती करने के लिए एक हिन्दू संगठन की आवश्यकता है।"[2] बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दो-ढाई दशकों के विभिन्न घटनाचक्रों बीच जब संघ की स्थापना की गयी तब डॉ. हेडगेवार के मन में 'हिन्दू सुरक्षा बल' बनाने अथवा हिन्दू राजनीति के लिए स्वयंसेवकों की फ़ौज बनाने जैसी बातें नहीं थीं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे हिन्दू महासभा के माध्यम से ही ये सब कार्य कर सकते थे। उन्हें महासभा में सम्मानित स्थान प्राप्त था। मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया। डॉ. हेडगेवार एक दूर-दृष्टा चिंतक थे। वह जानते थे कि हालाँकि साम्प्रदायिक घटनाओं, का प्रतिरोध होना तथा हिन्दू हितों पर हो रहे हमले के विरुद्ध राजनीतिक स्वर उठाना आवश्यक है, और हिन्दू महासभा अपने स्तर पर इन दायित्वों का निर्वहन कर रही है; परन्तु यह इस राष्ट्रीय समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। हिन्दू महासभा जिस प्रकार के संगठन की अपील करती थी, वह क्षणिक आवेश और भावनाओं से प्रेरित थी। कोई भी कार्य हो जो सिर्फ और सिर्फ प्रतिक्रिया के आधार पर प्रारम्भ होता है, वह उस प्रतिक्रिया के समाप्त होने पर विलुप्त हो जाता है। डॉ. हेडगेवार के मन में हिन्दू संगठन के सकारात्मक, स्थायी, प्रगतिशील एवं सर्वव्यापी स्वरूप की छवि थी। यही कारण है कि डॉ. हेडगेवार समकालीन विभिन्न हिन्दू संगठनों की उपयोगिता अथवा न्यूनताओं के चक्रव्यूह से अलग हटकर एक नूतन पहल के वाहक बने। 'RSS And Hindu Nationalism: Inroads In A leftist Stronghold' नामक पुस्तक में लेखक के. जयाप्रसाद लिखते हैं कि- "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म किसी प्रतिक्रिया या उत्तेजना का प्रतिफल नहीं था, कि यदि उस उत्तेजना या प्रतिक्रिया के जीवनरस को हटा दिया जाये तो वह निर्जीव हो जाये।..... यह

---

[1] भारत का भविष्य – राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण, डॉ. मोहनराव भागवत, पृष्ठ संख्या- 19

[2] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा , पृष्ठ संख्या- 76

संगठन व्यक्तिगत लाभ या किसी क्षेत्रीय, भाषाई या साम्प्रदायिक हितों की सेवा करने की इच्छा से पैदा नहीं हुआ था; अपितु इसके विपरीत यह इतिहास की भावना का सहज उठान था।"[1]

सतही तौर पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार को उनके समकालीन विभिन्न हिन्दू नेताओं की शृंखला की एक कड़ी के रूप में देखा जाता रहा है। मगर डॉ. हेडगेवार अपने समकालीनों से कई मायनों में विलग एवं विलक्षण थे। उनकी दृष्टि तथा दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से तत्कालीन हिन्दू चिंतकों से भिन्न थे।[2] डॉ. हेडगेवार ने हिन्दू समाज, संस्कृति एवं धर्म को सभ्यता के प्रवाह का अंग माना। वे मानते थे कि हिन्दू संगठन राष्ट्रीयता को सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में स्थायी, गतिमान और ठोस आधार प्रदान करने का उपकरण मात्र है। वे हिन्दुओं के संगठन के कार्य को 'राष्ट्रीय कार्य' की संज्ञा देते थे। इसीलिए संघ की स्थापना के समय उन्होंने कहा था कि- "संघ का कार्य तथा उसकी विचारधारा हमारा कोई नया आविष्कार नहीं है। हमारा परम पवित्र सनातन हिन्दू धर्म, हमारी पुरातन संस्कृति, हमारा स्वयंसिद्ध हिन्दू राष्ट्र तथा अनादिकाल से चला आया परम पवित्र भगवा ध्वज- ये सभी बातें संघ ने पूर्ववत् सबके सामने रखी हैं। इन सभी पूर्वोक्त बातों में नवचैतन्य का संचार करने के लिए परिस्थिति के अनुकूल जो कोई कार्य-प्रणाली संघ को आवश्यक प्रतीत होगी, उसे संघ अंगीकृत करेगा।"[3]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना के समय डॉ. हेडगेवार के अन्तर्मन में दो बातें स्पष्ट थीं- पहली यह कि वर्तमान हिन्दू समाज की दीन-हीन, दुर्बल स्थिति का सारा ठीकरा बाह्य कारकों एवं कारणों पर फोड़ना, वस्तुस्थिति से मुँह मोड़ना है; दूसरी बात यह कि- प्रभुत्व आन्तरिक शक्ति और इच्छाशक्ति से स्थापित होता है। इसका निदान है- हिन्दुओं के बीच अनवरत राष्ट्रीयता के भाव से संगठन करना। संगठन का पहला काम राष्ट्रीयता की चेतना के आधार पर हिन्दुओं में उनके ऐतिहासिक समुदाय की भूमिका को, जो उनके अवचेतन मन में विद्यमान है, जाग्रत करना है। डॉ.

---

[1] RSS And Hindu Nationalism : Indroads In A Leftist Stronghold- K. Jayaprasad, Peg. No. 58-59

[2] डॉ. राकेश सिन्हा लिखते हैं कि – यू.एन. मुखर्जी-लालचंद (1909) (यू.एन. मुखर्जी बंगाल के रहने वाले थे, उन्होंने हिन्दुओं के सम्बन्ध में 'डाइंग रेस' अर्थात् 'मरणासन्न जाति का सिद्धान्त' (1909 ई.) प्रतिपादित किया था, दूसरे लालचंद जी पंजाब के प्रसिद्ध आर्य-समाजी नेता थे, इन्होंने वर्ष 1909 में 'द पंजाबी' अखबार में 'राजनीति से आत्मनिषेध' शीर्षक से आलेखों की एक शृंखला लिखी थी।) से लेकर मालवीय-सावरकर (1923) तक के हिन्दू चिंतन एवं गतिविधियों से डॉ. हेडगेवार कितने सहमत अथवा असहमत थे, यह कहना आसान नहीं है। संघ के संदर्भ में हुए अध्ययनों में उन्हें इसी परम्परा का हिस्सा बताया जाता रहा है। यह हिन्दू चिंतन प्रक्रिया को परखने, परिभाषित करने और अखडित स्वरूप में देखने का आसान, सुलभ और सतही तरीका है। ऐसा होने का एक कारण सम्भवतः यह भी है कि डॉ. हेडगेवार ने सार्वजनिक अथवा निजी स्तरों पर कभी भी समकालीन हिन्दू राष्ट्रवादी धाराओं, संगठनों अथवा नेतृत्व की न्यूनताओं के प्रति अपनी असहमति नहीं प्रकट की, न ही कभी वे नेतृत्व की प्रतिस्पर्धा अथवा समांतर सिद्धांत निरूपण के नायक बने।"(आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या- 83)

[3] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या- 83-84

हेडगेवार की दृष्टि, दूर-दृष्टि से युक्त तो थी ही, उसमें सर्वग्राह्यता का भी गुण था। जैसा कि पूर्व में भी उल्लिखित किया गया है कि संघ की स्थापना उन्होंने किसी तत्कालीन घटना की प्रतिक्रिया में न करके राष्ट्र धर्म के सकारात्मक पहलू के आधार पर की थी। डॉ. हेडगेवार ने कहा था कि- "आज हमारे हिंदुस्थान में हिन्दू पच्चीस करोड़ हैं। इस देश की कुल जनसंख्या पैंतीस करोड़ आई कहाँ से ? ये दस करोड़ लोग किसी समय हम में ही थे।" इसके बाद उन्होंने जो सवाल उठाया, वह उनकी विजनरी सोच, स्थितप्रज्ञता एवं व्यापक सैद्धांतिक धरातल का सूचक है। वे सवाल करते हैं- "उन्हें हमने क्यों खो दिया ? हम गहरी नींद में सो रहे थे। इसीलिए तो वे हममें से दूर चले गये।"[1] डॉ. हेडगेवार का यह आत्मालोचन समकालीन हिन्दू राष्ट्रवादी चिंतन, मनन एवं मंथन में बिलकुल अलहदे धरातल पर था। संघ का मूल मंत्र वैचारिक क्रियाशीलता है। वह कोई जड़ संगठन नहीं है। जो भी युगानुकूल है उसके अनुसार स्वयं को परिवर्तित करते हुए पारम्परिक ज्ञान-परम्परा की उँगली थामे हुए राष्ट्र को परमवैभवी बनाने के लिए सतत क्रियाशील रहना ही इसका ध्येय है। इस प्रकार डॉ. हेडगेवार ने तद्युगीन विविध हिन्दू समाज संगठन के प्रयासों के मध्य अपना एक अलहदा मौलिक संगठन हिन्दू समाज को एक करने के लिए खड़ा किया। 1925 में डॉ. हेडगेवार द्वारा रोपित वह बीज आज वट-वृक्ष का रूप ले चुका है और समाज संगठन के कार्य को यशस्वी बनाने में पूरी तन्मयता से सन्नद्ध है।

1.2- उन्नीसवीं सदी के हिन्दू धर्म सुधार आन्दोलनों का सातत्य : राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-

उन्नीसवीं सदी में विभिन्न समाज सुधारकों ने सामाजिक-सांस्कृतिक सुधारों के द्वारा हिन्दू समाज एवं धर्म को सुदृढ़ एवं सुगठित करने का प्रयास किया था। इसमे कुछ नाम जिन्होंने विभिन्न संगठनों, संस्थाओं की स्थापना करके इस दिशा में प्रयास किया था उनमें- राजा राममोहन राय (ब्रम्ह समाज, 1828 ई.), स्वामी दयानन्द सरस्वती (आर्य समाज, 1875 ई.), और स्वामी विवेकानन्द (रामकृष्ण मिशन, 1897 ई.) प्रमुख हैं। मूलत: हिन्दू समाज सुधार की प्रक्रिया से सम्बद्ध रहने के कारण इन संगठनों एवं सुधारकों ने औपनिवेशिक शासन के दौरान तत्कालीन राजनीतिक परिवेश एवं राष्ट्रीय चेतना को भी प्रभावित किया। हिन्दुओं से सम्बन्धित कोई भी आन्दोलन एकांगी हो ही नहीं सकता क्योंकि आधुनिक राष्ट्र/राज्य से हिन्दुओं का सम्बंध सिर्फ एक नागरिक के रूप में नहीं है, बल्कि भारतीय राष्ट्र जिस सभ्यता-संस्कृति एवं विश्वबोध को प्रतिदिन ओढ़ता-बिछाता है, उन सबके विकसन की प्रक्रिया से भी है। भारतीय राष्ट्र की अन्य राष्ट्रों से भिन्नता भी इसी रूप में है। यह किसी सभ्यता अथवा सांस्कृतिक चेतना का हिस्सा न

[1] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या- 84-85

होकर अपनी सभ्यता और संस्कृति से एकात्म रूप से जुड़ा हुआ है। डॉ. राकेश सिन्हा के अनुसार- "भारतीय सभ्यता एवं भारतीय राष्ट्र एक-दूसरे पर अवलंबित हैं, अतः इस राष्ट्र पर चोट सभ्यता पर प्रहार है एवं इस सभ्यता पर प्रश्न खड़ा करने का अर्थ भारत की राष्ट्रीयता के अस्तित्व पर प्रश्न खड़ा करना है।"[1] उन्नीसवीं सदी के सुधार आन्दोलनों का सबसे अधिक प्रभाव हिन्दू समाज पर ही पड़ा इसीलिए उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण काल को हिन्दू पुनर्जागरण काल की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। राजा राम मोहन राय जिन्हें 'भारतीय पुनर्जागरण का पिता' कहा जाता है, उन्होंने भी हिन्दू समाज एवं धर्म को ही अपने सुधार कार्यक्रमों की प्रयोगशाला बनाया था। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार का यह अधिष्ठान कि- हिन्दू संगठन का कार्य राष्ट्रीय कार्य है, राजा राममोहन राय की परम्परा का घोतक है। डॉ. हेडगेवार का स्पष्ट मत था कि- "हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है।"[2] उन्होंने संघ की स्थापना के उद्देश्य को सामने रखते हुए कहा था कि- "स्वयंप्रेरणा से एवं स्वयंस्फूर्ति से राष्ट्र सेवा का बीड़ा उठाने वाले व्यक्तियों का केवल राष्ट्रकार्यार्थ निर्मित संघ ही 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' है। प्रत्येक राष्ट्र में उस राष्ट्र के व्यक्ति अपने देश की सेवा करने के लिए ऐसे ही संघ का निर्माण करते हैं। यही हमारा प्रियतम राष्ट्र अर्थात् हिन्दुस्थान हमारा कार्यक्षेत्र रहने के नाते उसी के हित रक्षणार्थ हमने इस देश में संघ स्थापित किया है तथा इसी संघ के आधार पर हमने राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति करने का निश्चय किया है।"[3]

1.3- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : नामकरण और अर्थ-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शुरूआत अपने आप में एक असाधारण तरीके से हुई। डॉ. राकेश सिन्हा, केशव बलिराम हेडगेवार की जीवनी 'आधुनिक भारत के निर्माता' में लिखते हैं कि- "न तो नए संगठन बनने की सूचना या विज्ञप्ति समाचार पत्रों में दी गयी, न ही लिखित रूप से उद्देश्यों को घोषित किया गया। यहाँ तक कि संगठन बन गया पर छह महीने तक उसका नामकरण भी नहीं हुआ। संगठन में पदों अथवा संगठन की संरचना का भी निर्माण संगठन के विस्तार के साथ-साथ होता गया। दिनांक 17 अप्रैल 1926 को संघ का नामकरण हुआ। अतः यह स्वाभाविक ही था

[1] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या- 77
[2] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या- 78
[3] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या- 78

कि संघ की स्थापना नागपुर के व्यस्त सामाजिक-राजनीतिक जीवन के लिए कोई हलचल मचाने वाली तो दूर, ध्यान केन्द्रित करने वाली भी घटना नहीं थी। डॉ. हेडगेवार ने इसे प्रचार-प्रसार के ताम-झाम से जानबूझकर दूर रखा था।"[1]

अपने संगठन का नाम क्या हो ? इस सम्बन्ध में संघ की शाखाओं में स्वयंसेवकों के साथ डॉ. हेडगेवार ने विचार-विमर्श किया। शाखा में उपस्थित सभी स्वयंसेवकों को अपने संगठन का नाम सुझाने और वह नाम क्यों उचित रहेगा- यह खुले दिल से बताने की छूट थी। एक स्वयंसेवक ने संगठन का नाम 'शिवाजी संघ' सुझाया और इस नाम के समर्थन में उसने कहा कि छत्रपति शिवाजी महाराज ने जिस काल में स्वराज्य की स्थापना की, उस समय जो परिस्थिति थी, वैसी ही परिस्थिति आज भी भारत में विद्यमान है। शिवाजी ने जिस प्रकार स्वराज्य स्थापना का उपक्रम हाथों में लिया, अपने कार्य का स्वरूप भी वैसा ही है। भारत को स्वतंत्र करने के लिए हमें भी अथक परिश्रम करने पड़ेंगे- इस कार्य में शिवाजी महाराज हमारे आदर्श हैं। इसलिए यही नाम सर्वाधिक उचित रहेगा। एक अन्य स्वयंसेवक ने 'जरीपटका मण्डल' नाम सुझाया। इस नाम के समर्थन में उस स्वयंसेवक ने कहा कि- यह सही है कि समर्थगुरु स्वामी रामदास और छत्रपति शिवाजी ने ज़ुल्म ढाने वाली बर्बर यवनी सत्ता को नष्ट कर स्वराज्य की स्थापना की, यही कार्य हमें भी करना है। किन्तु भारत के अन्य प्रान्तों में भी परकीय सत्ता को नष्ट करने के प्रयास हुए। महाराष्ट्र में समर्थगुरु रामदास और छत्रपति शिवाजी ने जो कार्य किया- वही कार्य पंजाब में गुरु गोविंद सिंह जी ने किया। अपना कार्य देशव्यापी होने के कारण केवल एक महान नेता का ही उल्लेख संगठन के नाम में करना उचित नहीं होगा। इसकी अपेक्षा उन्हें प्रेरणा देने वाले जिस जरीपटका ध्वज के प्रभाव से परकीय सत्ता नष्ट हुई, वह नाम उपयुक्त रहेगा। इस दृष्टि से 'जरीपटका मण्डल' नाम अच्छा है। एक और स्वयंसेवक ने 'हिन्दू स्वयंसेवक संघ' इस नाम को सर्वोत्तम बताते हुए कहा कि हमारा यह हिन्दुओं का संगठन है। इस कारण 'हिन्दू स्वयंसेवक संघ' नाम ही युक्ति संगत होगा। इसके बाद पा.कृ. सावळापुरकर नाम के एक स्वयंसेवक ने संगठन का नाम 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' सुझाया और कहा कि- हमारा कार्य राष्ट्रीय है। इस कार्य में, हमारा यह प्रयास है कि स्वयं प्रेरणा से, निरपेक्ष भावना से देश कार्य करने वाले कार्यकर्ता तैयार किये जायें। इस कारण 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' ही सभी दृष्टि से युक्ति संगत और उचित नाम होगा। उपस्थित अधिकतम स्वयंसेवकों ने भी इसी नाम पर सहमति जताई और इस प्रकार- "वर्ष 1926 ई. के अप्रैल माह में रामनवमी के पूर्व, एक अभिनव पद्धति से संघ का नामकरण हुआ और वह भी संघ शाखा शुरू होने के छः माह बाद !

[1] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या – 76

कार्य पहले शुरू हुआ और नामकरण बाद में हुआ एक तरह से यह सृष्टि के नियमानुसार ही हुआ। जन्म होने के बाद ही शिशु का नामकरण होता है- संघ के बारे में भी यही हुआ।"[1]

'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' नाम तीन शब्दों का समुच्चय है –

(क) राष्ट्रीय (ख) स्वयंसेवक (ग) संघ

'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' नाम में प्रयुक्त पहले शब्द 'राष्ट्रीय' का मतलब है- जिसकी अपने देश, उसकी परम्पराओं, उसके महापुरुषों, उसकी सुरक्षा एवं समृद्धि के प्रति अव्यभिचारी एवं एकान्तिक निष्ठा हो, जो देश के साथ पूर्णरूप से भावनात्मक मूल्यों से जुड़ा हो अर्थात् जिसको सुख-दु:ख, हार-जीत व शत्रु-मित्र की समान अनुभूति हो वह 'राष्ट्रीय' कहलाता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विभिन्न विचारकों का मानना है कि- "अपने देश में राष्ट्रीयता हेतु सभी आवश्यक तत्वों की पूर्ति हिन्दू समाज के जीवन में हो जाती है। अतः हिन्दू समाज का जीवन, राष्ट्रीय जीवन है। संघ का यह भी मानना है कि व्यवहारिक रूप से राष्ट्रीय, भारतीय तथा हिन्दू शब्द पर्यायवाची हैं।"[2]

'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' नाम में प्रयुक्त दूसरे शब्द 'स्वयंसेवक' के निहितार्थ की बात करें तो- स्वयं प्रेरणा से राष्ट्र, समाज, देश, धर्म तथा संस्कृति की सेवा करने वाले व उसकी रक्षा कर उसकी अभिवृद्धि के लिए प्रमाणिकता तथा निःस्वार्थ बुद्धि से कार्य करने वाले (कार्यकर्ता) को 'स्वयंसेवक' कहते हैं। डॉ. हेडगेवार के अनुसार- " स्वयंसेवक का अर्थ राष्ट्र सेवा के लिए स्वयं प्रेरणा से अग्रसर लोग।"[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे 'श्री गुरुजी' ने स्वयंसेवक को निःस्वार्थ रूप से देश की सेवा करने वाला कहा है। उन्होंने कहा कि समाज में इनका (स्वयंसेवक का) व्यक्तित्व ऐसा हो कि लोग उनके बारे में कहें कि- यह व्यक्ति विश्वास करने योग्य है, उसमें समाज के प्रति निष्कपट, नि:स्वार्थ प्रेम है। श्री गुरुजी ने एक स्वयंसेवक के गुणों की चर्चा भी विस्तार से की है-

[1] संघ कार्यपद्धति का विकास – बापूराव वन्हापांडे (RSS ARCHIVE) https://www.archivesofrss.org/

[2] विषय बिन्दु– शरद प्रकाशन-आगरा, पृष्ठ संख्या– 15

[3] केशव : राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ निर्माता – सी.पी.भिशीकर, पृष्ठ संख्या – 36

- "जो नि:संग एवं निर्लेप है, जिसमें अहंकार नहीं है, जो धैर्यवान है, जिसके मन में आकांक्षा और उत्साह है, उसी प्रकार कर्म की सफलता या असफलता से अथवा हानि-लाभ से जो विचलित नहीं होता उसे ही हमारे यहाँ (संघ में) सात्विक कार्यकर्ता अर्थात स्वयंसेवक कहा गया है।"[1]

- "उत्तम कार्य करने का अर्थ है, हम जनता के विश्वास-भाजन बनें। हमारा आचरण शुद्ध हो, तभी जनता हमारा विश्वास करेगी। हमारा व्यक्तिगत जीवन इतना निष्कलंक हो कि किसी के भी मन में सपने में भी हमारे प्रति कोई संदेह-निर्माण नहीं होना चाहिए। एक समय था जब हमारा यह समाज शील एवं चरित्र से संपन्न था। आज भी ग्रामीण प्रदेश में हमें इस सत् शीलता के अनेक उदाहरण देखने को मिल जाते हैं।"[2]
- "ध्येय के साथ हम जितना एकरूप होंगे, उठते-बैठते, सोते-जागते, सदा हमारे अंतःकरण में अपने जीवन के इसी ध्येय का स्पंदन चलता रहेगा तो हमारे शब्दों में सामर्थ्य आयेगा। हम जिनसे बात करेंगे वे हमारी बात मानेंगे। जिसे हम कुछ करने के लिए कहेंगे, वह उसे करने के लिए तैयार हो जायेगा। किसी के सामने हम अपना सिद्धान्त रखेंगे, तो वह उस सिद्धान्त को स्वीकार करेगा। हमने लाख कहा, किन्तु हमारे सम्मुख जो बैठा है वह हमारे सिद्धान्त को मान्य न करता हो, तो उसका अर्थ यह लेना चाहिए कि हमारी तपस्या कम पड़ी है, उसे बढ़ाना होगा। अपना ध्येय चिंतन कुछ कम पड़ गया है, दुर्बल हो गया है, उसे तेजस्वी और बलवान बनाना होगा। इस बात को हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। दूसरों को दोष न देकर हमारे अंदर किस बात की त्रुटि है, इसका विचार करना चाहिए।"[3]
- हमारी वाणी मधुर हो। सत्य और अच्छा किन्तु मधुर बोलना चाहिए। कटु सत्य नहीं बोलना चाहिए। यह नहीं कहना चाहिए कि मैं बहुत अक्खड़ आदमी हूँ और उद्दंड बातें करूँगा। सत्य तो बोलना चाहिए, किन्तु उसे ऐसे मीठे शब्दों में बोलना चाहिए कि सुनने वाले के ह्रदय में कोई चोट न पहुँचे और वह उस सत्य को सुन भी ले।

इस प्रकार जो स्वयं प्रेरणा से, बिना किसी प्रतिफल या पुरस्कार की इच्छा के, अनुशासनपूर्वक, निर्धारित पद्धति से, निरंतर व योजनाबद्ध रूप से मातृभूमि की सेवा करे वह 'स्वयंसेवक' है।

---

[1] पं.दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन : भाग- 3 – भालचन्द्र कृष्णाजी केलकर, पृष्ठ संख्या- 19

[2] श्री गुरूजी : समग्र दर्शन, खण्ड- 5, पृष्ठ संख्या- 53

[3] पं. दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग- 3 – भालचन्द्र कृष्णाजी केलकर, पृष्ठ संख्या- 19

‘राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ’ नाम में प्रयुक्त तीसरे शब्द ‘संघ’ का शाब्दिक अर्थ- संगठन या समुदाय होता है। समान विचार वाले, समान लक्ष्य को समर्पित, परस्पर आत्मीय भाव वाले व्यक्ति के निकट आने से संगठन बनता है। ये सभी एक ही पद्धति, रीति व पूर्ण समर्पण भाव से कार्य करते हैं। इस प्रकार ‘राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ’ राष्ट्र के प्रति समर्पण, त्याग और सेवा की भावना से ओत-प्रोत संगठन है।

1.4- संघ परिवार का संगठनात्मक स्वरूप-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को समझने के लिए उसके विस्तृत संगठनात्मक ढांचे के बारे में जानना आवश्यक है। सामान्यतया राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और इसके अनुषंगी संगठनों को मिलाकर ‘संघ परिवार’ कहा जाता है। अपनी स्थापना के प्रारंभिक दो दशकों तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने एकल संगठन के रूप में काम किया। उस समय पूरा जोर इस बात पर था कि किस तरह देश के कोने-कोने तक स्वयंसेवकों के दैनिक एकत्रीकरण वाली शाखाएं फैलाई जायें और संगठन की जड़ें मजबूत की जायें। ‘संघ परिवार’ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा विभिन्न अग्रणी व प्रमुख संगठन शामिल हैं, जो विविध प्रकार के क्षेत्रों में सक्रिय हैं जैसे- शिक्षा, शहरी मलिनबस्ती क्षेत्र, आदिवासी, श्रम, कृषि, शिक्षक, छात्र, कला एवं संस्कृति आदि। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अलावा ‘संघ परिवार’ के अग्रणी संगठनों में कुछ प्रमुख नाम हैं- राष्ट्रीय सेविका समिति, वनवासी कल्याण आश्रम, सेवा भारती, संस्कार भारती, संस्कृत भारती, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, भारतीय मजदूर संघ, भारतीय किसान संघ, विद्या भारती, विश्व हिन्दू परिषद, प्रज्ञा भारती आदि। वस्तुतः आज उपभोक्ता अधिकारों से लेकर अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों तक ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कोई अग्रणी संगठन कार्य न करता हो।

तकनीकी तौर पर संघ के सभी प्रमुख संगठन स्वायत्त संगठन हैं। उन सब का अपना ऐसा अलग संगठनात्मक ढांचा है, जो संघ के संगठनात्मक ढांचे का प्रतिरूप नहीं है। संघ के पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं (प्रचारकों) को इन संगठनों में विभिन्न स्तरों पर काम करने के लिए प्रतिनियुक्त किया जाता है।

1.5- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की संगठनात्मक संरचना-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संगठनात्मक पिरामिड के आधार में ‘शाखा’ होती है। 3 से 10 शाखाओं को मिलाकर एक ‘मण्डल’ बनता है। आमतौर पर 5 से 10 मण्डलों को मिलाकर संघ की ‘नगर इकाई’ बनती है। 5 से 10 नगर

इकाइयों को मिलाकर 'जिला इकाई' कहा जाता है। यानी संघ की जिला इकाई में कम से कम 75 और अधिकतम 100 शाखाएं हो सकती हैं। कुछ जिलों को मिलाकर 'विभाग' बनता है। 5 से 15 विभागों को जोड़कर 'संभाग' बनता है। कई संभागों को मिलाकर एक 'प्रान्त' बनता है, तथा कुछ प्रान्तों को मिलाकर 'क्षेत्र' बनता है। प्रत्येक क्षेत्र का अध्यक्ष 'क्षेत्र संघचालक' तथा 'क्षेत्र कार्यवाह' होता है। परवर्ती अधिकारी सभी व्यवहारिक प्रयोजनों से अपने क्षेत्र का वास्तविक अध्यक्ष होता है। 'क्षेत्र संघचालक' विधितः मुखिया या प्रधान होता है। पूरे देश को संघ-दृष्टि से 11 क्षेत्रों में विभाजित किया गया है[1]-

1. दक्षिण क्षेत्र -: केरल, दक्षिणी तमिलनाडु और उत्तर तमिलनाडु
2. दक्षिण-मध्य-क्षेत्र -: दक्षिण कर्नाटक, तेलंगाना, आंध्र प्रदेश, उत्तर कर्नाटक
3. पश्चिम क्षेत्र -: कोंकण, पश्चिम महाराष्ट्र, देवगिरि, विदर्भ और गुजरात
4. मध्य क्षेत्र -: मालवा, मध्य भारत, महाकौशल, छत्तीसगढ़
5. उत्तर-पश्चिम क्षेत्र -: चित्तौड़, जयपुर, जोधपुर
6. उत्तर क्षेत्र -: दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, जम्मू और कश्मीर, हिमाचल प्रदेश
7. पश्चिमी उत्तर प्रदेश -: उत्तराखंड, मेरठ और ब्रज
8. पूर्वी उत्तर प्रदेश -: काशी, गोरक्ष (गोरखपुर), अवध और कानपुर
9. उत्तर-पूर्व-क्षेत्र -: उत्तर बिहार, दक्षिण बिहार, झारखंड
10. पूर्व क्षेत्र -: उत्कल (उड़ीसा), दक्षिण बंगाल, उत्तर बंगाल
11. असम क्षेत्र -: उत्तर असम, अरुणाचल प्रदेश, दक्षिण असम एवं मणिपुर।

देश भर में अपने काम को संघ ने इन्हीं 11 क्षेत्रों में बाँटा हुआ है। इसके अधिकतर प्रमुख संगठन भी इसी भौगोलिक पहचान के दायरे में अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में अनेक प्रान्त आते हैं, प्रत्येक प्रान्त का प्रधान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के व्यवस्था क्रम के अनुसार होता है- 'प्रान्त कार्यवाह' तथा 'प्रान्त संघचालक'। 'प्रान्त कार्यवाह' प्रान्त का वास्तविक (Defecto) प्रधान होता है तथा प्रान्त संघचालक विधितः (Dejure)प्रधान होता है।

[1] विषय बिन्दु, पृष्ठ संख्या- 115-116

प्रान्त कार्यवाह युवा सदस्य होता है तथा अनेक कार्यकलाप संभालता है। प्रान्त संघचालक संरक्षक होता है, लेकिन अधिकांश कार्यों एवं योजनाओं में केंद्रीय भूमिका निभाता है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सभी महत्वपूर्ण निर्णय जिन दो शीर्षस्थ कार्य समितियों में लिए जाते हैं, उनमें से एक को 'अखिल भारतीय कार्यकारिणी' और दूसरी को 'अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा' (राष्ट्रीय प्रतिनिधि परिषद् All India Representative Council) कहा जाता है। इनमें प्रतिनिधि सभा का स्थान सबसे ऊपर है। इसकी बैठक साल में एक बार होती है। तीन या चार दिनों तक चलने वाली प्रतिनिधि सभा की बैठक में संघ के प्रान्त स्तर और इससे ऊपर के पदाधिकारी तो उपस्थित रहते ही हैं, अनुषंगी संगठनों के प्रतिनिधि भी शामिल होते हैं। प्रतिनिधि सभा में संगठन की ताजा स्थिति और चुनौतियों पर विचार किया जाता है। यह संघ के लिए बहुत महत्वपूर्ण अवसर होता है, क्योंकि आगे का रास्ता यहीं से तय होता है। आने वाले वर्ष में संघ कार्य के लिए शीर्ष नेतृत्व का दिशा-निर्देश और संदेश लेकर प्रतिनिधि सभा के सदस्य अपने-अपने कार्य क्षेत्र में लौटते हैं। सभी पदाधिकारी नेतृत्व के संदेश को संगठन में नीचे शाखा स्तर तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं।

अखिल भारतीय कार्यकारिणी के वर्तमान पदेन सदस्य इस प्रकार हैं[1] -

1. सरसंघचालक (संघ प्रमुख)
2. सरकार्यवाह (महासचिव)
3. सह सरकार्यवाह (संयुक्त महासचिव)
4. अखिल भारतीय शारीरिक प्रमुख (शारीरिक अभ्यास के अखिल भारतीय प्रभारी)
5. अखिल भारतीय सह-शारीरिक प्रमुख
6. अखिल भारतीय बौद्धिक प्रमुख (बौद्धिक कार्य-कलापों के अखिल भारतीय प्रभारी)
7. अखिल भारतीय सह-बौद्धिक प्रमुख
8. अखिल भारतीय व्यवस्था प्रमुख (व्यवस्था सम्बन्धी कार्य के अखिल भारतीय प्रभारी)
9. अखिल भारतीय सह-व्यवस्था प्रमुख

[1] जानिए संघ को – अरुण आनन्द , पृष्ठ संख्या -29

10. अखिल भारतीय सेवा प्रमुख (सामाजिक सेवाओं के अखिल भारतीय प्रभारी)

11. अखिल भारतीय सह-सेवा प्रमुख

12. अखिल भारतीय सम्पर्क प्रमुख (जनसम्पर्क के अखिल भारतीय प्रभारी)

13. अखिल भारतीय सह-सम्पर्क प्रमुख

14. अखिल भारतीय प्रचार प्रमुख (मीडिया के अखिल भारतीय प्रभारी)

15. अखिल भारतीय सह-प्रचार प्रमुख

16. अखिल भारतीय प्रचारक प्रमुख (संघ-प्रचारकों के अखिल भारतीय प्रभारी)

17. अखिल भारतीय सह-प्रचारक प्रमुख

1.6- संघ की शाखा-

हिन्दी और संस्कृत में 'शाखा' का अर्थ है- 'वृक्ष की डाली' । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार ने जिस विशाल संगठनरूपी वृक्ष की कल्पना की थी, उस बड़े वृक्ष की रचना में शाखाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण थीं। संघ में शाखा से तात्पर्य किसी खुले मैदान में प्रतिदिन सुबह या शाम को आयोजित होने वाले घंटे भर के नियमित शारीरिक-बौद्धिक कार्यक्रम से होता है । शाखा के प्रारम्भ और समाप्त होने का समय बिलकुल निश्चित होता है । आमतौर पर 'सायंकालीन शाखा' युवाओं और विद्यार्थियों के लिए होती है, जबकि 'प्रभात शाखा' आम तौर पर उन उम्रदराज और कामकाजी लोगों के लिए होती है जो शाम को समय नहीं निकाल सकते।

शाखा के बारे में संघ की अधिकृत धारणा इस प्रकार है- "एक निश्चित समय पर खुले मैदान में भगवा ध्वज फहराया जाता है । वहाँ एकत्र स्वयंसेवक आमतौर पर बिना किसी खेल उपकरण वाले स्वदेशी खेल खेलते हुए व्यायाम करते हैं। घंटे भर की शाखा के दौरान वे मिलकर तरह-तरह के खेल, सूर्य नमस्कार (योगासन) और दण्ड (लाठी) चलाने के अभ्यास आदि से शारीरिक चुस्ती-फुर्ती बनाये रखने का नियमित कार्यक्रम करते हैं। यह सारी गतिविधियाँ पूरी तरह अनुशासित होती हैं। इनमें भाग लेने वाला हर व्यक्ति 'स्वयंसेवक' कहलाता है। यह स्वयंसेवक शाखा के मुख्य शिक्षक द्वारा दिये गये हर निर्देश (कमाँड) का पालन करते हैं। शारीरिक अभ्यास और मनोरंजन के बाद शाखा में एकत्र स्वयंसेवक सामूहिक रूप से राष्ट्रभक्ति के गीत गाते हैं। समसामयिक घटनाओं या देश के गौरवशाली

इतिहास के किसी प्रसंग पर चर्चा की जाती है। इस तरह शाखा में प्रतिदिन शारीरिक और बौद्धिक अभ्यास प्रशिक्षण चलता रहता है। शाखा समाप्त होती है भगवा ध्वज के समक्ष पंक्तिबद्ध खड़े होकर की जाने वाली इस प्रार्थना के साथ- 'नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे......।' वस्तुतः यह प्रार्थना मातृभूमि भारत को प्रणाम निवेदित करती है और इसे गौरवशाली-वैभवशाली राष्ट्र बनाने के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने के स्वयंसेवकों के संकल्प को भावपूर्ण ढंग से व्यक्त करती है।"[1]

दैनिक शाखा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सबल आधार ही नहीं, स्वयंसेवक बनाने का कारखाना भी है। शाखा का स्वरूप जितना सरल है इसकी अवधारणा उतनी ही विराट। स्थापना के लगभग नौ दशक के बाद भी लोग आश्चर्य करते हैं कि नियमित शाखा लगाने जैसे सामान्य कार्यक्रम से ऐसे आदर्शवादी देशभक्त कैसे पैदा किये जाते हैं, जो न केवल अपनी समस्त ऊर्जा और प्रतिभा मातृभूमि को समर्पित करने के इच्छुक होते हैं बल्कि आवश्यकता पड़ने पर देशहित की रक्षा के लिए अपने जीवन का बलिदान करने को भी प्रस्तुत रहते हैं। यह संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार की अप्रतिम दृष्टि, संगठनात्मक कौशल और दूरदर्शिता का परिचायक है।

संघ में प्रवेश की प्रक्रिया बिलकुल अनौपचारिक होती है। जो भी व्यक्ति शाखा में आकर ध्वज प्रणाम करता है, वह स्वयंसेवक बन जाता है। इसके लिए न कोई आवेदन पत्र भरवाया जाता है और न कोई जाँच-पड़ताल की जाती है। शाखा के प्रमुख को 'शाखा कार्यवाह' कहा जाता है। इसके बाद शाखा में 'मुख्य शिक्षक' और 'गण शिक्षक' का स्थान होता है। कार्य की दृष्टि से शाखा को कई वर्गों में बाँटा जाता है, प्रत्येक वर्ग 'गट' कहलाता है। जिस वरिष्ठ स्वयंसेवक को गट की जिम्मेदारी दी जाती है उसे 'गट नायक' कहा जाता है।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार दैनिक शाखा के अलावा इसके कुछ नए रूप भी प्रारम्भ हुए हैं। विभिन्न देशों में जाकर वहाँ बसने वाले स्वयंसेवकों ने अगर साप्ताहिक शाखाएं प्रारम्भ कीं तो, सूचना क्रांति (आई.टी.) से प्रभावित युवाओं के लिए आई.टी. शाखा का प्रयोग शुरू हुआ। कोरोना के समय आभासी आई.टी. शाखा का भी चलन हुआ। आभासी आई.टी. शाखा का उद्देश्य एक नियमित अंतराल में उन लोगों से सम्पर्क करना है, जो हिन्दू समाज की एकता और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध रहना चाहते हैं। यह शाखाएं प्रायः साप्ताहिक होती

[1] जानिए संघ को – अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या- 31-32

हैं जिनका ऑनलाइन संचालन एक या दो सम्पर्क-कर्ताओं (को-आर्डिनेटर्स) के माध्यम से होता है। वर्तमान में ऐसी (आई.टी.) शाखाओं का विस्तार बहुत तेजी से हुआ है।

संघ ने अवस्था के अनुसार स्वयंसेवकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है[1] -:

1. शिशु स्वयंसेवक (5 वर्ष तक)
2. बाल स्वयंसेवक (6 से 12 वर्ष)
3. तरुण स्वयंसेवक (13 से 18 वर्ष)
4. प्रौढ़ स्वयंसेवक (50 साल के ऊपर)

1.7- भगवा ध्वज-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक किसी व्यक्ति या ग्रंथ की जगह 'भगवा ध्वज' को अपना मार्गदर्शक और गुरु मानते हैं। जब डॉ. हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रवर्तन किया तब अनेक स्वयंसेवक चाहते थे कि संस्थापक होने के नाते वही संगठन के गुरु बनें, क्योंकि उन सबके लिए डॉ. हेडगेवार का व्यक्तित्व अत्यन्त आदरणीय और प्रेरणादायी था। इस आग्रहपूर्ण दबाव के बावजूद डॉ. हेडगेवार ने हिन्दू-संस्कृति, ज्ञान, त्याग और संन्यास परम्परा के प्रतीक 'भगवा ध्वज' (केसरिया झंडा) को गुरु के रूप में प्रतिष्ठित करने का निर्णय किया। हिन्दू पंचांग के अनुसार हर वर्ष 'व्यास पूर्णिमा' के दिन संघ स्थान पर एकत्र होकर सभी स्वयंसेवक भगवा ध्वज का विधिवत् पूजन करते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हर साल जिन उत्सवों का आयोजन करता है, उनमें गुरु पूजा कई दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपनी स्थापना के तीन साल बाद संघ ने 1928 में पहली बार गुरु पूजा का आयोजन किया था, तब से यह परम्परा अबाध रूप से जारी है और भगवा ध्वज का स्थान संघ में सर्वोच्च बना हुआ है। ध्वज की प्रतिष्ठा सरसंघचालक (संघ प्रमुख) से भी ऊपर है।

भगवा ध्वज को ही संघ ने सर्वोच्च स्थान क्यों दिया ? जो संगठन दुनिया का सबसे बड़ा स्वयंसेवी संगठन बन गया है, उसका सर्वोच्च पद अगर एक ध्वज को प्राप्त है तो निश्चय ही यह गम्भीरता से विचार करने का विषय है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारक एच.वी. शेषाद्रि के अनुसार- "भगवा ध्वज सदियों से भारतीय संस्कृति और

[1] जानिए संघ को – अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या- 35

परम्परा का श्रद्धेय प्रतीक रहा है। जब डॉ. हेडगेवार ने संघ का शुभारंभ किया, तभी से उन्होंने इस ध्वज को स्वयंसेवकों के सामने समस्त राष्ट्रीय आदर्शों के सर्वोच्च प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया और बाद में व्यास पूर्णिमा के दिन गुरु के रूप में भगवा ध्वज के पूजन की परम्परा आरम्भ की।"[1] संघ के महाराष्ट्र प्रान्त कार्यवाह रहे एन.एच. पालकर के अनुसार- "वैदिक साहित्य में 'अरुणकेतु' के रूप में वर्णित इस भगवा ध्वज को हिन्दू जीवन शैली में सदैव प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। यह ध्वज हिंदुओं को हर काल में विदेशी आक्रमणों से लड़ने और विजयी होने की प्रेरणा देता रहा है । इसका सुविचारित उपयोग हिंदुओं में राष्ट्र रक्षा के लिए संघर्ष का भाव जागृत करने के लिए होता रहा है। ......अंग्रेजी राज के विरुद्ध सन् 1857 में भारत के पहले स्वाधीनता संग्राम के दौरान केसरिया झंडे के तले सारे क्रांतिकारी एकजुट हुए थे।.....भगवा ध्वज के सम्पूर्ण इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि इसे हिन्दू समाज से अलग करना सम्भव नहीं है। यह धर्म, हिन्दू समाज और हिन्दू राष्ट्र का सहज स्वाभाविक प्रतीक है।"[2]

भगवा ध्वज को गुरु के रूप में प्रतिष्ठित करने के पीछे संघ का विचार यह भी है कि- किसी व्यक्ति को गुरु बनाने पर उसमें पहले से कुछ कमजोरियां हो सकती हैं या कालान्तर में उसके सद्गुणों का क्षय भी हो सकता है, लेकिन ध्वज स्थायी रूप से श्रेष्ठ गुणों की प्रेरणा देता रह सकता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने मुख्यतः तीन कारणों से भगवा ध्वज को गुरु के रूप में स्वीकार किया है-

1. ध्वज के साथ ऐतिहासिकता जुड़ी है और यह किसी संगठन को एकजुट रखते हुए उसके विकास में सहायक होता है।
2. भगवा ध्वज में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की विचारधारा सर्वाधिक प्रखर रूप में प्रतिबिंबित होती है, जो संघ की स्थापना का प्रबल आधार है।
3. किसी व्यक्ति की जगह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रतीक भगवा ध्वज को सर्वोच्च स्थान देकर संघ यह सुनिश्चित करने में सफल रहा है कि वह व्यक्ति-केन्द्रित संगठन नहीं बनेगा। यह सोच बहुत सफल रही फलस्वरूप स्थापना-काल से लेकर वर्तमान तक समाज-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में संगठन का आधार व्यापक हुआ और संघ में सर्वोच्च पद को लेकर कभी कोई विवाद नहीं हुआ। इस तरह संगठन में शीर्ष नेतृत्व के उत्तराधिकार

[1] जानिए संघ को – अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या- 42

[2] जानिए संघ को – अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या- 43-44

को लेकर संघर्ष न होना आश्चर्यजनक है और बहुत हद तक इसका श्रेय भगवा ध्वज को गुरु मानने के डॉ. हेडगेवार के निर्णय को दिया जा सकता है।

1.8- गुरु-दक्षिणा-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रत्येक शाखा 'व्यास पूर्णिमा' पर गुरु पूजा और गुरु-दक्षिणा का कार्यक्रम आयोजित करती है। इसका प्रमुख उद्देश्य है प्राचीन भारत की उस गुरु-शिष्य परम्परा को आगे बढ़ाना जिसमें शिक्षा पूरी करने वाले सभी शिष्य आदर और कृतज्ञता के भाव से अपने गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा (धनराशि) अर्पित करते थे। इसमें धन की राशि नहीं, कृतज्ञता का भाव महत्व रखती है। गुरु-दक्षिणा कार्यक्रम की अवधारणा संघ के प्रारंभिक दिनों में की गयी थी इसके दो उद्देश्य थे- "पहला संगठन के विस्तार के लिए संगठन के भीतर से ही धन की व्यवस्था करना और दूसरा यह स्थापित करना कि संघ में भगवा ध्वज ही सर्वोच्च गुरु है।"[1] कालान्तर में गुरु-दक्षिणा कार्यक्रम ऐसे स्वयंसेवकों को भी कम से कम वर्ष में एक बार जोड़ने का सशक्त माध्यम बन गया जो नियमित शाखा पर नहीं आ पाते। कम से कम वर्ष में एक बार सभी परस्पर मिल सकें। समय के साथ जब अनेक स्वयंसेवक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में संघ के प्रमुख संगठनों में काम करते हुए देश भर में फैल गये, तब ऐसे स्वयंसेवकों के लिए संघ कार्यालय या किसी सभागार में अलग से गुरु-दक्षिणा कार्यक्रम किये जाने लगे। इसमें अधिकतर ऐसे स्वयंसेवक सम्मिलित होते हैं जो नियमित शाखा नहीं जा पाते। प्रशासन, पत्रकारिता, चिकित्सा आदि पेशे से जुड़े स्वयंसेवकों की गुरु-दक्षिणा के लिए भी सुविधानुसार अलग-अलग कार्यक्रम किये जाते हैं। गुरु-दक्षिणा से सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण सीख मिलती है कि- किस प्रकार से पैसा संभाला जाता है तथा स्वयंसेवक की संगठन में हैसियत पर ध्यान दिये बिना इस धनराशि का इस्तेमाल किया जाता है। गुरु-दक्षिणा से प्राप्त धन से संघ अपने संगठनात्मक व्यय का वहन करता है।

1.9- गणवेश-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में 'गणवेश' शब्द स्वयंसेवकों की औपचारिक वेशभूषा या वर्दी के लिए इस्तेमाल किया जाता है। गणवेश दो शब्दों से मिलकर बना है- 'गण' (लोगों का समूह) तथा 'वेश' (परिधान, वेश-भूषा)। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना के बाद वर्ष 1927-1940 तक गणवेश के रूप में- 'खाकी नेकर, खाकी कमीज,

[1] जानिए संघ को – अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या- 47

लाँग बूट (काला), खाकी रंग की पोंगली पट्टी, चमड़े की लाल पेटी, काली टोपी, दण्ड तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बैज' शामिल थे। वर्ष 1940-1973 के मध्य राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के गणवेश में खाकी कमीज के स्थान पर सफेद कमीज हो गयी तथा शेष गणवेश पूर्ववत् रहा। शासन द्वारा सैनिक वेश पर प्रतिबन्ध लगाने के कारण वर्ष 1942 से 1945 तक पदवेश में नीले मोजे व सफेद रंग के कपड़े के जूतों को शामिल किया गया। 1945 के पश्चात् 1973 तक बाल स्वयंसेवकों के लिए यही (नीले रंग के मोजे व सफेद रंग के कपड़े के जूते) पदवेश रहा। वर्ष 1974 में संघ का गणवेश- खाकी नेकर, सफेद कमीज (सूती या टेरीकाट), चमड़े की लाल पेटी, काली टोपी, खाकी मोजे, चमड़े या प्लास्टिक का सादा काला फीतेवाला जूता हो गया।

स्थापना के बाद से अब तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के गणवेश में निम्नलिखित मुख्य परिवर्तन किये गये हैं[1] -:

1. खाकी कमीज की जगह सफेद कमीज
2. खाकी रंग की पोंगली पट्टी की जगह सिर्फ काली टोपी
3. बूट की जगह फीते वाले काले रंग के कैनवस के साधारण जूते
4. चमड़े की बेल्ट की जगह नायलॉन की बेल्ट (मार्च 2011)
5. अंत में लेकिन अन्तिम नहीं, सबसे ज्यादा स्पष्ट दृष्टिगोचर तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सर्वविदित प्रतीक 'खाकी निकर' की जगह 2016 में 'गहरे भूरे रंग की पैंट'।

अन्तिम निर्णय अपने आप में ऐतिहासिक है तथा इस बात का संकेत है कि नई चुनौती का सामना करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ संगठन के भीतर भी बदलाव लाने के लिए तत्पर है। ऐसा माना जाता था कि ढीली-ढाली निकर के कारण युवा वर्ग संघ की शाखाओं के प्रति आकर्षित नहीं हो पाते हैं। अनेक वर्षों से यह मुद्दा बार-बार संघ-बैठकों में उठाया जाता था तथा इस पर निरंतर चर्चा होती रहती थी। दीर्घकालीन चर्चा-परिचर्चा के बाद संघ ने अंततः 'खाकी निकर' की जगह 'गहरे भूरे रंग की पैंट' का निर्णय ले लिया। मार्च 2016 में घोषणा करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह (महासचिव) भैयाजी जोशी ने कहा था- ''हमने 'खाकी निकर' की जगह 'गहरे भूरे रंग

[1] जानिए संघ को – अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या- 87

की पैंट' को वर्दी में शामिल करने का फैसला किया है। सामान्य जीवन में पैंट का आमतौर पर इस्तेमाल होता है, हम लोग समय के साथ चलते हैं इसीलिए हमें ड्रेस कोड बदलने में कोई हिचकिचाहट नहीं है।"[1]

1.10- प्रार्थना-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं में नियमित रूप से गायी जाने वाली प्रार्थना का भी अपना इतिहास है। 'नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे...' राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रार्थना है। संघ की स्थापना के 14 सालों बाद तय की गयी ये प्रार्थना अब इसके कामकाज का अनिवार्य अंग ही नहीं पहचान भी बन चुकी है। संघ-प्रार्थना की रचना व प्रारूप सबसे पहले फरवरी 1939 में नागपुर के पास सिन्दी में हुई बैठक में तैयार किया गया।"[2] संघ में प्रचलित वर्तमान प्रार्थना, आज्ञाएँ, घोष रचनाएं, गणवेश आदि संघ के प्रारम्भ से वैसी नहीं थीं जैसी वर्तमान में हैं। समय-समय पर आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन होता रहा है। संघ जैसे विकासशील और गतिमान संगठन के लिए उसकी संरचनाओं का लचीलापन और देश-काल परिस्थिति के अनुसार उनमें योग्य परिवर्तन करने की संघ की सिद्धता उसकी शक्ति सिद्ध हुई है।

प्रारम्भ (1926) में शाखा के शारीरिक व बौद्धिक कार्यक्रमों के बाद जो प्रार्थना बोली जाती थी, उसमें एक पद मराठी का व एक पद हिन्दी का था। मराठी पद उन दिनों महाराष्ट्र की अनेक प्राथमिक पाठशालाओं व व्यायामशालाओं में बोला जाता था तथा हिन्दी पद उत्तर भारत में गायी जाने वाली वंदना में बोला जाता था। इसी वंदना में कुछ परिवर्तन करके प्रार्थना का तत्कालीन हिन्दी पद लिया गया। प्रार्थना के अंत में छत्रपति शिवाजी महाराज के प्रेरणा स्रोत श्री समर्थ गुरु रामदास स्वामी का जयघोष बोला जाता था। प्रार्थना इस प्रकार थी-

"नमो मातृभूमि जिथे जन्मलो मी।

नमोआर्य भूमि जिथे वाढलो मी॥

नमो धर्म भूमि जियेच्यास कामी।

पडो देह माझा सदा ती नमी मी॥

[1] जानिए संघ को – अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या- 47-48

[2] संघम शरणम् गच्छामि : आरएसएस के सफर का एक ईमानदार दस्तावेज– विजय त्रिवेदी, पृष्ठ संख्या-49

हे गुरु श्री रामदूता, शील हमको दीजिए।

शीघ्र सारे दुर्गुणों से मुक्त हमको कीजिये॥

लीजिए हमको शरण में राम पंथी हम बनें।

ब्रह्मचारी धर्म रक्षक वीरव्रत धारी बनें॥"

'राष्ट्र गुरु श्री समर्थ रामदास स्वामी की जय'[1]

कालान्तर में संघ विस्तार के कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैलने लगा तो प्रार्थना की भाषा में परिवर्तन का अनुभव होने लगा। फरवरी 1939 में नागपुर के निकट सिन्दी में बैठक हुई, उसमें- डॉ. हेडगेवार, माधवराव सदाशिव गोलवलकर, तात्याराव तैलंग, बाबा साहब आप्टे, विट्ठलराव पतकी, बाबाजी सालोड़कर, कृष्णराव मोहरीर, नाना साहब टालाटुले आदि कार्यकर्ता उपस्थित थे। इसी बैठक में प्रार्थना को संस्कृत भाषा में करने का निर्णय हुआ, क्योंकि संस्कृत भाषा समस्त भारतीय भाषाओं की जननी तथा राष्ट्र को एक सूत्र में जोड़ने वाली है। इस प्रार्थना का गद्य प्रारूप नाना साहब टालाटुले व पद्य प्रारूप नरहरि नारायण भिड़े ने तैयार किया। संघ प्रार्थना में तीन श्लोक संस्कृत में तथा अन्त में एक पंक्ति हिन्दी में है। प्रार्थना के प्रथम श्लोक का छन्द 'भुजंगप्रयात' है। उसकी प्रत्येक पंक्ति में बारह अक्षर हैं। तथा दूसरे और तीसरे श्लोक का छन्द 'मेघनिर्घोष' है। उसकी प्रत्येक पंक्ति में तेईस अक्षर हैं। तेईस अक्षरों की पंक्ति बड़ी तथा बोलने में असुविधाजनक होने के कारण प्रत्येक पंक्ति को दो भागों में विभक्त करके- प्रथम बारह अक्षर बोलते हैं और बाद में ग्यारह अक्षर। इस प्रकार प्रार्थना में कुल तेरह पंक्तियाँ हैं। दोहराते समय पंक्तियों की संख्या 21 हो जाती है। इस प्रार्थना में संघ का लक्ष्य, लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग, लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक गुण, संघ का अधिष्ठान, संकल्प आदि सब कुछ है। इस प्रार्थना का प्रथम गायन यादवराव जोशी द्वारा 1940 में पुणे के संघ शिक्षा वर्ग में किया गया। प्रार्थना इस प्रकार है-

"नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे

त्वया हिन्दुभूमे सुखं वर्धितोहम्।

[1] विषय बिन्दु, पृष्ठ संख्या- 21-22

महामङ्गले पुण्यभूमे त्वदर्थे

पतत्वेष कायो नमस्ते नमस्ते ॥ 1 ॥

प्रभो शक्तिमन् हिन्दुराष्ट्राङ्गभूता

इमे सादरं त्वां नमामो वयम्

त्वदीयाय कार्याय बध्दा कटीयम्

शुभामाशिषन् देहि तत्पूर्तये ।

अजय्यां च विश्वस्य देहीश शक्तिम्

सुशीलं जगद्येन नम्रं भवेत्

श्रुतं चैव यत् कण्टकाकीर्णमार्गम्

स्वयं स्वीकृतं नस् सुगंकारयेत्॥ 2॥

समुत्कर्ष निश्श्रेयस्यैकमुग्रम्

परं साधनं नाम वीरव्रतम्

तदन्तस् स्फुरत्वक्षया ध्येयनिष्ठा

हृदन्तः प्रजागर्तु तीव्रानिशम्।

विजेत्री च नस् संहता कार्यशक्तिर्

विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम् ।

परम् वैभवन् नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्

समर्था भवत्वाशिषा ते भृशम् ॥ 3॥

भारत माता की जय ।।”[1]

हालाँकि अंग्रेजी में संघ की प्रार्थना के तमाम भावार्थ निकाले जा सकते हैं, लेकिन सर्वाधिक उपयुक्त भावार्थ संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी ने दिया है। उनके द्वारा दिया गया संघ प्रार्थना का भावार्थ निम्नलिखित है-

[1] शाखा दर्शिका- ज्ञानगंगा प्रकाशन, पृष्ठ संख्या- 01

"हे प्रिय मातृभूमि ! मैं तेरे आगे नतमस्तक हूँ। हिंदुओं की मातृभूमि, आपने मुझे खुशी दी है। मेरी कामना है कि मेरा जीवन इस महान और पुण्य पवित्र भूमि के काम आये। मैं आपको नित-नित शीश झुकाता हूँ।

हे सर्वशक्तिमान ईश्वर ! हम हिन्दू राष्ट्र के बच्चे आपके सामने श्रद्धा से शीश नवाते हैं। वह जिम्मेदारी उठाने के लिए हमने कमर कस रखी है। हमें आशीर्वाद दें कि हम वह उद्देश्य प्राप्त कर सकें। हे प्रभु ! हमें इतनी शक्ति देना कि इस धरती पर कोई हमें चुनौती न दे सके। चरित्र की शुद्धता इस कदर देना कि हम पूरी दुनिया का सम्मान कर सकें और इतना ज्ञान प्रदान करना कि जो कांटों भरी राह हमने स्वेच्छा से चुनी है, वह सहज लगे।

हम शौर्य भावनाओं से इतना ओत-प्रोत हो जायें कि अध्यात्म का उच्चतम शुभाशीष पाना ही हमारा एकमात्र उद्देश्य हो। हमारे दिलों में हमारे आदर्श पुरुषों के प्रति गम्भीर और अंतहीन आदर-भाव रहे। धर्म की रक्षा करने में ही हमारी सारी ऊर्जा लगे और ईश्वर की कृपा से हम अपने राष्ट्र को गरिमा के उच्चतम बिंदु तक ले जाने में अग्रदूत बनें।"[1]

1.11- प्रतिज्ञा-

हिन्दू जीवन पद्धति में कोई भी पवित्र कार्य को करने के पूर्व व्यक्ति संकल्प लेता है। व्यक्ति अपने पूर्वज, काल, स्थान, देव आदि सभी को साक्षी मानकर संकल्प लेता है। वह संकल्प में अपना परिचय देकर 'यह कार्य मैं करूँगा' यह घोषणा करता है। प्रतिज्ञा बंधन नहीं बल है। यह पहाड़ या फिसलन भरे मार्ग में छड़ी के समान अवलंबन है। संघ कार्य नियमित करने वाले 'तरुण स्वयंसेवक' प्रतिज्ञा के माध्यम से इस पवित्र कार्य को करने का संकल्प लेते हैं। स्वतंत्रता से पूर्व की संघ की प्रतिज्ञा में देश को स्वतंत्र कराने का उल्लेख था। रतन शारदा अपनी पुस्तक 'संघ और स्वराज' में लिखते हैं- "उन दिनों संघ का सक्रिय सदस्य बनने के लिए संघ के स्वयंसेवक, जो शपथ लिया करते थे, उसमें स्पष्ट रूप से यह कहा जाता था- 'मैं इस हिंदू राष्ट्र, यानी भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करूँगा।" वे आगे रज्जू भैया के नाम से लोकप्रिय, संघ के चौथे सरसंघचालक प्रोफेसर राजेंद्र सिंह के हवाले से कहते हैं कि उन्होंने अपने एक ऑडियो संस्मरण में बताया है कि उस समय ली जाने वाली शपथ में एक पंक्ति थी- "मैं हिंदू राष्ट्र को स्वतंत्र कराने के लिए संघ का एक अंग बना हूँ। स्वतंत्रता के बाद इसे बदलकर हिंदू राष्ट्र के 'सर्वांगीण विकास के लिए' कर दिया

[1] जानिए संघ को– अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या– 81-82-83

गया है। उद्देश्य स्पष्ट था- स्वतंत्रता की प्राप्ति। और स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारत की अपनी प्रकृति और बुद्धि के अनुसार कार्य करना, नए तरीके ढूँढ़ना और आँख मूँदकर पश्चिम की नकल न करना।"[1]

स्वतंत्रता के पश्चात परिवर्तित प्रतिज्ञा निम्न प्रकार से है जिसे स्वयंसेवक समझते हुए दोहराता है व कंठस्थ करता है- "सर्वशक्तिमान श्री परमेश्वर तथा अपने पूर्वजों को स्मरण कर मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि अपने पवित्र हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू समाज का संरक्षण कर हिन्दू राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति करने के लिए मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का घटक बना हूँ। संघ का कार्य मैं प्रमाणिकता से, निःस्वार्थ बुद्धि से तथा तन,मन,धन पूर्वक करूँगा और इस व्रत का मैं आजन्म पालन करूँगा॥ भारत माता की जय॥"[2]

श्री गुरुजी के अनुसार प्रतिज्ञा मूल शब्दों में ही लेनी चाहिए। प्रतिज्ञा में काट-छाँट की आवश्यकता नहीं। श्री गुरुजी के अनुसार- "प्रतिज्ञा माने संकल्प। जिस प्रकार स्वयंसेवक प्रतिदिन संघ स्थान पर प्रार्थना का उच्चारण करते हैं उसी प्रकार प्रतिज्ञित स्वयंसेवक को व्यक्तिगत रूप से प्रतिदिन किसी भी समय प्रतिज्ञा का स्मरण करना चाहिए।"[3]

1.12- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्सव-

भारत के परम्परागत उत्सव अथवा त्योहारों को मनाने के बारे में संघ संस्थापक डॉ. हेडगेवार का दृष्टिकोण कुछ अलग था। उन्होंने नैतिक मूल्यों और राष्ट्रीयता की भावना के बीजारोपण हेतु ऐसे उत्सव का चुनाव किया जो स्वयंसेवकों और समाज को कुछ संदेश देते हों। हिन्दू पंचांग (कैलेंडर) के अनुसार संघ वर्ष में छह उत्सव मनाता है। ध्यातव्य है- ऐसा नहीं है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इन छह उत्सवों के अतिरिक्त समाज के अन्य उत्सवों को नहीं मनाता। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक समाज के साथ मिलकर समाज में प्रचलित सभी प्रकार के उत्सवों में सहभाग करते हैं। परन्तु संगठन के स्तर पर समाज के सभी उत्सवों का आयोजन करना सम्भव नहीं है, इसलिए संघ समाज में ही प्रचलित उत्सवों में से छह उत्सवों को चुनकर उन्हें संगठन के स्तर पर मुख्यरूप से मनाता है। ये उत्सव हैं[4]-

---

[1] संघ और स्वराज- रतन शारदा, पृष्ठ संख्या- 40

[2] विषय बिन्दु, पृष्ठ संख्या- 25-26

[3] विषय बिन्दु, पृष्ठ संख्या- 26

[4] आरएसएस 360°- रतन शारदा, पृष्ठ संख्या- 138

1. वर्ष प्रतिपदा
2. हिन्दू साम्राज्य दिवस
3. गुरु पूर्णिमा
4. रक्षाबंधन
5. विजयादशमी
6. मकर संक्रांति

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने इन छह महोत्सवों को क्यों चुना ? इस दर्शन के पीछे के उद्देश्य के बारे में विस्तार से 'संघ उत्सव' पुस्तक में बताया गया है । इस पुस्तक में द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर और तृतीय सरसंघचालक बालासाहब देवरस की टिप्पणियों को समाहित किया गया है- "संघ ने इन उत्सवों को इनके नाम और उद्देश्यों से जोड़ने के लिए इन्हें चुना । लोगों को समझना चाहिए कि संघ ने अपनी तरफ से किसी भी त्योहार का सृजन नहीं किया है; लेकिन यह त्योहार राष्ट्रीय महत्व के हैं और हिन्दू समाज पुरातन काल से इनको मनाता आ रहा है ।"[1]

वर्ष प्रतिपदा -: चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही 'वर्ष प्रतिपदा' कहा जाता है । यह हिन्दू नववर्ष का प्रथम दिवस है । सामान्यतया यह उत्सव अप्रैल माह के द्वितीय सप्ताह में आता है, और महाराष्ट्र में इसे 'गुड़ी पडवा' के नाम से जाना जाता है । देश के अधिकांश भागों में यह उत्सव- 'बीहू', 'पोइला', 'चेटी चंद', 'उगादी', 'पुथंडू', आदि नामों के साथ मनाया जाता है । संघ के स्वयंसेवकों के लिए यह दिवस एक भावनात्मक महत्व भी रखता है । इसी दिन संघ संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार का जन्म भी हुआ था । इसी दिन आगंतुक नववर्ष के संगठनात्मक तंत्र व्यवस्था की शुरूआत होती है, जिसके तहत संघ के नए दायित्वों की घोषणा भी होती है ।

हिन्दू साम्राज्य दिवस -: छत्रपति शिवाजी महाराज के राज्याभिषेक (1674 ई.) उत्सव का स्मरण कराने वाले दिवस को हिन्दू साम्राज्य दिवस के रूप में संघ में मनाया जाता है । यही एक ऐसा उत्सव है जो राष्ट्रीय स्तर पर तो आयोजित नहीं किया जाता, लेकिन संघ ने इसे अपनी सूची में दर्ज कर लिया है । संघ का मानना है - "हिन्दू साम्राज्य दिवसोत्सव

[1] जानिए संघ को– अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या– 52–53

एक ऐसा पर्व है, जो समाज को जागरूक होने के लिए प्रेरित करता है।"[1] साहस और आत्मविश्वास की भावना को समाज में जागृत करने के उद्देश्य से संघ ने इस ऐतिहासिक घटना को उत्सव के रूप में चुना है। यह ज्येष्ठ(मास) शुक्ल(पक्ष) त्रयोदशी(तिथि) को मनाया जाता है।

गुरु पूर्णिमा -: राष्ट्र कार्य की सफलता के लिए स्वयंसेवक से केवल आर्थिक त्याग की अपेक्षा नहीं की जाती, अपितु उससे अन्य संसाधनों के समर्पण की भी अपेक्षा रहती है। तन, मन, धन अर्थात् निज मातृभूमि की सेवा शरीर, आत्मा (मन) और भौतिक संसाधनों के माध्यम से करना। इस उत्सव के दिन एक स्वयंसेवक अपनी समस्त निधियों के समर्पण से अपनी मातृभूमि और समाज की सेवा करने की निज प्रतिज्ञा को दोहराता है। यह सभी उत्सवों की तुलना में एक अनूठा और भावनात्मक उत्सव है। यह आषाढ़ पूर्णिमा को मनाया जाता है।

रक्षाबंधन -: जाति, पंथ, वर्ग और भाषाओं में विभाजित हिन्दू समाज में एकता और भ्रातृत्व की भावना का अभाव इस समाज का दुर्भाग्य है। संघ ने भ्रातृत्व की भावना का संदेश देने के उद्देश्य से इस उत्सव का चुनाव किया है। इस उत्सव के दिन स्वयंसेवक एकता और भ्रातृत्व के प्रतीक 'पवित्र सूत्र' को केवल आपस में ही नहीं बाँधते, अपितु समाज में जाकर सभी लोगों को बाँधते हैं। अतः यह उत्सव प्रत्येक स्तर पर भ्रातृत्व और सामाजिक बंधुत्व का उत्सव बन गया है। यह श्रावण मास की पूर्णिमा को मनाया जाता है।

विजयादशमी -: यह अच्छाई की बुराई पर विजय के उत्सव के रूप में मनाया जाता है। यह उत्सव विजय और शौर्य की भावना को प्रदर्शित करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लिए इस दिन का एक महत्व और है- यह संघ का स्थापना दिवस भी है। वर्ष 1925 में विजयादशमी के दिन संघ की स्थापना हुई थी। इस अवसर पर संघ के स्वयंसेवक पूरे भारत में अपने घोष और अपने पूर्ण गणवेश में संचलन करते हैं और प्रकटोत्सव मनाते हैं। सरसंघचालक इस दिन संघ के मुख्यालय और जहाँ यह संगठन अस्तित्व में आया उस नगर 'नागपुर' में होने वाले पारंपरिक संचलन में उपस्थित रहते हैं। संचलन के अंत में स्वयंसेवकों को दिया जाने वाला उनका भाषण आगामी वर्ष के लिए संघ की नीतियों और दिशानिर्देशों का संकेत स्वरूप माना जाता है। यह अश्विन शुक्ल दशमी को मनाया जाता है।

[1] जानिए संघ को– अरुण आनन्द, पृष्ठ संख्या– 56-57

मकर संक्रांति -: यह पर्व सम्पूर्ण भारतवर्ष में विभिन्न नामों के साथ मनाया जाता है। इस दिन सूर्य उत्तरायण में प्रवेश करता है। इस दिन से स्वयं प्रकृति और उसके साथ लोग, परिवर्तित होते ऋतु चक्र के साथ पुनः सक्रिय होने के लिए शीतकालीन जड़ता को दूर फेंक देते हैं। यह ऐसा उत्सव है जो हर प्रकार से जीवन की गतिविधियों के पुनर्जागरण को प्रदर्शित करता है। सम्पूर्ण उत्तर भारत में यह उत्सव 'संक्रांति' जबकि तमिलनाडु में 'थाई पोंगल' और असम में यह 'माघ बिहू' इत्यादि के नाम से मनाया जाता है। चूँकि यह संघ के उत्सव के वार्षिक पंचांग का अन्तिम उत्सव होता है, इसीलिए इस दिन से संघ के भीतर अनौपचारिक रूप से कई समीक्षाओं का दौर आरम्भ हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप वर्ष प्रतिपदा के नए दायित्व, कार्यकर्ताओं के नए केन्द्र और गतिविधियों की पुनर्संरचना आदि करने में सहायता मिलती है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। जिसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्थापना की पृष्ठभूमि तथा स्थापना के कारणों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, साथ ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना के समय उसके संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार को किन-किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, इसे भी संक्षिप्त रूप में बताया गया है। संघ की स्थापना के समय डॉक्टर हेडगेवार के मन में संघ का कोई निश्चित संगठनात्मक ढांचा नहीं था, यहाँ तक कि इस संगठन का नामकरण भी स्थापना के छः महीने बाद उन्होंने स्वयंसेवकों से चर्चा करके रखा। मशहूर शायर मजरूह सुल्तानपुरी का एक शेर है कि- 'मैं अकेला ही चला था जानिब-ए-मंजिल मगर, लोग साथ आते गये और कारवां बनता गया।' डॉ. हेडगेवार के मन में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का परिहार करते हुए भारत और भारतीयता के रक्षार्थ, निःस्वार्थ भाव से कार्य करने को तत्पर रहने वाले एक संगठन की आवश्यकता महसूस हुई, जिसके लिए उन्होंने इस संगठन (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) का बीज रोपा। उनके द्वारा स्थापित उस संगठन का रूप- जिस रूप में आज हमारे सामने है- यही होगा ऐसा निश्चित नहीं था। संघ का वर्तमान स्वरूप तो विभिन्न परिस्थितियों के थपेड़ों को सहने के बाद आज वर्तमान रूप में हमारे सम्मुख है। डॉ. हेडगेवार ने चंद स्वयंसेवकों के साथ नागपुर के 'मोहिते बाड़े' में संघ की 'शाखा' रूपी जिस पौध को रोपा था, वह पौध आज छतनार वटवृक्ष का रूप ले चुकी है और राष्ट्र-प्रथम की नीति का अनुसरण करते हुए देश को परमवैभव पर ले जाने के लिए प्रयासरत स्वयंसेवकों को तैयार करने में रत है। संघ की रीति-नीति के अनुसार संगठन का कोई भी निर्णय गहन विचार-विमर्श के बाद ही लिया जाता है। इस अध्याय में स्थापना के बाद डॉ. हेडगेवार ने स्वयंसेवकों से

चर्चा करके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जिस संगठनात्मक स्वरुप और कार्य-नीति का निर्धारण किया उसका संक्षिप्त परिचय देते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आधारभूत अंग- शाखा, गणवेश, प्रार्थना, गुरु-दक्षिणा, प्रतिज्ञा, उत्सव आदि पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय-अध्याय

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भाषाई चिंतन

- **2.1 भारत की सनातनता की उत्तराधिकारिणी भाषा 'संस्कृत' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन**
- **2.2 अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व के बरक्स भारतीय भाषाओं की स्थापना को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण**
- **2.3 मातृभाषा और शिक्षा की माध्यम भाषा को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन**
- **2.4 भाषावार प्रान्तों के गठन को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण**
- **2.5 भारत में सर्वाधिक समझी और बोली जाने वाली भाषा 'हिन्दी' के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण**

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भाषाई चिंतन

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पहचान एक गैर-राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन के रूप में विख्यात है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन को समझने के क्रम में समाज के अनन्य घटक 'भाषा' के सम्बन्ध में उसके अभिमत की चर्चा करना समीचीन है। मानव-सभ्यता के उदय के साथ भाषा-चेतना के उद्भव और विकास का आरम्भ हुआ। यही कारण है कि भाषा मात्र संप्रेषण और ज्ञानवृद्धि का माध्यम ही नहीं वरन् उन सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों की वाहक भी है, जो मानव-सभ्यता का आधार-स्तम्भ हैं।[1] भाषा किसी भी व्यक्ति एवं समाज की पहचान का एक महत्वपूर्ण घटक तथा उसकी संस्कृति की सजीव संवाहिका होती है।

डॉ. मोतीलाल गुप्त अपनी पुस्तक 'आधुनिक भाषा विज्ञान' में भाषा और समाज के अंतर्संबंधो को रेखांकित करते हुए लिखते हैं- "समाज में व्यक्ति का सबसे अधिक सशक्त उपकरण भाषा ही है। व्यक्ति समाज के माध्यम से भाषा का अर्जन करता है और समाज के हेतु ही भाषा का प्रयोग करता है। व्यक्तियों को समाज में गुम्फित करने का उत्कृष्ट साधन भाषा ही है। भाषाहीन समाज की कल्पना तक नहीं की जा सकती। समाज को, राष्ट्र को समेटे रखने का प्रधान उपादान भी भाषा है। भाषा के प्रश्न को लेकर राष्ट्र टूट सकता है अथवा संगठित किया जा सकता है। भाषा का स्थान समाज और राष्ट्र में प्रमुख है।"[2]

सामाजिक विकास की धारा में भाषा का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा को समाज से विलग नहीं किया जा सकता; यही कारण है कि भाषा विविध सामाजिक उपकरणों से प्रभावित होती रहती है। मानव-भाषा के निर्माण एवं विकास में सामाजिक जीवन की आवश्यकता ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके साथ-साथ यह बात भी उतनी ही सत्य है कि समाज के उन्नयन में भाषा की अप्रतिम भूमिका रही है। समाज-निर्माण के लिए यह अनिवार्य शर्त होती है कि- उसकी संगठनात्मक इकाइयाँ परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हों। इन समस्त इकाइयों को जोड़ने में भाषा की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार- "भाषा समन्वय सूत्र है। प्रत्येक भाषा, स्वभाषा-भाषी को एकता के सूत्र में बाँधे रखती है। अतः वे भिन्न होते हुए भी एकत्व की अनुभूति करते

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा- (प्रस्ताव) 2018 :'भारतीय भाषाओं के संरक्षण एवं संवर्धन की आवश्यकता'- आरएसएस आर्काइव

[2] उद्धरित, 'भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा'- डॉ. सुधाकर कलावडे, पृष्ठ संख्या- 26

हैं। ऋग्वेद में तो भाषा को राष्ट्री अर्थात् राष्ट्र-निर्मात्री तथा संगमनी अर्थात् संबद्ध करने वाली कहा गया है- "अहं राष्ट्री संगमनी वसुनाम" (ऋग्वेद 10.125.3)[1]

डॉ. शरेशचंद्र चुलकीमठ अपने 'भारतीय भाषाओं की अस्मिता और संकट' शीर्षक से लिखे गये आलेख में लिखते हैं कि- "भाषा संप्रेषण का माध्यम भर नहीं है। वह चरित्र का उद्घाटन भी करती है- व्यक्ति के चरित्र का भी, समाज या राष्ट्र के चरित्र का भी।...हर भाषा का अपना समाज होता है। भाषा अन्तःसलिला की तरह समाज के भीतर प्रवाहित होकर एक निश्चित समुदाय के व्यक्तियों को अभिव्यक्ति के धरातल पर जोड़ती है। इस तरह भाषा समाज को धारण करती है।"[2]

भाषा हमारी संस्कृति का अंग है। कोई भी संस्कृति अपना विकास और परिवर्तन कैसे करती रही है ? यह उस संस्कृति की वाहक बनने वाली भाषा के इतिहास से ज्ञात होगा। "राजनैतिक व्यवस्था, धार्मिक विधान, दार्शनिक चिंतन, कलात्मक सृजन, यान्त्रिक-व्यवस्था, विधिगत नियम एवं भाषा, सब संस्कृति के अविभाज्य घटक हैं।.....संस्कृति के अन्य घटक अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा पर आश्रित रहते हैं। संस्कृति, भाषा में सबसे अधिक सटीक रूप में अभिव्यक्त होती है। भाषा के माध्यम से संस्कृति के घटक संगठित होते हैं, परिभाषित होते हैं तथा व्याख्यायित होते हैं।"[3]

भाषा संस्कृति की निर्मिति में एक सहयोगी कारक होती है, वह स्वयं संस्कृति नहीं है। भाषा द्वारा हम अपनी संस्कृति को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार- "संस्कृति, सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर विजय पाने का एक साधन है। उसमें मनुष्य के भाव, विचार, संस्कार, संवेदनाएं सभी शामिल हैं। भाषा भी ऐसी ही संस्कृति है।"[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा, संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम है; राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसीलिए सतत इस बात के लिए प्रयासरत रहा है कि भारतीय संस्कृति पर परतन्त्रता काल में थोपी गयी विदेशी भाषाओं के बरक्स भारतीय समाज की भाषाओं को वरीयता दी जानी चाहिए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पन्द्रह वर्षों बाद भी जब देश में

---

[1] उद्धरित, 'भाषा विज्ञान का रसायन'- कैलाशनाथ पाण्डेय, पृष्ठ संख्या- 88

[2] 'भारतीय भाषाएँ और राष्ट्रीय अस्मिता'- संपा.- डॉ. मुकुन्द द्विवेदी, पृष्ठ संख्या- 47

[3] 'भाषा एवं भाषा विज्ञान'- डॉ. महावीरसरन जैन, पृष्ठ संख्या- 80

[4] 'भाषा और समाज'- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या- 406

प्रशासनिक कार्यों की माध्यम भाषा कोई भारतीय भाषा न होकर विदेशी भाषा (अंग्रेजी) ही बनी रही तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेतृत्व ने इस पर अपनी आपत्ति दर्ज कराई । जिसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा के 1965 के 'भाषा नीति' नामक प्रस्ताव में देखी जा सकती है, जिसमें कहा गया है कि- "स्वतन्त्रता की यह माँग है कि देश का प्रशासन हमारी अपनी भाषा में चलाया जाये । विदेशी भाषा राष्ट्र की प्रतिभा को अभिव्यक्त नहीं कर सकती, न ही उसके विकास में सहायक हो सकती है । इसके निरन्तर अक्षुण्ण प्रयोग से केवल विदेशी विचार का प्रभुत्व और विदेशी शासन में हुए राष्ट्र के क्षरण का अब भी न रुकना ही प्रकट होता है । यह खेद की बात है कि स्वतन्त्रता के इतने लंबे समय बाद भी देश प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर अंग्रेजी से हमारी भारतीय भाषाओं में सहज परिवर्तन के लिए तैयार नहीं है । इसके विपरीत अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ रहा है । ऐसी स्थिति बनी नहीं रहने दी जानी चाहिए ।"[1] इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बिना किसी किन्तु परन्तु के, स्पष्ट रूप से देश के प्रशासनिक कार्य-संस्कृति में किसी विदेशी भाषा के चलन का मुखर विरोधी तथा भारतीय भाषाओं के अनुप्रयोग का प्रखर हिमायती है । इस विरोध और हिमायत का कारण सिर्फ और सिर्फ यही है कि; किसी गैर-देशी-भाषा में हम अपनी स्वदेशी संस्कृति की अभिव्यक्ति को कैसे सम्भव कर सकते हैं ? यदि संस्कृति को संरक्षित और संवर्धित करना है तो स्व-भाषा की अनुप्रयुक्ति अपरिहार्य है । हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र भी कहते हैं कि- 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।' राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भी स्पष्ट रूप से यही मानना है कि हमारी उन्नति का मूलाधार वह भाषा कदापि नहीं हो सकती, जो हमारी संस्कृति के अभिव्यक्ति की माध्यम भाषा नहीं है । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बहुविध ज्ञान को अर्जित करने हेतु विभिन्न भाषाओं को सीखने का हिमायती है[2] परन्तु अपने देश की राष्ट्रभाषा के रूप में किसी विदेशी भाषा को प्रतिष्ठित करना राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को स्वीकार्य नहीं है।

2.1- भारत की सनातनता की उत्तराधिकारिणी भाषा संस्कृत को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन-

संस्कृत भारत की सभ्यता और संस्कृति के मूल को परिभाषित करने वाली भाषा है । सम्पूर्ण मानव-सभ्यता को आगे बढ़ाने में संस्कृत भाषा ने अनेक योगदान दिये हैं । संस्कृत को केवल पूजा-पाठ या धार्मिक-कर्मकांडों की भाषा मानना दरअसल एक गलत अवधारणा है । संस्कृत केवल भाषा न होकर पूर्ण ज्ञान की एक प्रणाली भी है । ऋषि-

---

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)- 1965: भाषानीति; आरएसएस आर्काइव

[2] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-2018 :'भारतीय भाषाओं के संरक्षण एवं संवर्धन की आवश्यकता'- आरएसएस आर्काइव

मुनियों, विद्वानों ने अपने शोध के विस्तृत अध्ययन के जरिए संस्कृत को समृद्ध बनाने में योगदान दिया है। संस्कृत में लिखे गये योग, आयुर्वेद, वेदान्त, व्याकरण, ज्योतिष और वाङ्मय के विपुल ज्ञान की उपयोगिता सर्वविदित है। इसके अलावा संस्कृत जिन प्रवृत्तियों का पोषण करती है, वह बिना किसी पूर्वाग्रह के लोक-कल्याण को वर्धित करने वाली हैं। सृष्टि केन्द्रित विश्व-दृष्टि, प्रकृति के साथ अटूट सामंजस्य, मानवीय स्वभाव तथा स्वरूप में उदात्तता, चैतन्य का विस्तार, पुरुषार्थ तथा सृजनात्मकता, आत्म-परिष्कार की सतत आकांक्षा तथा सम्भावना जिस तरह संस्कृत की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है वैसा उदाहरण कदाचित् अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत का रिश्ता भारत की उस अनूठी संस्कृति, परम्परा और संस्कारों से रहा है, जिसके मूल में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना है और वह समूची दुनिया को 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' यानी 'अन्धकार से प्रकाश की ओर चलने' का संदेश देती है। संस्कृत वह भाषा है, जिसने हमें संस्कार दिये- अपनापे के, विश्व-बंधुत्व के। यह वह भाषा है जिसके बगैर भारतीय भाषाओं का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। हमारी तमाम भाषाओं को भाषागत इकाई के रूप में यदि किसी भाषा ने आबद्ध करके रखा हुआ है तो वह 'संस्कृत' ही है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे माधवराव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य 'श्री गुरुजी' कहते हैं- "वस्तुतः हमारी सभी भाषाएँ, चाहे वह तमिल हो या बंगला, मराठी हो या पंजाबी, हमारी राष्ट्रभाषाएँ हैं। वे सभी भाषाएँ और उप-भाषाएँ खिले हुए पुष्पों के समान हैं, जिससे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की वही सुरभि प्रसारित होती है। इन सभी के लिए प्रेरणा-स्रोत भाषाओं की रानी देववाणी संस्कृत रही है।"[1]

संस्कृत वैदिक काल की भाषा रही है; उसमें वेद आदि अनेक धार्मिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है, इसीलिए इसे 'देवभाषा' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। कालान्तर में इस 'देवभाषा' शब्द का यह अर्थ भाषित किया गया कि- संस्कृत सिर्फ 'देवताओं की भाषा' थी, इसीलिए इसे 'देवभाषा' की संज्ञा दी गयी थी। यह कभी आमजन की भाषा नहीं रही। उसके समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि पालि व प्राकृत भाषाएँ (तद्युगीन) जनभाषा के रूप में प्रचलित थीं। इस तर्क के विरुद्ध मेरी सम्मति डॉ. रामविलास शर्मा के उस तथ्य के साथ है, जिसमें वे लिखते हैं- "यदि पालि बोलचाल की भाषा कभी थी, तो यह आश्चर्य की बात है कि उसमें संस्कृत के समान काव्य, नाटक आदि न रचे गये। बौद्ध कवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौंदरानंद' महाकाव्य संस्कृत में ही लिखे। उन्हीं का लिखा हुआ

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 113

'सारिपुत्र-प्रकरण' संस्कृत का प्राचीनतम नाटक कहा गया है ।"[1] साहित्य समाज का दर्पण होता है । यदि संस्कृत जनभाषा नहीं थी तो अश्वघोष जैसा विद्वान अपने सृजन की माध्यम भाषा किसी ऐसी भाषा को क्यों बना रहा था, जो आमजन की भाषा ही न थी ।

डॉ. रामविलास शर्मा आगे लिखते हैं कि- "…..भगवान बुद्ध और महावीर के उपदेश उनकी अपनी भाषा में नहीं मिलते । जिस भाषा में मिलते हैं, वह पूर्व की न होकर (जहाँ इन दोनों की जन्म-भूमि और कर्म-भूमि थी) पश्चिम की प्राकृत है । लेकिन प्राकृत चाहे पूर्व की हो, चाहे पश्चिम की, उनके शब्द-भण्डार और व्याकरण मूलतः संस्कृत के हैं । कुछ विद्वानों ने प्राकृत व्याकरणों को इस बात के लिए दोषी ठहराया है कि उनके प्रभाव से प्राकृतें कृत्रिम हो गयीं; लेकिन प्राकृतों का व्याकरण तो संस्कृत का ही अनुसरण करता है । यदि वास्तव में प्राकृतें- बोलचाल की भाषाएँ- होतीं तो उनमें व्याकरणगत भेद भी बहुत ज्यादा होते ।"[2]

यह अलग बात है कि, आजकल संस्कृत आमजन के बोलचाल की भाषा लगभग न के बराबर है; मगर अभी भी कुछ ऐसे स्थान हैं, जहाँ लोग संस्कृत का उपयोग बोलचाल की भाषा के रूप में करते हैं । जो इस तथ्य को परिपुष्ट करते हैं कि कभी संस्कृत इस देश के आमजन के दैनन्दिन व्यवहार की भाषा रही होगी ।[3]

संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी संस्कृत भाषा को देश की राष्ट्रीय एकता के लिए एक संयोजक सूत्र के रूप में देखते हैं ।[4] डॉ. रामविलास शर्मा का भी मत ऐसा ही है ।[5]

संघ देश की 'एक भाषा' की समस्या के निराकरण के लिए 'संस्कृत' का पैरोकार है । उसका कारण सिर्फ एक है कि- संस्कृत से लगभग सभी भारतीय भाषाएँ अपना उपजीव्य लेती हैं, जिसके कारण हर भाषा-भाषी संस्कृत को

---

[1] 'भाषा और समाज'- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या- 229

[2] 'भाषा और समाज'- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या- 229

[3] 'कर्नाटक के शिमोगा जिले के 'मत्तूरू' गाँव के साधारण जीवन-शैली वाले लोग संस्कृत में ही बात करते हैं । लगभग गाँव का प्रत्येक ग्रामवासी संस्कृत भाषा में ही बात करता है । दक्षिण भारत में कर्नाटक का यह गाँव देश में इकलौता गाँव नहीं है । राजस्थान के बांसवाड़ा जनपद का 'कनौदा' गाँव, मध्यप्रदेश के राजगढ़ जिले का 'झिरी' गाँव और ओडिशा के क्योंझर जिले का 'श्यामसुंदरपुर' गाँव भी इसी परंपरा में आते हैं । (https://www.hktbharat.com/sanskrit-language-higher-education-in-sanskrit-sanskrit-education-history-of-sanskrit-sanskrit-bhasha-ka-mahatva-sanskrit-bhasha-ka-ithihas%20.html .)

[4] 'विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 114

[5] वे लिखते हैं "...संस्कृत द्वारा देश का जो सांस्कृतिक एकीकरण हुआ वह पालि और अन्य प्राकृतों द्वारा नहीं हुआ, न शायद हो सकता था । संस्कृत के माध्यम से इस देशव्यापी अभ्युत्थान में विभिन्न प्रदेशों और मतों के लोगों ने भाग लिया । एक नहीं सब प्राकृतें मिलाकर भी संस्कृति का ऐसा व्यापक माध्यम नहीं बन पायीं ।" ('भाषा और समाज'- डॉ. रामविलास शर्मा ,पृष्ठ संख्या- 231)

थोड़ा-बहुत समझने में सक्षम होता है (किसी अन्य भाषा की अपेक्षा)। बाबा साहब भीमराव अंबेडकर भी संघ के समान संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाये जाने के पक्षधर थे।[1] संघ की संस्कृत भाषा के प्रति यह प्रखर पक्षधरता इसलिए है क्योंकि वह प्राचीन भाषा में मौजूद ज्ञान की अपरिमित सम्पदा से आम भारतीय मानस को सम्बद्ध रखना आवश्यक मानता है।[2] डॉक्टर अंबेडकर की पक्षधरता भी इसी कारण से संस्कृत के प्रति थी।

संस्कृत के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और बाबासाहब भीमराव अंबेडकर के विचार लगभग एक समान हैं। संघ के समान बाबा साहब का भी मानना था कि- "संस्कृत पूरे देश को भाषाई एकता के सूत्र में बाँध सकने वाली इकलौती भाषा हो सकती है। उन्होंने इसे देश की आधिकारिक भाषा बनाने का सुझाव दिया था। संविधान सभा में बाबा साहब ने राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत का समर्थन किया था। वे इस बात से आशंकित थे कि स्वतन्त्र भारत कहीं भाषाई संघर्ष की भेंट न चढ़ जाये। देश में भाषा को लेकर कोई विवाद न हो, इसलिए जरूरी है कि राजभाषा के रूप में ऐसी भाषा का चुनाव हो, जिसका सभी भाषा-भाषी आदर करते हों। बाबा साहब जानते थे कि यह सम्भावना सभी भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत में ही हो सकती है।[3] उन्हें भरोसा था कि संस्कृत के नाम पर कहीं कोई विवाद नहीं होगा; इसीलिए सारी भारतीय भाषाओं में से किसी एक को राष्ट्रभाषा बनाने पर बहस जब पूरी हो गयी तो डॉक्टर अंबेडकर ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा के रूप में रखने का प्रस्ताव रखा।"[4]

बाबा साहब अंबेडकर का स्पष्ट मानना था कि संस्कृत के ग्रंथों का अनुशीलन किये बिना भारतीयता और भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में फैली अनेक भ्रांतियों का निराकरण सम्भव नहीं है। जब लोग संस्कृत पढ़ेंगे तो ऐसी विद्रूपताएँ स्वतः ध्वस्त हो जायेंगी।[5] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भी सुविचारित मत है कि- "संस्कृत के अध्ययन-

---

[1] https://www.abplive.com/news/india/ambedkar-had-proposed-sanskrit-as-national-language-cji-bobde-1901667/amp

[2] 'संस्कृत के माध्यम से पूरे भारत तथा भारतीय भाषाओं से जुड़ सकेंगे और भारतीय ज्ञान-परम्परा से भी परिचित हो सकेंगे।' (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ: स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 105)

[3] "संस्कृत भाषा एवं साहित्य भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर, प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान का भण्डार तथा राष्ट्रीय एकात्मता का सुदृढ़ सूत्र है। यह भारतीय भाषाओं की ही नहीं विश्व की भी अनेक भाषाओं की जननी है। विश्व के आधुनिक भाषाविदों ने संस्कृत को सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक भाषा के रूप में मान्य किया है। कम्प्यूटर विज्ञान ने भी इसकी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की है।" अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा,1989: 'केन्द्र सरकार द्वारा संस्कृत की उपेक्षा'; आरएसएस आर्काइव https://www.archivesofrss.org/Resolutions.aspx

[4] https://www.jansatta.com/sunday-magazine/jansatta-ravivari-artical-ambedkar-was-a-strong-supporter-of-sanskrit/644281/

[5] 'डॉ. अम्बेडकर संस्कृत के ग्रन्थों को पढ़कर ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आर्य भारत में कहीं बाहर से नहीं आये बल्कि आर्य और द्रविड़ दोनों भारत के मूल वंशज हैं।' (https://www.jansatta.com/sunday-magazine/jansatta-ravivari-artical-ambedkar-was-a-strong-supporter-of-sanskrit/644281/)

अध्यापन से भारत की नवोदित पीढ़ी को वंचित करने का अर्थ होगा; भारतीय-संस्कृति एवं प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य निधि से उसे दूर रखना। इससे नि:संदेह भारतीय अस्मिता को भारी क्षति पहुँचेगी।"[1]

एक जमाने में ज्ञान के समस्त अनुशासनों में जिस भाषा का प्रभुत्व था, वह आज बेहद चिन्ताजनक स्थिति में है। देश में संस्कृत भाषा-भाषी लोगों की संख्या लगातार घट रही है। विविध कारणों से समय के साथ लोगों की संस्कृत से दूरी बनती गयी। देश की वर्ष- 2011 की जनगणना के अनुसार- 'संस्कृत भाषा-भाषी (जिन्होंने अपनी प्रथम भाषा के रूप में संस्कृत को चुना) लोगों की संख्या मात्र 24,821 यानी कुल आबादी के अनुपात में 0.002 प्रतिशत है।'[2] मन्त्र में संस्कृत है, पूजा-पाठ में संस्कृत है, धर्म-कर्म में संस्कृत है लेकिन, आम जुबान से संस्कृत गायब है। संस्कृत भाषा की इस सोचनीय अवस्था में सुधार के प्रयास करने के बजाय वर्ष 1986 ई. में तत्कालीन केन्द्र सरकार ने 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986' लाकर उसमें संस्कृत भाषा के शिक्षण को विद्यालयीन पाठ्यक्रम से लगभग समाप्त कर दिया। जिससे यदि कोई अध्येता ऐच्छिक विषय के रूप में संस्कृत का अध्ययन करना चाहे तो इसकी व्यवस्था विद्यालयीन स्तर पर अनुपलब्ध हो गयी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने, सरकार द्वारा कारित, संस्कृत की इस उपेक्षा पर गम्भीर चिन्ता एवं विरोध प्रकट किया। संघ का मानना था कि- "सरकार की संस्कृत भाषा के शिक्षण को विद्यालयीन पाठ्यक्रम से हटाने की नीति का दुष्परिणाम यह होगा कि उच्च शिक्षा-स्तर पर संस्कृत की ऐच्छिक विषय के रूप में व्यवस्था होने पर भी उसके लिए छात्र मिलने कठिन हो जायेंगे तथा विश्वविद्यालयीन स्तर पर संस्कृत के अध्ययन एवं शोध-कार्य को क्षति पहुँचकर उसका विकास अवरुद्ध हो जायेगा।"[3]

वर्तमान में कुछेक सरकारी प्रयास इस भाषा के संरक्षण हेतु चलाये जा रहे हैं; मगर बात बनती हुई नहीं दिख रही है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी संस्कृत भाषा को आधुनिक ज्ञान और सामान्य जनमानस के प्रयोग की भाषा में तब्दील करने को अपने एक प्रकल्प 'संस्कृत भारती'[4] के माध्यम से प्रयासरत है। संस्कृत जानने व सीखने के लिए संस्कृत भारती लघु अवधि के कार्यक्रम व पाठ्यक्रम तैयार करती है। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों- 'भारतीय

---

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-1989: 'केन्द्र सरकार द्वारा संस्कृत की उपेक्षा'; आरएसएस आर्काइव

[2] https://www.amarujala.com/uttar-pradesh/agra/only-24-thousand-821-people-speak-sanskrit-language-in-india

[3] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-1989: 'केन्द्र सरकार द्वारा संस्कृत की उपेक्षा'; आरएसएस आर्काइव

[4] संस्कृत भारती की स्थापना वर्ष 1981 ई. में हुई थी। इसकी स्थापना का उद्देश्य संस्कृत भाषा में लिखित प्राचीन भारतीय वांग्मय में संचित अपरिमित ज्ञान-कोष से सामान्य जन को परिचित करवाना ताकि वह अपनी जड़ों से जुड़ सके। साथ ही साथ यह संगठन संस्कृत को आधुनिक ज्ञान और सामान्य जन की भाषा बनाने के लिए विविध प्रकार के उद्यम करता है।

प्रौद्योगिकी संस्थान', हैदराबाद, 'हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय', 'जयपुर विश्वविद्यालय' तथा 'उस्मानिया विश्वविद्यालय'- जैसे कई विश्वविद्यालयों में गहन शोध के उद्देश्य से संस्कृत की कार्यशालायें आयोजित की जा रही हैं। संस्कृत भारती की गतिविधियाँ अमेरिका में भी चल रही हैं, जहाँ कैलिफोर्निया में इसका मुख्यालय है। इसके साथ ही यह प्रकल्प इंग्लैंड, स्विट्जरलैंड, जर्मनी आदि देशों में भी संस्कृत शिक्षण के माध्यम से लोगों को भारतीयता और भारतीय संस्कृति से परिचित करवाने का कार्य कर रहा है।

2.2 अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व के बरक्स भारतीय भाषाओं की स्थापना को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ किसी भी अभारतीय भाषा के आधिपत्य के खिलाफ और भारतीय भाषाओं के अनुप्रयोग का पक्षधर रहा है। उसका मानना है कि कोई भी विदेशी भाषा राष्ट्र की प्रतिभा को अभिव्यक्त नहीं कर सकती, न ही उसके विकास में सहायक हो सकती है। भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं वरन् किसी भी राष्ट्र के स्वाभिमान तथा उसकी प्राचीन संस्कृति की संवाहिका भी होती है। गुलाम देशों की अपनी कोई भाषा नहीं होती। वे अपने शासकों की भाषा का व्यवहार करने को विवश होते हैं। यही कारण है कि देश की आजादी के बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने यह माँग की कि देश का प्रशासन हमारी अपनी भाषा में चलाया जाये।[1] मगर सरकार ने आजादी के पन्द्रह वर्षों बाद तक अंग्रेजी के राजभाषा के रूप में अनुप्रयोग की अनुमति दी थी। जब इस अवधि की समाप्ति से पूर्व ही तत्कालीन सरकार ने प्रशासन में इसका उपयोग सदैव जारी रखने के अपने निर्णय की घोषणा की तब संघ ने इसका प्रखर विरोध किया। संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा ने वर्ष 1963 ई. में 'शासन की भाषा नीति' नामक प्रस्ताव पारित कर अपना मंतव्य स्पष्ट किया। जिसमें कहा गया कि- "एक राष्ट्रीय भाषा के माध्यम से प्रशासन, राष्ट्र की स्वतंत्रता और सार्वभौमिकता का अभिन्न अंग है। इस तथ्य इसके उपरान्त भी भारत में अत्यन्त विकसित अनेक राष्ट्रीय भाषाएँ हैं, यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारी स्वतन्त्रता के सोलह वर्ष पश्चात भी देश के प्रशासन में अंग्रेजी प्रभुत्व के स्थान पर बैठी हुई है। संविधान ने वर्ष 1965 ई. के बाद अंग्रेजी को तिलांजलि दे देने का प्रावधान किया था; परन्तु सरकार ने संविधान के इस निर्देश को लागू करने के लिए कोई पग नहीं उठाया है। अब उन्होंने अंग्रेजी को सह-राजभाषा घोषित करने के लिए विधेयक प्रस्तुत करने और इस प्रकार प्रशासन में इसका उपयोग

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)- 1965: भाषानीति; आरएसएस आर्काइव

सदैव जारी रखने के अपने निर्णय की घोषणा की है । यह निर्णय सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से घोर असामयिक और अनुचित है ।"[1] यही नहीं अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा ने वर्ष 1965 ई. में भी एक 'भाषा नीति' नामक प्रस्ताव पारित किया, उसमें भी देशी भाषाओं के बरक्स शासन द्वारा अंग्रेजी भाषा को महत्ता दिये जाने पर चिन्ता व्यक्त की गयी ।[2] अगर हम विश्व के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि प्राय: दुनिया के प्रत्येक देश ने परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्ति के बाद अपने देश के उत्थान की गाथा अपनी भाषा में लिखी है । इजराइल ने तो अपनी मृतप्राय हो चुकी 'हिब्रू' भाषा को अपनी राष्ट्रभाषा बनाया और आज वह भाषा पूरी दुनिया में तकनीकी की प्रमुख भाषाओं में शामिल है । आज हिब्रू का अनुवाद अन्य भाषाओं में लोग करने को विवश हैं । रूस ने रशियन, चीन ने चीनी (मंदारिन) और जापान ने जापानी भाषा को अपनी राज-काज तथा शिक्षा-दीक्षा की माध्यम भाषा बनाया । हमारे छोटे से पड़ोसी देश नेपाल ने भी अपनी भाषा नेपाली में ही अपनी प्रगति यात्रा की शुरुआत की । हिन्दुस्तान इसका अपवाद रहा है । औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के बाद एक प्राचीन राष्ट्र होते हुए भी अंग्रेजी यहाँ पर राज-काज की भाषा बनी हुई है । अंग्रेजों के जाने के बाद भी अंग्रेजी का सिक्का कायम है । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ- 'सरकार की विभिन्न व्यवस्थाओं में अंग्रेजी को दी जाने वाली अनुचित वरीयता का विरोधी रहा है ।'[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे माधवराव सदाशिव गोलवलकर के अनुसार- "विदेशी भाषा अंग्रेजी अपने साथ-साथ अंग्रेजी संस्कृति एवं जीवन के अंग्रेजी प्रतिमान भी अवश्य लाएगी । विदेशी जीवन प्रतिमानों की जड़ यहाँ जमाने देना, अपने निज की संस्कृति एवं धर्म की जड़ खोदना होगा ।"[4] उनका मानना है कि शताब्दियों के विदेशी शासन के बावजूद अगर हम अपनी सभ्यता और संस्कृति के अविरल प्रवाह को अक्षुण्ण रखने में सफल हो पाए हैं तो इसका कारण यही है कि हमने अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार की थाती को अपनी भाषाओं के माध्यम से संजोए रखा । वे कहते हैं कि- "अंग्रेजी को स्वीकार करने का अर्थ अपनी जीवनी-शक्ति के मुख्य स्रोतों को क्षीण करना होगा । अंग्रेजों के राज्य के साथ आई अंग्रेजी, हमारे ऊपर कृत्रिम रूप से लादी गयी है । अब हम स्वतन्त्र हो चुके हैं, हमें इसे उतार फेंकना चाहिए । अंग्रेजी को वही स्थान देते रहना, जो इसे विदेशी शासनकाल में प्राप्त था; मानसिक दासता का लक्षण है और संसार की

---

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-1963: शासन की भाषानीति; आरएसएस आर्काइव

[2] "यह खेद की बात है कि स्वतंत्रता के इतने लंबे समय बाद भी देश प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर अंग्रेजी से हमारी भारतीय भाषाओं में सहज परिवर्तन के लिए तैयार नहीं है । इसके विपरीत, अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ रहा है । ऐसी स्थिति बनी नहीं रहने दी जानी चाहिए ।" (अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-1965: भाषानीति; आरएसएस आर्काइव

[3] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-2008 : शिक्षा राष्ट्रीय प्राणधारा के साथ जुड़े; आरएसएस आर्काइव

[4] 'विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 114

दृष्टि में हमारे राष्ट्रीय सम्मान के लिए कलंक है।"[1] हालाँकि संघ विश्व की अन्यान्य भाषाओं में उपलब्ध विपुल ज्ञान-सम्पदा को अर्जित करने हेतु विश्व की विभिन्न भाषाओं को सीखने का हिमायती है, मगर जैसा कि हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखते हैं कि-

'अंग्रेजी पढ़ि के जदपि, सब गुन होत प्रवीन

पै निज भाषा ज्ञान के, रहत हीन के हीन।'

अगर हमें इस हीनता से पार पाना है तो हमें स्व-भाषा को किसी विदेशी भाषा के वर्चस्व के बरक्स वरीयता देनी ही होगी। विश्व की भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान-संपदा को अर्जित करने के लिए उन भाषाओं का अध्ययन करना और उनके बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करना कोई बुरी बात नहीं है, मगर उन्हें अपनी मातृभाषाओं से अधिक वरीयता देना संघ की दृष्टि में अनुचित है। इसीलिए जब अंग्रेजी को राजभाषा बनाने का विधेयक सरकार ने प्रस्तुत किया तो संघ ने उसका विरोध किया। संघ का मानना था कि- "किसी विदेशी भाषा को सह-राजभाषा स्वीकार करना भी राष्ट्रीयता की भावना के सर्वथा विपरीत है। व्यवहार में इसका अर्थ होगा अंग्रेजी का पूर्ण प्रभुत्व और इस प्रकार भारत की विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं को उनके न्यायसम्मत स्थान से वंचित करना।"[2]

औपनिवेशिक काल में ज्ञानोत्पादन पर औपनिवेशिक भाषा (अंग्रेजी) के एकतरफा प्रभुत्व के कारण हमारी सभी भारतीय भाषाएँ इस मामले में एक संस्थागत रक्ताल्पता का शिकार रही हैं।[3] हम अपना मौलिक चिंतन किसी थोपी हुई भाषा में नहीं कर सकते। यह हमारी मातृभाषा में ही सम्भव है। देश के वरिष्ठ वैज्ञानिक के.विजय राघवन ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में लिखे अपने एक लेख मे लिखा है कि- "भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर होने वाली बौद्धिक बहस के लिए एक मात्र भाषा अंग्रेजी बनाने से हम कई मोर्चों पर हार गये। सबसे पहले अपवाद को छोड़ दें तो, एक समुदाय के रूप में हमारे सर्वोत्तम संस्थान भी विश्व स्तर पर कभी नेतृत्व नहीं कर सकते हैं, यदि अंग्रेजी उच्च

[1] 'विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 114

[2] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-1963: शासन की भाषानीति; आरएसएस आर्काइव

[3] प्रतिमान पत्रिका, सम्पादक- अभय कुमार दुबे, पृष्ठ संख्या- 5

स्तरीय बौद्धिक बहस की एकमात्र भाषा रहती है। हमारे सर्वोत्तम दिमाग भी सिर्फ दूसरों के विचारों को व्यक्त करने वाले वाकपटु ही होंगे।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व का विरोध करते हुए उसके बरक्स भारतीय भाषाओं को महत्व देने का पक्षधर है। संघ का मानना है कि- "भारत को विश्वगुरु बनाने के क्रम में भारत की सभी भाषाओं को प्रोत्साहन देना आवश्यक है।"

2.3- 'मातृभाषा' और 'शिक्षा की माध्यम भाषा' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन-

मातृभाषा मात्र भाषा नहीं होती। मातृभाषा को माँ और मातृभूमि के बराबर दर्जा दिया गया है। जन्म से हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वही हमारी मातृभाषा होती है। सभी संस्कार एवं व्यवहार हम इसी के द्वारा पाते हैं। इसी भाषा से हम अपनी संस्कृति के साथ जुड़कर उसकी धरोहर को आगे बढ़ाते हैं। मातृभाषा में ही व्यक्ति ज्ञान को उसके आदर्श रूप में आत्मसात् कर पाता है। यह हमें राष्ट्रीयता से जोड़ती है और हमारे अन्दर देश-प्रेम की भावना उत्प्रेरित करती है। मातृभाषा व्यक्ति के संस्कारों की परिचायक है; इससे इतर राष्ट्र के संस्कृति की संकल्पना अपूर्ण है। मातृभाषा मानव की चेतना के साथ-साथ लोक-चेतना और मानवता के विकास का भी अभिलेखागार होती है। इसीलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि- 'देश की उन्नति हेतु आवश्यक है कि हमारी शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषाएँ हों।'[2]

पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे.अब्दुल कलाम ने स्वानुभव के आधार पर कहा था कि- "मैं अच्छा वैज्ञानिक इसलिए बना, क्योंकि मैंने अपनी शुरुआती गणित और विज्ञान की शिक्षा मातृभाषा में प्राप्त की।"[3] मातृभाषा में शिक्षा अधिक प्रभावी एवं उपयोगी है, क्योंकि विद्यार्थी मातृभाषा में शिक्षा को आसानी से ग्रहण कर लेता है। इसमें विद्यार्थी की ग्रहण क्षमता ज्यादा होती है; क्योंकि अपनी भाषा के साथ जो मजबूत मनोबल एवं आत्मीयता जुड़ी होती है, उसी

---

[1] अंग्रेजी बनाम स्थानीय भाषाएं - https://www.downtoearth.org.in/hindistory/%e0%a4%85%e0%a4%82%e0%a4%97%e0%a5%8d%e0%a4%b0%e0%a5%87%e0%a4%9c%e0%a5%80%e0%a4%ac%e0%a4%a8%e0%a4%be%e0%a4%ae%e0%a4%b8%e0%a5%8d%e0%a4%a5%e0%a4%be%e0%a4%a8%e0%a5%80%e0%a4%af%e0%a4%ad%e0%a4%be%e0%a4%b7%e0%a4%be%e0%a4%8f%e0%a4%82-61129

[2] 'भारत का भविष्य: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ. मोहनराव भागवत, पृष्ठ संख्या- 75

[3] मातृभाषा: अपना गौरव अपनी पहचान https://www.samvad.in/Encyc/2021/2/21/matrabhasha-our-pride-and-identity.html

से विद्यार्थी का समग्र व्यक्तित्व विकास होता है, उसकी तार्किक दृष्टि भी विकसित होती है। विभिन्न शोधों के निष्कर्ष बताते हैं कि- "मातृभाषा में विद्यार्थी का शिक्षण उसके मानसिक, भावनात्मक, बौद्धिक और नैतिक विकास को भी प्रभावित करता है। मातृभाषा में शिक्षण सरल और सहज बन जाता है। परिणामत: विद्यार्थी शनैः-शनैः रुचिकर क्षेत्रों में दक्षता हासिल कर अपने क्षेत्र में महारत हासिल कर लेते हैं।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत के भाषाई वैविध्य से भलीभाँति परिचित है एवं उसका पूरा सम्मान करता है।[2] यद्यपि संसार की विविध भाषाओं का ज्ञान रखना एक गुण है तथापि मातृभाषा में शिक्षण वैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। मातृभाषा में शिक्षित विद्यार्थी दूसरी भाषाओं को भी सहज रूप से ग्रहण कर सकता है। प्रारंभिक शिक्षण किसी विदेशी भाषा में करने पर जहाँ व्यक्ति अपने परिवेश, परम्परा, संस्कृति व जीवन मूल्यों से कटता है; वहीं पूर्वजों से प्राप्त होने वाले ज्ञान, शास्त्र, साहित्य आदि से अनभिज्ञ रहकर अपनी पहचान खो देता है। यही कारण है कि साम्राज्यवादी शासकों ने अपनी सत्ता को दृढ़ता प्रदान करने के लिए और औपनिवेशिक देशों की अस्मिता को समाप्त करने के लिए वहाँ की भाषा एवं शिक्षा व्यवस्था को नष्ट किया। चूँकि भाषा, सम्प्रेषण और विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम मात्र न होकर- किसी समाज से, जाति की अस्मिता से- भी जुड़ी हुई है। इसीलिए समाज की भाषा का नष्ट होना उस समाज की अस्मिता का भी नष्ट होना है। उपनिवेशवादी शासन सत्ता के दौरान ऐसे बहुत सारे समाज एवं जातियों की पहचान मिट गयी, जिन्होंने अपनी भाषा एवं संस्कृति की रक्षा उपनिवेशवादी देशों की भाषा एवं संस्कृति से नहीं की। इसका सशक्त उदाहरण उत्तरी अमेरिका के मूल निवासी हैं, जिनकी भाषा एवं अस्मिता दोनों ही आज लगभग समाप्तप्राय है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा अंग्रेजी के मुखर विरोध का एक कारण यह भी है।"

किसी भी समाज की मातृभाषा (स्वभाषा) उस समाज के संस्कृति की परिचायक ही नहीं बल्कि आर्थिक संपन्नता का आधार भी होती है। मातृभाषा को जब हम अर्थव्यवस्था की दृष्टि से समझने का प्रयास करते हैं तो यह अधिक प्रासंगिक और समय सापेक्ष मालूम पड़ती है। किसी भी समाज की संस्कृति, समाज के खान-पान और पहनावे

[1] मातृभाषा में शिक्षा की दिशा में सार्थक पहल https://www.pravakta.com/meaningful-initiative-towards-education-in-mother-tongue/

[2] "भारत एक बहुभाषा-भाषी देश है। करोड़ों लोग विभिन्न भाषाओं का प्रयोग अपनी मातृभाषा के रूप में करते हैं। उनका समृद्ध और भव्य साहित्य है।....वे समान सांस्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय आकांक्षाओं को व्यक्त करती हैं।" (अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-1965: भाषानीति; आरएसएस आर्काइव)

से परिभाषित होती है। यही खान-पान और पहनावा जब अर्थव्यवस्था का रूप ले लेता है तो यह ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है। आज पूरे विश्व में फास्टफूड के रूप में पिज्जा, बर्गर आदि युवाओं को ज्यादा आकर्षित करते हैं। क्या हमने कभी सोचा है कि विविध प्रकार के भारतीय अल्पाहार मसलन- पोहा, इडली, जलेबी, पिट्ठा आदि वह स्थान क्यों नहीं बना पाया, जो इन पाश्चात्य फास्टफूड (पिज्जा, बर्गर आदि) ने बनाया ? दरअसल यह खाद्य-पदार्थ जिस संस्कृति की उपज हैं, आज वह हम पर हावी है और हमने अपनी रसोई से अपनी मातृभाषा को लगभग लुप्त कर दिया है।

जिस तथाकथित अत्याधुनिक पाश्चात्य सभ्यता पर गौरवान्वित होते हुए हम पाश्चात्य भाषाओं का प्रयोग बढ़-चढ़कर रोजमर्रा के जीवन में उतारते जा रहे हैं; दिन-ब-दिन हम अपने 'मूल' से अलग होते जा रहे हैं। क्षेत्रीय भाषाएँ और बोलियाँ हमारी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक धरोहरें हैं। कोई भी भाषा कितने ही छोटे भौगोलिक क्षेत्र में, भले कम से कम लोगों द्वारा व्यवहृत होने के बावजूद उसमें पारम्परिक ज्ञान का अपरिमित कोष विद्यमान होता है। आज जब अधिकांश युवजन अपने दैनन्दिन व्यवहार में अपनी मातृभाषा की अनुप्रयुक्ति में अपनी हेठी महसूस करते हैं, तो उनके अपने अंचल की भाषाओं का संकटग्रस्त होना या समाप्ति की कगार पर पहुँच जाना ही नियति है। इस दायरे में आने वाली खासतौर से आदिवासी व अन्य जनजातीय भाषाएँ हैं जो लगातार उपेक्षा के कारण विलुप्त होती जा रही हैं। "भारत में ऐसे भी हालात सामने आने लगे हैं, जब किसी एक इंसान की मौत के साथ उसकी भाषा का भी अन्तिम संस्कार हो जाये। 26 जनवरी 2010 के दिन अंडमान द्वीप समूह की 85 वर्षीय 'बोआ' के निधन के साथ ही एक ग्रेट अंडमानी भाषा 'बो' भी हमेशा के लिए विलुप्त हो गयी। 'बो' भाषा-भाषी वह अन्तिम इंसान थीं। इसके पूर्व नवंबर 2009 में एक और महिला (अंडमान की ही) 'बोरो' की मौत के साथ 'खोरा' भाषा का भी अस्तित्व समाप्त हो गया।"[1] कोरोना काल में जब पूरे देश में लॉकडाउन लगा हुआ था, तब अंडमान के दक्षिणी द्वीप में रहने वाली तथा ग्रेट अंडमान जनजातीय समूह से ताल्लुक रखने वाली 'लीचो' नाम की महिला दुनिया से विदा हो गयी। उनकी मृत्यु के साथ ही 'सारे' नामक भाषा भी उसी दिन (4 अप्रैल 2020) इस जहाँ से विदा हो गयी। अपने अन्तिम दिनों में 'लीचो' बीमारियों की असहनीय पीड़ा के साथ अपनी भाषा के मरने की पीड़ा से भी गुजर रहीं थीं। उनके समुदाय के लोग अपनी मातृभाषा से दूसरी भाषाओं में स्थानांतरित हो रहे थे, और अपनी जड़ों से कटते जा रहे थे।"[2] किसी भी भाषा

[1] भाषा के मातृभाषा न रहने के संकट https://www.deshbandhu.co.in/vichar/भाषा-के-मातृभाषा-न-रहने-के-संकट-21905-2

[2] https://www.downtoearth.org.in/hindistory/development/sustainable-development/one-language-dying-every-three-and-a-half-months-77495

की मौत सिर्फ एक भाषा की मौत नहीं होती, बल्कि उसके साथ उस भाषा का ज्ञान-भण्डार, इतिहास, संस्कृति एवं उससे सम्बन्धित तमाम तथ्य भी इतिहास का हिस्सा बन जाते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जिस भारतीयता व संस्कृति का ध्वजवाहक बनकर चल रहा है, भाषा उसका महत्वपूर्ण घटक है। हिंदुस्तान की पहचान उसकी विविधता है। यह विविधता अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ भाषाओं में भी है, बोलियों में भी है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ विविधता में एकात्म संस्कृति का प्रचारक है; इसीलिए वह सभी भारतीय भाषाओं एवं बोलियों को लेकर सजग है। भारतीय भाषाओं के संरक्षण, उनकी बेहतरी और समस्त भारतीय भाषाओं को नजदीक लाने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रेरणा से वर्ष 2015 में 'भारतीय भाषा मंच' की स्थापना की गयी। 'भारतीय भाषा मंच' के संचालक श्री अतुल कोठारी कहते हैं कि- "आज देश के लोगों में अपनी भाषा में बोलने व कार्य करने में स्वाभिमान जागृत करने की आवश्यकता है। इसके लिए प्रत्येक देशवासी को स्वयं अपना उदाहरण देकर अपनी भाषा का ब्रांड-अम्बेसडर बनने का प्रयत्न करना चाहिए।.....भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में संघर्ष शुरू हो गया। आज आवश्यकता है इस मत-भिन्नता का त्याग करते हुए ऐसे मंचों की स्थापना की जाये, जो सार्वजनिक तौर पर भारतीय भाषाओं की बेहतरी व उनके संरक्षण के लिए कार्य करें। 'भारतीय भाषा मंच' इस दिशा में कार्य कर रहा है।"[1]

जनता में जागरूकता शिक्षा के द्वारा ही आ सकती है। शिक्षा के प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि किसी समुदाय या क्षेत्र की जनता को उसी की भाषा एवं बोली में नवीन ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाये। जिससे वह इस नवीन ज्ञान-विज्ञान को आसानी से सीख सके तथा सत्ता एवं शासन में भागीदारी कर सके। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्पष्ट मानना है कि- "देश भर में प्राथमिक शिक्षण मातृभाषा या अन्य किसी भारतीय भाषा में ही होना चाहिए। साथ में राष्ट्रीय सम्पर्क भाषा हिन्दी का उत्तम ज्ञान दिया जाना चाहिए तथा किसी एक विदेशी भाषा के रूप में अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, जापानी, चीनी आदि का सामान्य व्यवहार लायक ज्ञान कराया जाना चाहिए।"[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

---

[1] भारतीय भाषा में संवाद से बढेगा देश का स्वाभिमान : अतुल कोठारी - http://www.vskgujarat.com/भारतीय-भाषा-में-संवाद-से-ब/

[2] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-2008 : शिक्षा राष्ट्रीय प्राणधारा के साथ जुड़े; आरएसएस आर्काइव

द्वारा सुझाए गये इस 'त्रिभाषावाद फार्मूले' से न केवल देशी भाषाओं का संरक्षण होगा, बल्कि देश की शिक्षा पद्धति से विद्यार्थियों को राज्य की आकांक्षाओं, आदर्शों और आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला भी जा सकेगा।[1]

प्रख्यात भाषाविद् जोसेफ पॉथ के अनुसार- "लुप्त होती जा रही विभाषाओं, भाषाओं को, जो अल्पसंख्यक हैं; बचाने के लिए कारगर उपाय यह है- उन भाषाओं को स्कूली पाठ्यचर्चा में स्थान दिया जाये। एक बार इन्हें शिक्षण-भाषा की पदवी दे दी जाये तो वह पुनर्जीवित हो उठेंगी।"[2]

देशी भाषाओं में शिक्षा एवं ज्ञान का प्रसार करने के सन्दर्भ में कुछ लोगों द्वारा यह संदेह व्यक्त किया जाता है कि इसमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान एवं नवाचारों को वहन करने की क्षमता नहीं है। अंग्रेजी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भाषा तथा आधुनिकता की वाहक है। यह सच नहीं है। संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे 'श्री गुरुजी' के शब्दों में कहें तो- "इस तरह की सोच अपनी औपनिवेशिक मानसिक दासता को व्यक्त करती है।"[3] डॉ. ज्ञानतोष झा अपने एक लेख 'औपनिवेशिक सत्ता और भाषावादी विमर्श' में डॉ. शंकरदयाल शर्मा को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि- "विज्ञान तथा तकनीकी विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में ही उचित ढंग से दी जा सकती है, क्योंकि भारतीय भाषाओं में ऐसे विषयों के बारे में आवश्यक संकल्पनाएँ एवं शब्दावलियाँ नहीं हैं। इस बारे में मैं कहना चाहूँगा कि ऐसी धारणाएँ सत्य के प्रति अन्याय करती हैं। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के प्रयोजनों के लिए हमारी भाषाएँ अनुपयुक्त नहीं हैं। वस्तुत: वे तो ठीक इसी प्रयोजन के लिए बहुत ही उपयुक्त हैं। पश्चिम के विशेषज्ञों ने कहा है कि कंप्यूटर संचालन के लिए संस्कृत आदर्श भाषा है। जहाँ तक विज्ञान सम्बन्धी संकल्पना एवं शब्दावलियों का प्रश्न है- विशेषताओं के यथार्थ अध्ययन के आधार पर पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारतीय भाषाएँ पूरी तरह उपयुक्त हैं।"[4] इस उद्धरण में सिर्फ संस्कृत का उल्लेख किया गया है, साथ ही सभी भारतीय भाषाओं में- चाहे वह हिन्दी हो, बंगला हो, तेलुगु हो, कन्नड़ हो, मराठी हो या मलयाली हो- सभी में आधुनिक तकनीकी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है। इसके लिए हमें अपनी भाषा को निरन्तर परिष्कृत एवं नूतन शब्द-संपदा से समृद्ध करना होगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अखिल

---

[1] इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु र. शौरिराजन अपने एक लेख 'भारतीय भाषाओं की अस्मिता और संकट: तमिल के संदर्भ में' में यूनेस्को के भाषा-प्रयोग विभाग के अध्यक्ष विख्यात भाषाविद् जोसेफ पॉथ के हवाले से लिखते हैं कि- "प्रत्येक समाज में त्रिभाषावाद (सूत्र) को बढ़ावा देना है। इस लक्ष्य को कुछ देशों ने बहुत समय पहले हासिल कर लिया था। उदाहरण- लक्समबर्ग। ये तीन भाषाएँ हैं, जो हमें सीखनी है-हमारी मातृभाषा, पड़ोसी भाषा, एक अंतरराष्ट्रीय भाषा। ('भारतीय भाषाएँ और राष्ट्रीय अस्मिता'- संपा.- डॉ. मुकुन्द द्विवेदी, पृष्ठ संख्या- 54)

[2] 'भारतीय भाषाएँ और राष्ट्रीय अस्मिता'- संपा.- डॉ. मुकुन्द द्विवेदी, पृष्ठ संख्या- 54

[3] 'विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 114

[4] 'भाषा की राजनीति और राष्ट्रीय अस्मिता'- सम्पादक- डॉ. ज्ञानतोष झा, पृष्ठ संख्या- 61-62

भारतीय प्रतिनिधि सभा ने देश की स्वतंत्रता के बाद ही इस आवश्यकता को रेखांकित किया था। सभा ने वर्ष 1965 ई. के 'भाषा नीति' प्रस्ताव में सरकार से यह माँग की थी कि- "सभी भाषाओं द्वारा अपनाई जाने वाली वैज्ञानिक एवं अन्य शब्दावलियाँ केन्द्र (सरकार) के निर्देशन में तैयार की जायें।"[1] हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' अपनी पुस्तक 'सर्जना और सन्दर्भ' में लिखते हैं कि- "किसी भी समाज को अनिवार्यत: अपनी भाषा में जीना होगा, नहीं तो उसकी अस्मिता कुण्ठित होगी ही होगी और उसमें आत्म-बहिष्कार या अजनबीयत के विकार प्रकट होंगे ही।"[2]

समाज की अस्मिता को कुंठित होने से एवं उसके आत्म-बहिष्कार के विकार के परिहार हेतु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज की भाषाओं के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु कटिबद्ध है। उसकी इस कटिबद्धता का प्रतिबिम्बन उसके एवं उसके अनुगामी विविध प्रकल्पों (यथा- 'भारतीय भाषा मंच','संस्कृत भारती' आदि) में तो दिखता ही है; राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा के वर्ष 2018 ई. के 'भारतीय भाषाओं के संवर्धन एवं संरक्षण की आवश्यकता' शीर्षक प्रस्ताव में और अधिक प्राञ्जल रूप में दिखता है। इस प्रस्ताव में अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा ने देश की विविध भाषाओं तथा बोलियों के संरक्षण और संवर्धन के लिए सरकारों, अन्य नीति-निर्धारकों और स्वैच्छिक संगठनों सहित समस्त समाज से हर सम्भव प्रयास करने का आह्वान किया गया। प्रस्ताव में देशभर में प्राथमिक शिक्षण मातृभाषा या अन्य किसी भारतीय भाषा में ही कराने की माँग की गयी साथ ही तकनीकी और आयुर्विज्ञान एवं उच्च शिक्षा का शिक्षण भारतीय भाषा में कराए जाने, सभी प्रतियोगी परीक्षाओं को भारतीय भाषाओं में आयोजित कराने, सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी क्षेत्रों में भारतीय भाषाओं को बढ़ावा देने, दैनन्दिन व्यवहार में मातृभाषा को प्राथमिकता देने तथा मातृभाषा का स्वाभिमान रखते हुए अन्य सभी भाषाओं के प्रति सम्मान का भाव रखने का आह्वान किया गया।[3]

---

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)-1965: भाषानीति; आरएसएस आर्काइव

[2] 'सर्जना और सन्दर्भ'- सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, पृष्ठ संख्या- 337

[3] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2018 :'भारतीय भाषाओं के संरक्षण एवं संवर्धन की आवश्यकता'- आरएसएस आर्काइव

2.4- भाषावार प्रान्तों के गठन को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण-

भारत में भाषावार प्रान्तों के गठन के विचार का अंकुर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ही अंकुरित हो गया था। "वर्ष 1917 ई. में 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' ने इस बात को लेकर अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त कर दी थी कि आजादी मिलने के बाद वह भाषाई आधार पर राज्यों के गठन का समर्थन करेगी। उसी साल पार्टी में एक अलग आन्ध्र प्रकोष्ठ और उसके अगले साल एक अलग सिन्ध प्रकोष्ठ का गठन किया गया। 1920 ई. में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के बाद भाषाई क्षेत्र के आधार पर प्रदेश कांग्रेस कमेटियों का गठन कर इस सिद्धान्त को और बढ़ावा दिया गया और इसे औपचारिक बना दिया गया।"[1]

कांग्रेस संगठन को भाषाई आधार पर संगठित करने के प्रयासों का महात्मा गाँधी ने भी स्वागत किया। जब देश को आजादी मिल गयी तो महात्मा गाँधी ने देश में भाषावार प्रान्तों के गठन का विचार रखा। 10 अक्टूबर 1947 को उन्होंने अपने एक सहयोगी को लिखा कि- "मैं इस बात में यकीन रखता हूँ कि हमें भाषाई आधार पर प्रान्तों के गठन पर तेजी से काम करना चाहिए "[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का शुरुआत से ही भाषावार प्रान्तों के गठन के प्रश्न पर कांग्रेसी नेताओं से मतवैभिन्य था। "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिन्तन में किसी भी प्रकार के प्रान्तवाद का कोई स्थान न था।"[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक 'श्री गुरुजी' देश की प्रान्त-रचना, भाषा-सिद्धान्त के आधार पर करने के मुखर विरोधी थे। उनका मानना था कि- "अगर भाषावार प्रान्तों के पुनर्गठन का सिद्धान्त अमल में लाया जायेगा तो हाल ही में विभाजन के दंश को झेल चुके राष्ट्र में पुन: विघटनकारी शक्तियों को ऊर्जा प्राप्त हो जायेगी। पहले से ही टुकड़ों में विभाजित हो चुके राष्ट्र को वे अब और अधिक टुकड़ों में विभाजित नहीं होने देना चाहते थे, इसीलिए इसके मुखर विरोधी थे।"[4] भाषावार प्रान्तों के गठन के जिन दुष्परिणामों की आशंका राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने जाहिर की थी, डॉ. भीमराव अंबेडकर ने भी भाषावार प्रान्तों के गठन के प्रभाव की पूर्व कल्पना करते हुए वैसे ही आशंकायें जाहिर की थीं

---

1. 'भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 225- 226
2. 'भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 226
3. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ: स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 71
4. 'श्री गुरुजी : हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा'- डॉ. जोगेश्वर पटले, पृष्ठ संख्या- 17

।[1] डॉ. अंबेडकर 'एक भाषा, एक राज्य' की नीति के समर्थक नहीं थे; वह 'एक राज्य, एक भाषा' की नीति के समर्थक थे ।[2] स्वतन्त्रता के बाद देश में विभाजन के फलस्वरूप व्यापक उथल-पुथल मची हुई थी । धर्म के आधार पर विभाजित हो चुके राष्ट्र का भाषा के आधार पर कहीं पुनर्विभाजन न हो जाये, इसके प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का तत्कालीन नेतृत्व सशंकित था । राष्ट्र के समक्ष व्यापक स्तर पर गम्भीर प्रशासनिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ विकराल मुँह बाये खड़ी थीं । साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय मान्यतायें 'एक भारत' के विचार के समक्ष चुनौती प्रस्तुत कर रहीं थीं तथा ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन अलगाव की इन प्रवृत्तियों को और भी सशक्त बनायेगा । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दूरदृष्टि वाले नेतृत्व ने प्रारम्भ से ही जिन भयानक स्थितियों की ओर इंगित किया था, वे अब तत्कालीन कांग्रेसी नेतृत्व को भी स्पष्ट होने लगीं थीं । स्वतन्त्रता के तीन महीने बाद संविधान सभा की बैठक में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि- "कांग्रेस ने एक जमाने में भाषाई आधार पर प्रान्तों के गठन का समर्थन किया था, लेकिन बंटवारे के बाद से देश बहुत ही गम्भीर हालातों का सामना कर रहा है । अब देश को विखण्डित करने वाली प्रवृत्तियाँ सामने आ गयी हैं और देश की सुरक्षा और उसकी स्थिरता सबसे जरूरी काम है।"[3]

स्वयं महात्मा गाँधी, जिन्होंने उनके भाषाई आधार पर प्रान्तों के गठन के मत से मतवैभिन्य रखने वाले लोगों के बारे में कहा था कि- ".....मैं इस बात से अनभिज्ञ नहीं हूँ कि लोगों का एक ऐसा वर्ग मौजूद है, जो यह मानता है कि भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन सही नहीं है । लेकिन मेरे विचार में यह वर्ग बाधा उत्पन्न करने में खुशी महसूस करता है ।"[4] उन्हें भी अपने मत की असत्यता का भान हो गया था । नवंबर 1947 ई. में महात्मा ने लिखा कि- "मौजूदा

---

[1] (क) भाषावार प्रांतों के निर्माण के परिणामस्वरुप उतने ही राष्ट्र बन जाएंगे जितने ऐसे वर्ग होंगे, जिन्हें अपनी प्रजाति, भाषा और साहित्य पर गर्व होगा । केंद्रीय सभा राष्ट्रकुल जैसी बन जाएगी और केंद्रीय कार्यपालिका ऐसा समागम मात्र हो जाएगा, जिसमें अनेक अलग-अलग पर संगठित, राष्ट्र होंगे और जिनमें अपनी अलग संस्कृति एवं फलत: अपने अलग हितों के प्रति सजग चेतना कूट-कूटकर भरी होगी । उनमें राजनीतिक अवमानना अर्थात् बहुमत के निर्णय की अवज्ञा अथवा बहिर्गमन कर जाने की प्रवृत्ति जैसी भावनाएं भी उभर सकती हैं । इस प्रकार की भावनाओं के उभार की बिल्कुल अनदेखी नहीं की जा सकती है । यदि ऐसी भावनाएं जाग खड़ी हुईं तो फिर केंद्र सरकार का काम कर सकना असंभव हो जाएगा ।
(ख़) भाषावार प्रांतों का निर्माण केंद्र सरकार और प्रांतीय सरकारों के बीच आवश्यक प्रशासनिक संबंधों के निर्वाह के लिए घातक सिद्ध होगा..... ठंडा दिल और दिमाग रखते हुए कोई ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं कर सकता । ऐसी स्थिति में तो भारत टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा । ऐसी स्थिति में भारत एकजुट नहीं रह सकेगा, वह तो यूरोप बन जाएगा । उसमें चारों और अराजकता और अव्यवस्था का बोलबाला हो जाएगा । {डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय- खंड-1 पृष्ठ संख्या- 116}

[2] डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय- खंड-1, पृष्ठ संख्या- 187

[3] 'भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या-227

[4] 'भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 226

निराशाजनक हालात को देखते हुए भाषाई आधार पर राज्यों के गठन के प्रति अनिच्छुकता शायद न्यायोचित ही है। संकीर्ण भावनाएँ लोगों के मन में सबसे ऊपर हैं, कोई भी पूरे देश के लिए नहीं सोच रहा।"[1] भाषाई आधार पर राज्य पुनर्गठन की माँग को लेकर होने वाले आन्दोलनों के दौरान हुई हिंसा तथा अति उत्साही क्षेत्रवाद को देखकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक 'श्री गुरुजी' ने 'वरं जनहितं ध्येयं, केवला न जनस्तुतिः' के ध्येय को ध्यान में रखकर इस भाषिक अतिरेक का विरोध किया। 'गुरुजी' स्वयं मराठी भाषी थे, परन्तु वे बम्बई को किसी भाषाई आधार पर गठित राज्य से बाहर रखे जाने के पक्षधर थे। पण्डित नेहरू भी ऐसा ही मानते थे। रामचंद्र गुहा अपनी पुस्तक 'भारत : गाँधी के बाद' में लिखते हैं कि- "यह एक दुर्लभ संयोग था कि प्रधानमंत्री और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रमुख के विचार इस मुद्दे पर एक जैसे थे।"[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रमुख की उस सोच से अब नेहरू भी सहमत हो गये थे कि- "भाषाई आधार पर राज्यों के गठन से आपसी कटुता बढ़ेगी और देश की एकता के लिए विभेदकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलेगा।"[3] रामचंद्र गुहा अपनी पुस्तक में आगे लिखते हैं कि- "मई 1954 में एम.एस. गोलवलकर ने मुंबई में हुई 'प्रान्तवाद विरोधी कांफ्रेंस' में भाषण दिया। जो भाषाई आधार पर प्रान्तों के गठन की माँग को 'प्रान्तवाद और विखण्डन के खतरे' के तौर पर देखता था। गोलवलकर ने जोर देकर कहा कि इस तरह 'बहुत सारे राज्यों के गठन से लोगों में आपसी दूरी बढ़ जायेगी।' मेरा सिद्धान्त 'एक राष्ट्र' और 'एक संस्कृति' का समर्थक है। अपने आपको तमिल या मराठी या बंगाली के रूप में देखने से राष्ट्र की महत्ता खत्म हो जायेगी।"[4] संघ के इस दूरदृष्टि वाले दृष्टिकोण का समर्थन बाद में 'भाषावार प्रान्तों के गठन' के सम्बन्ध में सुझाव देने को लेकर गठित हुए आयोगों की सम्मतियों से भी होता है- चाहे वह संविधान सभा द्वारा गठित 'धर आयोग'[5] हो या कांग्रेस द्वारा गठित 'जे.वी.पी.

---

[1] 'भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 227

[2] 'भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 239

[3] 'भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 239

[4] 'भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 239

[5] धर आयोग– "मौजूदा अव्यवस्थित हालात में भारत के लिए यह जरूरी है कि पहले एक राष्ट्र के रूप में सशक्त होकर खड़ा हो। वह कोई भी चीज जिससे राष्ट्रवाद की भावना बढ़ती है, उसे बढ़ावा दिया जाए और जो इसकी राह में बाधक है, उसे खारिज किया जाना चाहिए या उसकी उपेक्षा की जानी चाहिए। हमने इसकी पड़ताल भाषाई राज्यों के संदर्भ में भी की है और हमने अपनी पड़ताल में पाया है कि अभी इसका समर्थन नहीं किया जाना चाहिए।"('भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 229)

समिति'[1] हो या भारत सरकार द्वारा गठित 'राज्य पुनर्गठन आयोग'[2] हो- सब की रिपोर्ट का लब्बोलुआब यही था कि भाषा को ही एकमात्र कारक मानकर राज्यों का पुनर्गठन औचित्यपूर्ण नहीं है।

इन सब के बावजूद जब भाषावार प्रान्तों के गठन की ठहर ही गयी तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने देश को भाषिक अलगाव से बचाने व देश की एकता को मजबूत करने के लिए 'संस्कृत' को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग की। "संघ संस्कृत को एकीकरण की क्षमता से युक्त एक महान विरासत मानता है। संस्कृत ऐसी भाषा है जिसमें सभी मन्दिरों में पूजा की जाती है। फिर चाहे वह केरल का गुरुवयूर मन्दिर हो या असम का कामाख्या मन्दिर। जब सभी लोग इस एकसूत्रता को पहचानेंगे, तो वे अपनी भाषा से इतर कोई दूसरी भारतीय भाषा को सीखने की ओर उन्मुख होंगे और इससे भाषिक एकता का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। यदि इस भाषिक एकता को स्थापित नहीं किया गया तो, इस भाषिक अलगाव के अवांछित सामाजिक प्रभाव होंगे।"[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समान बाबासाहब भीमराव अंबेडकर का भी मानना था कि- "इस देश को भाषाई एकता के सूत्र में बाँध सकने वाली इकलौती भाषा संस्कृत हो सकती।"[4]

2.5 भारत में सर्वाधिक समझी और बोली जाने वाली भाषा 'हिन्दी' के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत में व्यवहृत सभी भाषाओं को यहाँ की राष्ट्रभाषाएँ मानता है।[5] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अनुसार हमारे राष्ट्रीय उत्तराधिकार की विविधता भाषाओं के क्षेत्र में भी व्यक्त होती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे माधवराव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य 'श्री गुरुजी' लिखते हैं कि- "यदि

---

[1] जे.वी.पी. समिति–"भाषा महज एक जोड़ने वाली शक्ति नहीं बल्कि एक दूसरे से अलग करने वाली ताकत भी है। चूँकि अभी प्राथमिक ध्यान देश की सुरक्षा, एकता और आर्थिक विकास पर होना चाहिए, इसीलिए हरेक अलगाववादी और विघटनकारी प्रवृत्तियों को मजबूती से हतोत्साहित किया जाना चाहिए।" ('भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 229)

[2] राज्य पुनर्गठन आयोग (1955)- "किसी भी राज्य की भाषाई समानता प्रशासनिक सुविधा और सक्षमता के लिए महत्वपूर्ण सकारात्मक वजह है।" लेकिन आयोग ने यह भी कहा कि- " 'दूसरे' अन्य तथ्यों और वजहों को नजरअंदाज करके सिर्फ भाषा को ही एकमात्र कारक और लोगों को जोड़ने वाला सिद्धान्त मान लेना उचित नहीं है। 'दूसरी' अन्य वजहों में निश्चित रूप से देश की एकता और सुरक्षा की वजह शामिल थीं।" ('भारत : गाँधी के बाद'- रामचंद्र गुहा, पृष्ठ संख्या- 242)

[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ: स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 127

[4] https://www.jansatta.com/sunday-magazine/jansatta-ravivari-artical-ambedkar-was-a-strong-supporter-of-sanskrit/644281/

[5] उसका मानना है कि- 'वस्तुतः सभी भाषाएँ चाहे वह तमिल हो या बंगला, मराठी हो या पंजाबी हमारी राष्ट्रभाषाएँ हैं। वे सभी भाषाएँ और उपभाषाएँ खिले हुए पुष्पों के समान हैं, जिनसे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की वही सुरभि प्रसारित होती है।' ('विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 113)

हमारे देश में कोई व्यक्ति अपने स्थान से पैदल यात्रा आरम्भ करे और एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के लिए चले तो भाषा में प्रत्येक दस-पन्द्रह मील पर क्रमिक परिवर्तन, एक भाषा से दूसरी भाषा में एक स्वाभाविक रूपान्तर वह अनुभव करेगा तथा सीमा पर उन भाषाओं को एकीभूत होते देखेगा। एक ही भाषा में स्थान-स्थान पर अन्य भाषाओं की निकटता के कारण शब्दों के प्रयोग एवं अभिव्यक्ति में असामान्य अन्तर हो जाता है। इससे यही प्रकट होता है कि यह सभी भाषाएँ आन्तरिक रूप से एक हैं।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भारत में भाषावार प्रान्तों के गठन की माँग के फलस्वरूप उपजे भाषाई वैमनस्य को समाप्त करने के लिए सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी 'संस्कृत' को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने का मत प्रकट किया था, किन्तु दुर्भाग्य से समाज में संस्कृत का व्यवहार दैनन्दिन जीवन में लगभग नगण्य होने के कारण उसे राष्ट्रभाषा बनाने की व्यवहारिक कठिनाइयों को देखते हुए सरसंघचालक रहे 'श्री गुरुजी' लिखते हैं कि- "सम्पूर्ण देश की एक भाषा समस्या के निराकरण के लिए जब तक संस्कृत स्थान नहीं ले लेती, सुविधा हेतु हमें हिन्दी को प्रधानता देनी पड़ेगी। स्वाभाविक रूप से हम हिन्दी के इस स्वरूप को प्राधान्य देंगे, जिसका उद्गम संस्कृत से है एवं जो विज्ञान तथा शिल्प-विषयक परिभाषाओं के ज्ञान के क्षेत्र में अपने भावी विकास के लिए संस्कृत से ही पोषण प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि केवल हिन्दी ही राष्ट्रभाषा अथवा प्राचीनतम भाषा है, अथवा अन्य सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध है। किन्तु हिन्दी हमारे बहुत बड़े जनसमुदाय की बोलने की भाषा बन चुकी है तथा सीखने एवं बोलने में हमारी अन्य सभी भाषाओं की अपेक्षा सरल है। यदि हम काशी अथवा प्रयाग कुम्भ या अन्य किसी मेले के अवसर पर जाते हैं जहाँ लोग सुदूर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम से पवित्र गंगा जी में स्नान के लिए एकत्र होते हैं, वहाँ यह विशाल जनसमुदाय केवल हिन्दी में ही अपने भाव प्रकट कर लेता है, चाहे इनकी वह हिन्दी कितनी ही अपरिष्कृत क्यों न हो।"[2] श्री गुरुजी के ये विचार पण्डित मदन मोहन मालवीय के विचारों से साम्य रखते हैं।[3]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दी के जिस रूप को महत्ता देता है वह संस्कृतनिष्ठ 'तत्सम रूप' है। वह हिन्दी जो ज्ञान-विज्ञान तथा शिल्प-विषयक परिभाषाओं के ज्ञान के क्षेत्रों में अपने भावी विकास के लिए संस्कृत से ही पोषण

---

[1] 'विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 112

[2] 'विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 114-115

[3] पं. मदन मोहन मालवीय ने कहते हैं कि- "हिंदी भाषा का भी इस्तेमाल सारे देश में बहुत प्राचीन काल से होता आया है। वह कौन सी भाषा है जो वृंदावन, बद्रीनारायण, द्वारिका, जगन्नाथपुरी इत्यादि चारों धाम तथा एक समान धार्मिक यात्रियों को सहायता देती है। वह एक हिंदी भाषा है। यह 'लिंगुआ-फ्रैंका'- लिंगुआ फ्रैंका क्यों ?- 'लिंगुआ इंडिका' है।" (प्रतिमान पत्रिका- सम्पादक- अभय कुमार दुबे, पृष्ठ संख्या- 269)

प्राप्त करती है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि- "किसी भाषा के अन्तर्गत संस्कृत शब्दों का परिमाण उसकी संस्कृति के अनुरूप ही रहा।" वे आगे लिखते हैं कि- "भारत की दो भाषाएँ जिनमें संस्कृत शब्दावली का बाहुल्य है, भारत के पूर्वी और दक्षिणी छोरों पर बोली जाती हैं- एक पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में, दूसरी केरल में। यह भाषाएँ इतनी दूर हैं कि इनमें लिंग भेद नहीं है। मानो इस दूरी को उन्होंने संस्कृत शब्दों की बहुलता से पूरा कर लिया है।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाला संगठन है। प्रतिवर्ष विजयादशमी को जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के केन्द्रीय कार्यालय, नागपुर से सरसंघचालक का स्वयंसेवकों को सम्बोधन होता है तो वह हिन्दी में होता है। उसमें संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता है। ऐसा इसलिए किया जाता है, क्योंकि कोई भी देशवासी, चाहे वह देश के किसी भी भाग- उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम का रहवासी क्यों न हो, कोई भी भाषा-भाषी क्यों न हो; वह पूरा तो नहीं मगर अधिकतर बातें सम्भाषण की ग्रहण करने में समर्थ होता है। यह संस्कृतनिष्ठ शब्दों के प्रयोग के कारण ही सम्भव होता है। तेरहवीं सदी के तेलुगु कवि 'तिक्कन्ना' की एक तेलुगु कविता, जिसमें उन्होंने संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया है-

"सकल वर्ण धर्म संकर रक्षयु
संधि विग्रहारि षड्गुणुमुलु
नलय करयुटयुनु नर्घ सम्यगुपार्ज
नमुनु नृपति येपुडु नडुप वलयु।"[2]

यह कविता किसी भी गैर-तेलुगु भाषी को लगभग समझ में आ सकती है। ऐसा इसलिए सम्भव है, क्योंकि इसमें कवि ने संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया है, जिसे गैर-तेलुगु अन्य भारतीय भाषा-भाषी भी समझते हैं।

हरियाणा प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मलेन, रोहतक में 2 मार्च 1950 ई. को दिए गए अपने एक अभिभाषण में श्री गुरुजी ने हिन्दी के विषय में विस्तार से चर्चा की। उन्होंने कहा कि- "मुगलों ने फारसी भाषा व अंग्रेजों ने अंग्रेजी भाषा को व्यवहार का माध्यम बनाया, परंतु अब देश स्वतंत्र हुआ है। अब अपनी स्वतः की भाषा ही उनकी जगह आ

[1] 'भाषा और समाज'- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या-207

[2] उद्धरित, 'भाषा और समाज'- डॉ. रामविलास शर्मा (भावार्थ-: समस्त वर्णाश्रम धर्मों की रक्षा करना, सन्धि-विग्रह आदि षड्गुणों के पालन का ध्यान रखते हुए समुचित , धन का उपार्जन करके जो राजा राज्य का संचालन करता है, उसको नमन।)

सकती है। इस स्थिति में गीर्वाण वाणी संस्कृत की कन्या हिन्दी का ही वहाँ स्थानापन्न होना योग्य है। सर्वप्रांतीय भाषाएँ यद्यपि समान हैं तो भी सार्वजनीन, सार्वदेशिक व राजकीय व्यवहार के लिए एक ही भाषा रहना आवश्यक है। यह भाषा सर्वाधिक विस्तृत, सहज तथा सर्वाधिक लोगों को समझ आनेवाली 'हिन्दी' हो सकती है। इसलिए हिन्दी को वह स्थान प्राप्त होना ही सुयोग्य है। ऐसा होने से प्रांतीय भाषाओं का महत्त्व कम होगा, ऐसा नहीं। सर्व देशभर में हिन्दी का जो स्थान है, वह अपने-अपने प्रांत में प्रांतिक भाषाओं को है। वो भी हमारी ही हैं, परंतु सर्वदेशीय व्यवहार के लिए एक भाषा ही हो सकती है, वह स्वाभाविकतः हिन्दी है।"[1]

हिन्दी के कुछ तथाकथित प्रगतिशील विचारकों का मत है कि- हिन्दी जैसी भाषाओं में जो तद्भव शब्द मिलते हैं वे तो अपभ्रंश के प्रभाव हैं, और जो तत्सम रूप मिलते हैं, वे हिंदुत्व के पुनर्जागरण का परिणाम हैं।[2] हिन्दी के तद्भव-तत्सम रूपों के अनुपात की जो धर्माधारित व्याख्या की गयी है उससे मेरी असहमति है। इस मामले में मेरी सहमति डॉ. रामविलास शर्मा के उस कथन के साथ है जिसमें वे कहते हैं- " 'नगर' शब्द देहात में भरा पड़ा है। गाँव से लेकर शहरों तक के नाम के साथ 'नगर' जुड़ा है, लेकिन स्वयंभू (अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि) के यहाँ 'नगरी' के लिए 'णयरी' है। यदि 'णयरी' की जगह हिन्दी का कवि 'नगरी' लिखने लगे, तो इसमें हिंदुत्व के उत्थान की कौन सी बात हुई ?"[3] वे आगे लिखते हैं- "जब आधुनिक भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगा, तब स्वभावत: साहित्यकारों ने संस्कृत का ही अधिक सहारा लिया। इसका कारण इस्लाम की प्रतिक्रिया या हिन्दू नवजागरण न था, कारण था संस्कृत का साहित्यिक महत्व और बोलचाल की भाषाओं से उसका सम्बन्ध।"[4]

उपरोक्त विवरण देने का कारण यह स्पष्ट करना था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हिन्दी के संस्कृतनिष्ठ रूप के आग्रह के पीछे कोई धार्मिक आग्रह नहीं है। अपितु संस्कृत का साहित्यिक महत्व और देश की लगभग सभी आधुनिक बोलचाल की भाषाओं से उसका सम्बन्ध होना है। जिसके माध्यम से वह गैर-हिन्दी भाषी लोगों को भी सम्प्रेष्य होती है।

---

[1] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड-5, पृष्ठ संख्या- 12

[2] "हिंदी बोलियों के उदय काल में जो संस्कृत और फारसी तत्सम शब्दों के आगमन के बावजूद तद्भव शब्दों का जोर है, वह तेरहवीं सदी के सांस्कृतिक-पुनर्जागरण की लोकोन्मुखी प्रकृति का प्रभाव है और उसमें जो संस्कृत और फारसी तत्सम शब्दों का आगमन है, वह हिंदुत्व और इस्लाम के शास्त्रीय संस्कारों के पुनरुत्थान का परिणाम है।" (हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग- डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या-156-157)

[3] 'भाषा और समाज'- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या- 232

[4] 'भाषा और समाज'- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या- 237

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह हिन्दी को एकमात्र राष्ट्रभाषा बनाना चाहता है, और इसे देश की गैर-हिन्दी भाषी आबादी पर थोप देना चाहता है। तथ्यों के निष्पक्ष विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यह आरोप मिथ्या है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी 'ऑर्गेनाइजर' पत्रिका को दिये अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं कि- "मैं अपनी सभी भाषाओं को राष्ट्रभाषा मानता हूँ। वे समान रूप से हमारी राष्ट्रीय विरासत हैं। हिन्दी उनमें से एक है, जिसे इसके देशव्यापी उपयोग के आधार पर राजभाषा के रूप में अपनाया गया है।"[1] संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा द्वारा वर्ष 1965 ई. में पारित 'भाषा नीति' नामक प्रस्ताव में भी इस बात की झलक हमें मिलती है जिसमें सभा ने तीन सुझाव दिये[2] -

(1) भारत की सभी भाषाएँ राष्ट्रीय हैं और उन्हें समान स्तर प्रदान किया जाना चाहिए।

(2) हिन्दी केन्द्र में और क्षेत्रीय भाषाएँ अपने-अपने प्रान्त में प्रशासनिक भाषा के रूप में प्रयुक्त हों।

(3) सबके लिए हिन्दी भाषा का व्यवहारिक ज्ञान और जिनकी मुख्य भाषा हिन्दी है, उनके लिए किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य बना दिया जाना चाहिए।

इसी प्रकार कुछ लोगों की हिन्दी को लेकर यह आपत्ति कि- यह गैर-हिन्दी भाषी लोगों को हिन्दी भाषी लोगों की तुलना में नुकसान पहुँचाएगी- सरसंघचालक 'श्री गुरुजी' इस आपत्ति को सिरे से खारिज करते हैं। वे कहते हैं- "कुल मिलाकर यह एक गलत धारणा है। तथ्य यह है कि 'खड़ी बोली' जिसे हिन्दी के रूप में स्वीकार किया गया है, दिल्ली-मेरठ क्षेत्र में केवल कुछ मिलियन की मातृभाषा है। अधिकांश अन्य तथाकथित हिन्दी भाषी लोग अपने घरों में खड़ी बोली नहीं बोलते हैं। वे पहाड़ी से लेकर राजस्थानी और अवधी से लेकर मगही, ब्रज और मैथिली आदि कई तरह की भाषाएँ बोलते हैं। उन सभी को उतनी ही हिन्दी सीखनी है जितनी किसी बंगाली या मराठी या तेलुगु या मलयाली को।"[3]

---

[1] "I consider all our languages as national languages":Sri Guruji Golwalkar on 'The Language Problem' https://organiser-org.translate.goog/2022/04/30/78588/bharat/i-consider-all-our-languages-as-national-languages-sri-guruji-golwalkar-on-the-language-problem-2/?_x_tr_sl=en&_x_tr_tl=hi&_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc,sc

[2] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा, (प्रस्ताव)- 1965: भाषानीति; आरएसएस आर्काइव

[3] "I consider all our languages as national languages":Sri Guruji Golwalkar on 'The Language Problem' https://organiser-org.translate.goog/2022/04/30/78588/bharat/i-consider-all-our-languages-as-national-languages-sri-guruji-golwalkar-on-the-language-problem-2/?_x_tr_sl=en&_x_tr_tl=hi&_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc,sc

हिन्दी के उत्थान के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए श्री गुरुजी कहते हैं- "हिन्दी विषयक प्रस्ताव पारित कर घर बैठे तो कुछ नहीं होनेवाला। हमें हिन्दी को सच्चे अर्थ में संपन्न भाषा बनाना है। हिन्दी के विषय में प्रखर स्वाभिमान की भावना जागृत करनी चाहिए। अपने कर्तृत्व से जगत् की सर्वश्रेष्ठ भाषाओं में उसे सन्मान्य स्थान प्राप्त करा देंगे ऐसा आत्मविश्वास जगाना पडेगा। आखिर इंग्लिश सब जगत की भाषा कैसे बनी ? उसका सर्वत्र हुआ प्रसार यह अंग्रेजों के कर्तृत्व का ही फल है। हम ऐसा निश्चय करें कि हिन्दी को केवल भारतवर्ष की ही नहीं तो संपूर्ण जगत् की भाषा बनाकर रहेंगे। अपने प्रयत्नों से हिन्दी को ऐसी उर्जितावस्था प्राप्त करा देंगे कि जिससे अपने देश के ही नहीं तो सारे जगत् के विद्वान् हिन्दी का अध्ययन गौरवास्पद मानेंगे। इस आत्मविश्वास से आगे चलें। हिन्दी को उस स्थान पर पहुँचाने के लिए प्रचंड कार्यशक्ति आवश्यक है। यह कार्य सबकी एकत्रित व संगठित शक्ति से ही संभव है। इस दृष्टि से अपनी सब शक्ति इस कार्य में लगाकर हिन्दी को उसका योग्य स्थान शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करा देंगे।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश की सभी भाषाओं को राष्ट्रीय भाषाएँ मानते हुए, उसमें निहित प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के प्रचुर रिक्थ के अवगाहन का आह्वान करते हुए, देश की सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा 'हिन्दी' को राष्ट्रीय सम्पर्क भाषा (लिंक्ड लैंग्वेज) के रूप में स्वीकार का हिमायती है। संघ का कहना है कि- "पूरे भारत की एक भाषा, जो हम बनायेंगे, वह श्रेष्ठ है इसलिए नहीं, आज के समय में सर्वाधिक उपयुक्त है, इसलिए बनायेंगे।"[2]

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के भाषाई चिंतन की चर्चा की गयी है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाला सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन है। ध्यातव्य है- भाषा, समाज और संस्कृति के अनन्य घटकों में से एक है, इसीलिए भाषा के सन्दर्भ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मंतव्य का विवेचन आवश्यक था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत की भाषाई विविधता का पूर्ण सम्मान करता है और भारत की

---

[1] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड-5, पृष्ठ संख्या- 12-13

[2] 'भारत का भविष्य: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ. मोहनराव भागवत, पृष्ठ संख्या- 76

सभी भाषाओं को राष्ट्र की 'राष्ट्र-भाषा' मानता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि सभी भाषाओं का अपना समृद्ध और भव्य साहित्य है और ये भाषाएँ समान सांस्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करती हैं। देश की स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने देश के राज-काज की माध्यम भाषा किसी भारतीय भाषा को बनाने की माँग की। आजादी के बाद भी औपनिवेशिक शासकों की भाषा अंग्रेजी के अनुप्रयोग (प्रशासनिक कार्यों के स्तर पर) और उसके वर्चस्व का संघ ने विरोध किया और उसके बरक्स भारतीय भाषाओं की स्थापना का प्रयत्न किया। भाषा जहाँ एक तरफ लोगों को जोड़ने की शक्ति रखती है, वहीं उसमें तोड़ने की शक्ति भी निहित होती है। आजादी के बाद भाषावार प्रांतों के गठन की माँग को लेकर होने वाले हिंसक आंदोलनों ने इसकी पुष्टि की। धर्म के आधार पर पहले ही विभाजित हो चुके राष्ट्र को आजादी के बाद भाषा के आधार पर विभाजित करना देश के संघीय ढांचे के लिए घातक हो सकता है, इस आशंका के कारण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भाषावार प्रांतों के गठन का विरोध किया; लेकिन जब भाषावार प्रान्तों के गठन की ठहर ही गयी तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने देश को भाषाई विखंडन से बचाने के लिए तथा देश की एकता के सूत्र को मजबूत करने के लिए कई उपक्रम किये। मसलन- उसने देश की 'एक भाषा' की समस्या के निराकरण के लिए 'संस्कृत' का प्रस्ताव किया। क्योंकि संस्कृत से लगभग सभी भारतीय भाषाएँ अपना उपजीव्य लेती हैं, जिसके कारण हर भाषा-भाषी संस्कृत के शब्दों को थोड़ा-बहुत समझने में सक्षम होता है (किसी अन्य भाषा की अपेक्षा)। लेकिन संस्कृत को राष्ट्र-भाषा बनाने की व्यावहारिक कठिनाई यह थी कि- यह बहुत कम लोगों द्वारा व्यवहृत भाषा थी। इसलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने संस्कृत के स्थान पर देश की बहुसंख्यक जनता द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा 'हिन्दी' को राज-काज की भाषा (राष्ट्रभाषा) बनाने का समर्थन किया। इसका मतलब यह नहीं था कि केवल हिन्दी ही राष्ट्रभाषा या प्राचीनतम भाषा है अथवा अन्य सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध है, किंतु हिन्दी बहुत बड़े जनसमुदाय की बोलने की भाषा है तथा वह सीखने-बोलने में अन्य सभी भाषाओं की अपेक्षा सरल है; इसलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित करने की बात की। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दी के संस्कृतनिष्ठ (तत्सम) रूप का पक्षधर है, ताकि वह अधिकतम लोगों को समझ में आ सके। साथ ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश की सभी भाषाओं के संरक्षण व संवर्धन के लिए भी प्रयासरत है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने देश में शिक्षा की माध्यम भाषा किसी भारतीय भाषा को बनाये जाने की माँग अपनी अ.भा.प्र.स. के विभिन्न प्रस्तावों में की है। संघ ने त्रिभाषावाद के सूत्र को अपनाने का सुझाव दिया, जिसमें प्रत्येक नागरिक से अपनी मातृभाषा सीखने

के साथ-साथ देश की सम्पर्क भाषा हिन्दी और कोई एक अन्तरराष्ट्रीय भाषा को सीखने का आह्वान किया गया है। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, उन्हें कोई एक अन्य भारतीय भाषा सीखने का सुझाव दिया गया है। अपने इन्हीं विविध प्रयासों के माध्यम से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने समाज का ऐसा मन तैयार करने का प्रयास किया जिससे भाषावार प्रांतों के गठन के बाद उत्पन्न होने वाली अलगाव की आशंकाओं को निर्मूलित किया जा सके। यह इन प्रयासों (जिसमें निश्चित रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अतिरिक्त भी विभिन्न प्रयास शामिल हैं) का ही सुफल है कि भाषाई आधार पर राष्ट्र से राज्यों के अलगाव की आशंकाओं को अब तक के अनुभवों ने खारिज किया है। भारत से भाषा के आधार पर अलग होने की किसी माँग को अब तक कभी जनसमर्थन मिला हो ऐसा उदाहरण देखने को नहीं मिला है। इन सबके पीछे विभिन्न संगठनों, सरकारों के प्रयासों के साथ ही एक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन होने के नाते राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भी महत्वपूर्ण भूमिका है।

तृतीय-अध्याय

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सामाजिक चिंतन

- **3.1** व्यक्ति-निर्माण
- **3.2** समाज
- **3.3** राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'समाज' की अवधारणा
- **3.4** समष्टि के पुरुषार्थ
    - **3.4.1** समाज का धर्म
    - **3.4.2** समाज का अर्थ
    - **3.4.3** समाज का काम
    - **3.4.4** समाज का मोक्ष
- **3.5** व्यक्ति और समाज
- **3.6** कुटुम्ब
- **3.7** विवाह
- **3.8** अन्तरजातीय विवाह तथा लिव-इन-रिलेशनशिप
- **3.9** वर्ण-व्यवस्था
- **3.10** जाति-व्यवस्था
- **3.11** महिलाओं को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण
- **3.12** समलैंगिकों व तृतीयपंथियों (किन्नरों) को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण
- **3.13** शिक्षा

- **3.14** धर्म
- **3.15** सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सामाजिक चिन्तन

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने स्थापना काल से ही समाज के संगठन के निमित्त प्रयासरत है। देश में सन 1857 ई. के गौरवशाली स्वातंत्र्य-समर की विफलता के बाद विद्वानों के विचार-विमर्श के बाद समाज की जागृति के जो प्रयास प्रारम्भ हुए, उसकी चार प्रमुख मान्यताएँ दिखायी देती हैं। पहली मान्यता के अनुसार- सशस्त्र क्रांति का एक प्रयास विफल हुआ तो क्या हुआ, हमें इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए अग्रसर होना चाहिए। इस मान्यता का अनुसरण करने वालों ने क्रांति के अनेक प्रयास किये। 1945 ई. में सुभाषचंद्र बोस के विमान के अंतर्धान हो जाने तक यह धारा चली। दूसरी मान्यता के अनुसार अपने देश के लोगों में राजनैतिक जागरूकता कम है। सत्ता किसकी है, इसका क्या महत्व है; इससे लोग कम परिचित हैं। इसलिए अपने देश के जनमानस को राजनैतिक रूप से जागृत करना चाहिए, इस मान्यता को मूल में रखकर कांग्रेस के रूप में एक बड़ा आन्दोलन पूरे देश में खड़ा हुआ। तीसरी मान्यता ने 'अपने मूल पर वापसी' का नारा दिया। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानंद जी जैसे कई महापुरुषों ने अपने मूल पर दृढ़ता से खड़े होकर समाज से दारिद्र्य और अज्ञान भगाने के लिए सेवा करने का संदेश दिया। चौथी मान्यता हमारे समाज में ही सुधार की आवश्यकता पर बल देती थी। समाज में इतने सारे स्वार्थ हैं, विभेदों के इतने स्तर हैं, व्यक्तियों में चारित्रिक स्खलन है, आपस में भाषा, प्रान्त, जाति, उपजाति आदि के इतने विभेद हैं, साथ ही समाज में अशिक्षा है, दारिद्र्य है; इन सब का परिहार किये बिना हम अंग्रेजों के सामने खड़े होकर मुकाबला करने की शक्ति नहीं रख सकते।

गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर का 'स्वदेशी' नामक एक निबन्ध है, जिसमें वे कहते हैं कि- "एकात्मता की जरूरत है, आपस में झगड़े नहीं चलेंगे और झगड़े का उपाय हमको मिल सकता है, क्योंकि हमारे पास सब विविधताओं को एक साथ चलाने का परम्परा से विचार है, संस्कृति है परन्तु ये परिवर्तन राजनीति में परिवर्तन होने के कारण नहीं आता, समाज में परिवर्तन होना चाहिए। समाज में परिवर्तन होगा तो समाज जीवन के सारे क्रियाकलाप अपने आप परिवर्तित हो जायेंगे। वहाँ से शुरू करके यहाँ नहीं पहुँचा जा सकता, यहाँ से शुरू करके वहाँ पहुँचना पड़ेगा।"[1]

[1] उद्धरित, 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या-16

भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना करने वाले सर मानवेंद्र नाथ राय जो बाद में रेडिकल ह्यूमेनिस्ट बने, उन्होंने अपनी एक पुस्तक 'द रेडिकल ह्यूमेनिज्म' में लिखा है कि- "ऊपर-ऊपर परिवर्तन करके, समाज को बिना बदले अगर देश में परिवर्तन का प्रयास करेंगे तो वह सम्भव नहीं होगा। हमें समाज के सामान्य व्यक्तियों के पास पहुँचकर, उनकी गुणवत्ता में और उनकी सोच में परिवर्तन लाना पड़ेगा। ये रास्ता बहुत लम्बा दिखता है लेकिन अगर यही एक रास्ता है तो यही सबसे छोटा रास्ता है। अन्य शार्टकट ढूंढेंगे तो Shortcut will cut you short."[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्पष्ट मानना है कि यदि हमें राष्ट्र के समक्ष आसन्न चुनौतियों का दृढ़ता से सामना करना है तो इसके लिए हमें समाज को दृढ़ करना होगा। उसे संगठित करना होगा। संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार का मानना था कि- 'हमें सम्पूर्ण समाज को संगठित करना है, उसमें अपना अलग संगठन नहीं खड़ा करना है। यह छोड़कर हमको दूसरा कोई काम नहीं करना है; क्योंकि ऐसा समाज खड़ा होने के बाद जो होना चाहिए, वह अपने आप होगा। उसके लिए और कुछ नहीं करना पड़ेगा।'[2]

प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के 'समाज संगठन' के विविध पक्षों व समाज के विविध पहलुओं से सम्बद्ध चिन्तन का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

3.1- व्यक्ति-निर्माण-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ व्यक्ति-निर्माण को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है। उसका मानना है कि व्यक्ति-निर्माण से ही समाज-निर्माण और समाज-निर्माण से ही देश-निर्माण सम्भव है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के अनुसार- "संघ की स्थापना के मूल में जो विचार है उसके तीन हिस्से हैं- पहला, समाज का परिवर्तन होने से सारी व्यवस्थाएँ यशस्वी होती हैं। दूसरा, व्यवस्था अच्छी है, व्यक्ति खराब है तो व्यवस्थाएँ बिगड़ती हैं। तीसरा, व्यक्ति अच्छे हैं, व्यवस्था खराब है तो व्यक्ति को व्यवस्था बिगाड़ देती है। इसलिए दोनों को अच्छा होना चाहिए और प्रारम्भ समाज से होता है क्योंकि व्यवस्थाओं को बदलने वाले व्यवस्था के लोग कभी नहीं हो सकते, वे

[1] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या-16

[2] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या-21

तो व्यवस्था में हैं। वे बदलेंगे तो उन पर ही खतरा है। समाज का दबाव व्यवस्थाओं को बदलता है इसलिए हर परिवर्तन के पीछे कोई न कोई समाज-जागृति है। लेकिन समाज का आचरण व्यक्ति-निर्माण से बदलेगा।"[1]

संघ में जब व्यक्ति-निर्माण की बात अत्यन्त आग्रहपूर्वक बार-बार दोहराई जाती है, तो अधिकतर लोगों को जो संघ की कार्य-पद्धति से परिचित नहीं हैं, समझ में नहीं आती है। उन्हें लगता है कि जब हम मनुष्य (व्यक्ति) हैं ही तो व्यक्ति-निर्माण की बात का क्या औचित्य ? मैंने संघ विचारक श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी जी के जीवन-दर्शन खण्ड-7 में एक कविता पढ़ी थी-

'Wanted Men!

Not systems fil and wise

Not faith, with rigid eyes,

Not wealth in mountain piles

Not power with gracious smiles

Not even the potent pen

Wanted Men.'[2]

यह कविता पढ़ने के बाद संघ के व्यक्ति-निर्माण की बात याद आई। केवल दो हाथ, दो पैर होने भर से कोई मनुष्य नहीं बन जाता। मनुष्य बनने के लिए कुछ करना पड़ता है, इसी आलोक में संघ के व्यक्ति-निर्माण की बात ध्यान में आती है। आज हर व्यक्ति की चाह भेद-मुक्त, समता-युक्त, शोषण-मुक्त, निःस्वार्थी समाज की है। यदि देश के प्रत्येक गाँव, प्रत्येक गली, मोहल्ले में स्वतंत्र भारत के नागरिक का जैसा आचरण होना चाहिए वैसा आचरण करने वाले, हर परिस्थिति में उसको न छोड़ने वाले, उस पर अडिग रहने वाले, चारित्र्य-संपन्न, सम्पूर्ण समाज से अपना आत्मीय सम्पर्क रखने वाले लोग खड़े हो जायेंगे, तो उस वातावरण में समाज का आचरण बदलेगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भी यही मानना है; इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की योजना प्रत्येक गाँव में, प्रत्येक मोहल्ले में अच्छे स्वयंसेवक खड़े करना है। अच्छे स्वयंसेवक का अर्थ है- जिसका अपना चरित्र

---

[1] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 21

[2] दत्तोपंत ठेंगड़ी जीवन दर्शन,खण्ड-7, सम्पादन- अमरनाथ डोगरा, पृष्ठ संख्या- 6

विश्वासास्पद, शुद्ध है। जो सम्पूर्ण समाज को, देश को अपना मानकर काम करता है। किसी को भेदभाव से, शत्रुता के भाव से नहीं देखता और इसके कारण जिसने समाज का स्नेह और विश्वास अर्जित किया है, ऐसा आचरण करने वाले लोगों की टोली प्रत्येक गाँव, प्रत्येक मोहल्ले में खड़ी हो।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए एक विशिष्ट पद्धति का विकास किया है, वह है- 'शाखा पद्धति'। संघ की शाखा को व्यक्ति-निर्माण की प्रयोगशाला भी कहा जाता है, जिसके द्वारा व्यक्ति का मन, बुद्धि एवं शरीर इस प्रकार से प्रशिक्षित होता है कि वह हमारे महान समाज के संगठित कलेवर का एक सजीव अंग बन जाता है। शाखा में नियमित रूप से जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उसके द्वारा आपसी भाईचारे एवं सामूहिक कामों को अच्छी तरह से करने की भावना का उदय होता है। इससे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को निखारने की प्रेरणा मिलती है तथा समाज में अपने शेष बन्धुओं के साथ ऐक्य की भावना का व्यवहार एवं दूसरों के भिन्न दृष्टिकोणों से अपना मेल बैठाते हुए संगठित और अनुशासित जीवन पद्धति में खड़े होने की योग्यता प्राप्त होती है। शाखा में एकत्रित व्यक्ति (स्वयंसेवक) एक ही (मुख्य शिक्षक) की आज्ञा का साथ-साथ पालन करना सीखते हैं, इससे अनुशासन इनके रक्त में प्रविष्ट होता है। शरीर के अनुशासन से मन का अनुशासन अधिक महत्वपूर्ण होता है। वे अपने व्यक्तिगत आवेगों एवं संवेगों को महान राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर उन्मुख करना सीखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा में निर्मित होने वाला आदर्श अनुशासन स्वेच्छा से गृहीत होता है, क्योंकि वह राष्ट्र के लिए अनन्य समर्पण की भावना से उत्पन्न होता है। इस प्रकार का अनुशासन व्यक्ति में छिपी सुप्त शक्तियों को राष्ट्रहित के साथ जोड़कर प्रस्फुटित और समृद्ध करता है। संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी के शब्दों में कहें तो- "पूर्ण विकसित पुरुषोचित सद्गुणों के साथ पारस्परिक स्नेह तथा सहयोग की भावना से ओत-प्रोत एवं स्वत:स्फूर्त अनुशासन के बन्धन से बद्ध, एक साथ कार्य करने के लिए पूर्ण एवं नित्य सिद्ध व्यक्ति ही राष्ट्रीय शक्ति के अक्षय भण्डार का निर्माण करते हैं।"[2]

---

[1] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 20

[2] 'विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या-410

3.2- समाज-

मानव समाज का आधार उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषता है । समाज एक व्यापक शब्द है, समाजशास्त्रीय भाषा में- समाज दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समुदायों से मिलकर बने एक वृहद् समूह को कहते हैं जिसमें सभी व्यक्ति मानवीय क्रियाकलाप करते हैं। मानवीय क्रियाकलाप में आचरण, सामाजिक सुरक्षा और निर्वाह आदि की क्रियाएं सम्मिलित होती हैं। समाज एक ऐसा सुव्यवस्थित समूह है जहाँ पर समान विचारों वाले एवं भिन्न विचारों वाले व्यक्ति एक साथ निवास करते हैं। समाज के अपने नियम-कानून, विधि-विधान एवं परम्परायें होती हैं। यही सब सभी व्यक्तियों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करती हैं। समाज में प्रचलित ये नियम-कानून, परम्परायें समय के साथ बदलती रहती हैं। समाज की ये परिवर्तनशीलता समाज को सतत गतिशीलता प्रदान करती है।

अगर हम 'समाज' शब्द के अर्थ की बात करें तो हिन्दी के विविध शब्दकोशों में उसके विविध पर्याय प्राप्त होते हैं। 'हिन्दी शब्दसागर'[1] में 'समाज' शब्द का अर्थ है- समाज= सम+आज (पु.) (1) समूह, संघ, गिरोह, दल (2) सभी एक स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार के व्यवसाय करने वाले वे लोग जो मिलकर एक समूह बनाते हैं, समुदाय। जैसे- शिक्षित समाज और वणिक समाज। (3) समाज वह संस्था है जो बहुत से लोगों ने एक साथ मिलकर किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित की हो। जैसे- संगीत समाज, साहित्य समाज आदि। 'वृहद् हिन्दी कोश'[2] में समाज का अर्थ- मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ, दल, सभा, समिति आदि से लिया गया है।

विविध भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने भी समाज को परिभाषित करने का प्रयास किया है। प्रख्यात समाजवादी चिन्तक डॉ. संपूर्णानंद अपनी पुस्तक 'समाजवाद' में समाज का अर्थ बताते हुए लिखते हैं- "समं अजन्ति जनाः अस्मिन इति' यह समाज का अर्थ है। जिसमें लोग मिलकर एक साथ, एक गति से, एक से, चलें वही समाज है।"[3]

---

[1] 'हिंदी शब्दसागर', सम्पादक-श्याम सुन्दरदास, पृष्ठ संख्या-4968

[2] 'वृहद् हिंदी कोश', सम्पादक-मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव,कालिकाप्रसाद राजवल्लभ, पृष्ठ संख्या-120

[3] डॉ. सम्पूर्णानंद परिभाषा में आये वाक्य-'एक साथ' या 'एक से चलने' का स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि- "एक साथ या एक से चलने का अर्थ फौजी सिपाहियों की भाँति किसी एक दिशा में कदम मिलाकर चलना नहीं है। तात्पर्य तो यह है कि लोगों की, उन लोगों की जो समाज के अंग हों, परिस्थिति एक सी हो, उनके प्रयत्न और उद्देश्य एक से हों। इसका यह अर्थ नहीं है कि सब लोग एक ही प्रकार का वस्त्र पहनते हों, हर बात में एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति का प्रतीक या छाया हो। ऐसा न तो सम्भव है, न उचित। पर यह सम्भव है कि सब लोगों के प्रयत्न एक-दूसरे के पूरक हों अर्थात् लोग भिन्न-भिन्न कामों में लगे हों पर उन सब कामों के फलस्वरूप सबका कल्याण हो।" ('समाजवाद'- डॉ.सम्पूर्णानंद, पृष्ठ संख्या- 1)

महादेवी वर्मा अपने एक निबन्ध 'समाज और व्यक्ति' में समाज को परिभाषित करते हुए लिखती हैं- 'समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की सार्वजनिक रक्षा के लिए, अपने विषम आचरणों में साम्य उत्पन्न करने वाले कुछ सामान्य नियमों से शासित होने का समझौता कर लिया है। मनुष्य को समूह बनाकर रहने की प्रेरणा पशु-जगत् के समान प्रकृति से मिली है, इसमें संदेह नहीं; परंतु उसका क्रमिक विकास विवेक पर आश्रित है, अंध प्रवृत्तिमात्र नहीं। मानसिक विकास के साथ-साथ उसमें जिस नैतिकता की उत्पत्ति और वृद्धि हुई उसने उसे पशु-जगत् से सर्वथा भिन्न कर दिया। इसी से मनुष्य-समाज समूह-मात्र नहीं रह सका, वरन् धीरे-धीरे एक ऐसी संस्था में परिवर्तित हो गया जिसका ध्येय भिन्न-भिन्न सदस्यों को लौकिक सुविधाएँ देकर उन्हें मानसिक विकास के पथ पर आगे बढ़ाते रहना है।'[1]

पाश्चात्य समाजशास्त्री एच.पी. फेयरचाइल्ड (Henry Pratt Fairchild) ने अपनी पुस्तक 'डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी' में समाज को परिभाषित करते हुए लिखा है कि- 'समाज मनुष्यों का एक समूह है, जो अपने अनेकों मुख्य हितों की पूर्ति अनिवार्य रूप से स्वयं को बनाये रखने व स्वयं की निरन्तरता के लिए परस्पर सहयोग करते हैं।'[2]

पाश्चात्य समाज-चिन्तक मैकाइवर & पेज (R.M.Maciver & Charles H.Page) ने अपनी पुस्तक 'सोसाइटी' में समाज को परिभाषित करते हुए लिखा है कि- 'समाज रीतियों और कार्यप्रणालियों की अधिकार एवं पारस्परिक सहायता की, अनेकों समूहों एवं विभागों की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों तथा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सतत परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और सदैव परिवर्तित होता रहता है।'[3]

मोरिस जिन्सबर्ग अपनी 'सोशियोलॉजी' नामक पुस्तक में समाज को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि- 'समाज व्यक्तियों का वह समूह है, जो किन्हीं सम्बन्धों या व्यवहार के तरीकों द्वारा संगठित है और जो उन्हें दूसरों से पृथक करते हैं, जो इन सम्बन्धों से नहीं बंधे हैं या जो उनसे भिन्न व्यवहार करते हैं।'[4]

---

1 महादेवी साहित्य (खण्ड-4)-संपा.-निर्मला जैन, पृष्ठ संख्या- 230

2 'Dictionary of Sociology'- (Editor) H.P.Fairchild, Page No.- 300

3 'Society'-R.M.Maciver And Charles H. Page, Page No.-5

4 'Sociology'- Morris Ginsberg, Page No.-40

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। समाज सामाजिक सम्बन्धों में स्थायी एवं व्यवस्थित रूप है, जो परस्पर समान उद्देश्यों, स्वतंत्रताओं, जीवन के कार्यों, व्यवस्थाओं और समान स्वामित्व के आधार पर निर्मित हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि समाज व्यक्तियों का एक संगठित समूह है, जो सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित है।

3.3- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'समाज' की अवधारणा-

समाजशास्त्र के विद्वानों के लिए 'समाज' व्यवस्था की एक पद्धति मात्र है। लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारकों के अभिमतानुसार 'समाज' एक जीवमान इकाई है। विश्व के लगभग सभी धर्मों में मानव को अन्य सभी प्राणियों में अग्रगण्य और उसकी शरीर-संरचना को विकास का सर्वोत्तम रूप माना गया है। यही कारण है कि संघ के विचारकों ने जीवमान समाज की स्वरूप रचना का चिंतन मानव शरीर को आधार बनाकर किया है।[1] जिस प्रकार मानव शरीर के सभी अंग सामान तो नहीं होते, किन्तु परस्परानुकूल रहते हैं। उनमें प्रत्येक का अपना महत्व है। वे अपने-अपने स्थान पर अपने योग्य कर्तव्य का निर्वाह करते रहते हैं। उनमें कभी कोई टकराव की स्थिति नहीं उत्पन्न होती। अतः संघ का मानना है कि- "समाज की ऐसी रचना ही अधिक टिकाऊ होगी जहाँ समान गुण एवं समान अन्तःकरण वाले एकत्र होकर विकास करते हुए जीवन-यापन करने के जिस मार्ग से अधिक समाजोपयोगी सिद्ध हो सकें, उसके अनुसार चल सकें। साथ ही एकाध समूह ऐसा भी चाहिए, जो सम्पूर्ण समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की पात्रता उत्पन्न कर उनके पारस्परिक सम्बन्धों को ठीक बनाये रखता हो। शरीर के अवयवों की भाँति समाजरूपी जीवमान इकाई के अंगों की आवश्यकता समझता हो परन्तु स्वयं अपनी कोई आवश्यकता न रखता हो। ऐसा समूह ही सबको एक सूत्र में चलाने की पात्रता रख सकता है।"[2]

उपरोक्त परिभाषा के आलोक में हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि समाज में व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी अपने में समानता के कुछ तन्तु समाहित किये रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनमें इस प्रकार सामंजस्य बैठाया जाये कि उनके व्यक्तित्व का तो पूर्ण विकास हो, परन्तु वह विकास समाज जीवन का

[1] 'समाज जीवन की रचना भी यदि जीवमान मानव के अनुरूप ही की जाए तो वह भी निसर्ग के अनुकूल होने के कारण अधिक उपयुक्त होगी।' (श्री गुरुजी समग्र-भाग-2, पृष्ठ संख्या- 125)

[2] श्री गुरुजी समग्र-भाग-2, पृष्ठ संख्या- 125

हितविरोधी न बने। ठीक उसी प्रकार समाज का समताजन्य एकीकरण, व्यक्ति की विशेषताओं के विकास का मार्ग प्रशस्त करे; न कि उनके विकास का बाधक बने। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समूहीकरण के सामंजस्य का पक्षधर है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'समाज' सम्बन्धी अवधारणा की उसके आलोचक यह कहते हुए निंदा करते हैं कि- संघ अपनी 'जीवमान समाज' की अवधारणा में मानव शरीर के समान समाज रचना की बात करके समाज में भेदभाव का पक्षपाती है। उनका तर्क है कि- ऋग्वेद के दशम-स्कंध (पुरुष सूक्त) में भी विभिन्न जातियों की उत्पत्ति शरीर के विभिन्न अंगों से मानी गयी है-

'ब्राह्मणो अस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः।

उरू तदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत्॥' (ऋग्वेद, मण्डल-10,सूक्त-90,ऋचा-12)

इस जाति-व्यवस्था के कारण ही समाज में भेदभाव है। अतः उसी प्रकार संघ की समाजोत्पत्ति की अवधारणा भी भेदभाव को ही पोषित करने वाली है।

इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मत है कि समाज के अलग-अलग लोगों में कर्मों की भिन्नता न तो किसी भेद की सृष्टि करती है और न ही किसी को छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच बनाती है।[1] गीता में तो कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने नियोजित कर्म को करता है, वह उसी के द्वारा परमात्मा की उपासना करता है-

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धं लभते नरः।' (गीता, अध्याय-18, श्लोक-45)

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' (गीता, अध्याय-18, श्लोक-46)

यदि ज्ञान दान से ब्राह्मण श्रेष्ठ बनता है, तो क्षत्रिय शत्रु-संहार कर उतना ही श्रेष्ठ है। वैश्य, जो कृषि-व्यवसाय करते हुए समाज का पोषण करता है तथा शूद्र जो अपनी शिल्प-कुशलता एवं श्रम से समाज की सेवा करता है, श्रेष्ठत्व

[1] पंडित दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं कि- 'क्या किसी शरीर के सिर, हाथ, पेट एवं पैरों में संघर्ष संभव है ?..... यदि संघर्ष ही मौलिक या आधारभूत वस्तु हो तो शरीर का निर्वाह संभव नहीं। हमारी धारणा है कि संघर्षरत विभिन्न अवयवों को शरीर नहीं कहते, अपितु एक शरीरधारी पुरुष अस्तित्व में रहता है। अवयवों के आकार-प्रकार, कर्म अलग-अलग होने के बाद भी वे न केवल एक-दूसरे के पूरक हैं, अपितु उनमें पूर्ण एकत्व है, वे एक ही शरीर के अंग है; अतः एकात्म हैं। उनमें न केवल हित-संबंधों की एकरूपता है अपितु वे जिस शरीर के अपने अंग हैं, उस अपनेपन से तादात्म्य है।' ('मैं या हम'- विश्वनाथ लिमये, पृष्ठ संख्या-92)

में किसी से कमतर नहीं है। इस प्रकार की समाज रचना का उद्देश्य यही था कि समाज के प्रत्येक अंग एक समाजपुरुष के अंग के रूप में परम्परानुकूल चलें। वर्तमान समय में इस व्यवस्था के सम्बन्ध में जो यह कहा जा रहा है कि यह व्यवस्था ऊँच-नीच व भेदभाव को प्रसरित करने वाली है; इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कहना है कि- "यह उस व्यवस्था का परिणाम नहीं, अपितु उस व्यवस्था के आधारभूत जीवन-सिद्धांतों के विस्मरण के कारण उसमें उत्पन्न घोर विकृति है। हमें इसे दूर करना होगा।"[1]

3.4- समष्टि के पुरुषार्थ-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारकों का मानना है कि व्यक्ति के समान समाज भी एक जीवमान घटक है। ऐसा कहने के बाद यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा होते हैं उसी प्रकार समाज के भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होते हैं ? संघ का मानना है अवश्य होते हैं।[2] यही नहीं उस समाज का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होता है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं कि- "व्यक्ति की शक्ति, बुद्धि, भावना सबका योग ही समाज की शक्ति, बुद्धि और मन है, ऐसी बात नहीं। समाज की बुद्धि, भावना, क्रियाशक्ति सब मूलतः भिन्न होती है। अतः कभी-कभी अनुभव किया जाता है कि अकेला व्यक्ति दुर्बल होकर भी समाज के सदस्य के नाते पर्याप्त पराक्रमी होता है। व्यक्ति के नाते जो बातें सहन की जाती हैं, वे सब समाज के नाते सहन नहीं की जातीं।"[3]

चूँकि व्यक्ति के समान समाज के भी शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा होते हैं, अतः जिस प्रकार व्यक्ति के समग्र एवं सन्तुलित विकास के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- चार पुरुषार्थों का विचार आवश्यक होता है, उसी प्रकार समाज के सन्दर्भ में भी उनका विचार आवश्यक है। समाज के पुरुषार्थों का संक्षेप में विवेचन निम्नलिखित है-

---

[1] श्री गुरुजी समग्र-भाग-2, पृष्ठ संख्या-126

[2] पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी एक उदाहरण के माध्यम से इस बात को स्पष्ट करते थे। वे कहते थे कि- 'समूह के भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होते हैं। उदाहरण के लिए- 40 लोगों का एक क्लब है। यह 40 लोग मिलकर उस क्लब का 'शरीर' तैयार करते हैं। इकट्ठे होकर, इकट्ठे रहकर एक क्लब बनाने की इच्छा या संकल्प उस क्लब का 'मन' होता है। यह इच्छा न हो तो क्लब का निर्माण नहीं होगा। यह इच्छा समाप्त हो जाए तो क्लब भी विसर्जित हो जाएगा। इस इच्छा के मूर्तरूप लेने पर क्लब का कारोबार सुचारु ढंग से चलाने के लिए कुछ व्यवस्थाएं करनी पड़ती हैं। सदस्यता, पदाधिकारियों के चुनाव, चंदा आदि के बारे में सोच-समझकर कुछ नियम बनाने पड़ते हैं। इन नियमों के सहारे क्लब का कारोबार ठीक ढंग से चल सकता है। ये नियम और व्यवस्थाएं क्लब की 'बुद्धि' हैं। किन्तु क्लब बनाने की इच्छा मन में होना और उसके लिए विचारपूर्वक कुछ नियम आदि बनाना ही पर्याप्त नहीं होता। क्लब के कुछ उद्देश्य भी होते हैं। वह उद्देश्य केवल मनोरंजन का हो, मनोरंजन के साथ सेवा का हो, या कुछ और हो, क्लब का कारोबार अंततः इस लक्ष्य को सामने रखकर ही चलाया जाता है। यह लक्ष्य ही उस क्लब की 'आत्मा' है।' (पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या- 79-80)

[3] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या- 80-81

3.4.1- समाज का धर्म- समाज के धर्म के अंतर्गत उन सभी बातों का समावेश होता है जिन नियम-विधानों, और व्यवस्थाओं आदि के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में, व्यक्ति व समूहों में, राष्ट्र व राष्ट्र के बीच आपस में सामंजस्य रहकर उनका जीवन-रथ सुचारु रूप से गतिमान रहता है। समाज में विविध प्रकार के स्वभावों एवं प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से अलग-अलग स्तर या भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने वाले व्यक्ति और व्यक्तियों के समूह होते हैं। समाज की धारणा करने वाले उन सब में सहयोग व समरसता का होना आवश्यक होता है। यह काम धर्म करता है। धर्म की धारणा-शक्ति कितनी बलवती होती है, इसका वर्णन महाभारत में 'राज्यविहीन कल्पना' को स्पष्ट करते समय इस प्रकार किया गया है-

'न राज्यं न राजा आसीत्, न दण्डो न च दाण्डिक:।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥' (महाभारत, शान्तिपर्व,59-14)

(अर्थात् न राज्य की आवश्यकता है, न राजा की, न दण्ड-विधान की और न दाण्डिक की। यदि आवश्यकता है तो केवल धर्म की। धर्म से ही प्रजा सौहार्द से रहेगी।)

3.4.2- समाज का अर्थ- समाज के लिए भी व्यक्ति की भाँति 'अर्थ' पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। पर्याप्त मात्रा में अर्थोत्पादन न होने पर समाज का ढाँचा चरमरा जाता है। समाज के अर्थ पुरुषार्थ की साधना धर्म के अनुसार ही होनी चाहिए, यह अत्यावश्यक है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारकों का मानना है कि समाज के अर्थ पुरुषार्थ का अगर सच्चे अर्थों में विकास करना हो, तो हर सक्षम व्यक्ति को अपना निर्वाह करने योग्य काम मिले, ऐसा प्रबन्ध करना होगा। ऐसा करने से ही व्यक्ति का विकास होता है, देश की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि होती है और समाज की सामूहिक कर्तृत्व-शक्ति भी बढ़ती है।[1]

---

[1] पं. दीनदयाल उपाध्याय जी कहते हैं- "यह बात निर्विवाद है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन विकास के लिए कुछ न्यूनतम बातों की गारंटी मिलनी चाहिए। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह न्यूनतम सबके लिए लाए कहाँ से ? इसका स्पष्ट उत्तर है कि- प्रत्येक सक्षम व्यक्ति को स्वयं का अपने प्रयत्नों एवं पुरुषार्थ से निर्माण करना होगा। पुरुषार्थहीन अर्थात् उत्पादक कर्म न करने वाला सक्षम व्यक्ति समाज पर केवल बोझ होता है। जिस समाज व्यवस्था या अर्थव्यवस्था में व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकता तो पूर्ण हो जाती है, किन्तु उसके पुरुषार्थ के लिए कोई अवसर नहीं होता, उस व्यवस्था में व्यक्ति का विकास एकांगी ही रहेगा। मनुष्य को भगवान ने पेट और हाथ दोनों दिए हैं। हाथों के लिए काम न हो तो पेट को अन्न प्राप्त होने पर भी व्यक्ति सुखी नहीं होगा। नि:संतान स्त्री को जिस प्रकार अपने जीवन की अपूर्णता व्यथित करती रहती है, उसी प्रकार बेकार या पुरुषार्थहीन व्यक्ति भी अपूर्ण रहेगा।" (पं. दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या- 89-90)

3.4.3- समाज का काम- धर्म और अर्थ पुरुषार्थ की भाँति काम पुरुषार्थ का भी समाज की दृष्टि से बहुत महत्व है। समाज की स्वतंत्रता और उसका संगठित, स्वावलंबी, समर्थ और स्वस्थ जीवन, समाज के सामूहिक काम पुरुषार्थ पर ही निर्भर होता है। किन्तु इस महत्वपूर्ण काम पुरुषार्थ को भी धर्म का अधिष्ठान प्राप्त न हो तो इस पुरुषार्थ के भी राक्षसी महत्वाकांक्षा में बदल जाने की सम्भावना रहती है। भगवद्गीता में वर्णित आसुरी संपदा {'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥' (भगवद्गीता अध्याय-16, श्लोक-13); 'असौ मयाहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरो अहमहं भोगी सिद्धोअहं बलवान् सुखी॥' (भगवद्गीता अध्याय-16, श्लोक-14)} को तब अनुभव किया जाने लगता है। समाज के ऐसे धर्मविहीन काम पुरुषार्थ को दैव-दुर्योग से यदि धर्मविहीन अर्थ पुरुषार्थ का साथ मिल गया तो सम्पूर्ण समाज अव्यवस्थित हो जाता है। इसके विपरीत यदि इन पुरुषार्थों को धर्म का आधार मिले तो ये सम्पूर्ण विश्व को स्वर्ग बना सकते हैं।

3.4.4- समाज का मोक्ष- किसी भी समाज का मोक्ष पुरुषार्थ अर्थात् उसके अपने जीवन कार्य का स्वरूप उसकी चिति (आत्मा) के आधार पर निश्चित होता है। समाज के इस मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि समाज के घटक 'व्यक्ति' के माध्यम से ही सम्भव है। सामान्य धारणा होती है कि मोक्ष केवल व्यक्तिगत विषय है, और उसका मार्ग सांसारिकता से मुँह मोड़कर किसी अज्ञात स्थान पर ध्यान लगाकर केवल एकांतवास करना है। संघ के विचारकों के अनुसार यह धारणा निश्चय ही एकांगी व गलत है। एकात्म मानव-दर्शन में मोक्ष जागतिक जीवन से मुँह मोड़ने वाला नहीं है। अपितु व्यक्ति, परिवार, जाति, राष्ट्र के क्रम से समूचे मानव-समूह को आत्मीयता की लपेट में लेकर परमसुख की ओर ले जाने वाला क्रियाशील पुरुषार्थ है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार उत्तम व्यक्ति के चरित्र-निर्माण हेतु जिस प्रकार पुरुषार्थों की सम्यक् अवधारणा भारतीय चिंतन परम्परा में की गयी है, उसी प्रकार समाज के सुव्यवस्थित व उन्नत स्वरूप की रचना हेतु समाज के पुरुषार्थों की अवधारणा भी हमारे यहाँ प्रस्तुत की गयी है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि- सुव्यवस्थित समाज, जिसमें समाज के सभी घटकों के कल्याण की भावना निहित है, की रचना हेतु समष्टि पुरुषार्थों के सम्यक् अनुपालन की महती आवश्यकता है।

[1] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या-96

3.5- व्यक्ति और समाज-

समाज के बारे में विचार करते समय यह प्रश्न हमारे मन में उपस्थित होता है कि ‘व्यक्तियों का समूह’ नामक यह समाज उत्पन्न कैसे होता है ? व्यक्ति और समाज में क्या अंतर्संबंध है ? इस सम्बन्ध में अधिकांश पाश्चात्य विचारकों का मानना है कि व्यक्ति इकट्ठे होकर आपसी हितों व सम्बंधों की रक्षा करने हेतु समाज का निर्माण करते हैं। इसे ‘सोशल कांट्रैक्ट थ्योरी’ कहा जाता है। इसी के अनुसार वहाँ के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की रचना होती है। वहाँ की विभिन्न विचारधाराओं में यद्यपि ‘समाज’ शब्द का उल्लेख होता है, फिर भी अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए आपसी तालमेल करते हुए, कुछ बन्धन, कुछ संकेत स्वीकार कर इकट्ठा रहने वाले व्यक्ति-समूह को समाज मानना उनकी धारणा होती है। वहाँ विचारकों में मत-वैभिन्य केवल एक ही प्रश्न पर होता है कि- ‘यदि व्यक्तियों ने एकत्रित होकर समाज को बनाया है तो फिर रेसिड्युअरी पॉवर (अवशेष सत्ता) व्यक्ति या समाज में से किसके पास हो ?’[1] समाज गठन की इस अवधारणा से कई प्रकार के परस्पर विरोधी विचारधारा को जन्म देने वाले प्रश्न उत्पन्न होते हैं। एक प्रश्न तो यह कि समाज व व्यक्ति इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? इसके उत्तर में कुछ लोगों का कहना है कि- चूँकि व्यक्तियों ने इकट्ठे होकर समाज का निर्माण किया है, अतः स्वाभाविक रूप से निर्माता होने के कारण व्यक्ति समाज से श्रेष्ठ है। उनके अनुसार समाज का अस्तित्व भी व्यक्ति की सुविधा और उसके सुखी जीवन के लिए ही होता है। इसके विपरीत कुछ लोगों का मानना है कि व्यक्ति के लिए समाज का गठन अपरिहार्य हो गया, इससे यह सिद्ध होता है कि समाज व्यक्ति से श्रेष्ठ है।

इन दो प्रकार के मतों के कारण विचारकों के दो गुट बन गये। पहले गुट ने व्यक्ति को ही सबकुछ मानकर समाज को व्यक्ति की भौतिक इच्छापूर्ति का साधन मात्र माना है। व्यक्ति के लिए बंधनरहित, निरपवाद स्वतंत्रता उसकी समाज रचना तथा सामाजिक आन्दोलन के केन्द्र-बिंदु बन गये। यदि समाज के दो व्यक्तियों की स्वतंत्रता में संघर्ष खड़ा हो जाये तो उसका समाधान कैसे हो ? इस प्रश्न का उत्तर इस गुट के समर्थक यह देते हैं कि- इसका कोई उपाय नहीं है, यह तो जीवन का सनातन संघर्ष है। जिसके पास अधिक शक्ति होगी वह इस संघर्ष में विजित होगा, अन्य लोग नष्ट हो जायेंगे। यही प्रकृति का नियम (‘सर्वाइवल आफ द फिटेस्ट’) है। इस विचार प्रणाली को ‘व्यक्ति-सत्तावाद’ कहा जाता है।

---

[1] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या- 71

समाज को व्यक्ति से श्रेष्ठ मानने वाली विचारधारा के पक्षधरों के अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व समाज पर निर्भर होता है, उसके सारे व्यवहार समाज को सुदृढ़ बनाने में सहायक होने चाहिए। यही समाज व्यवस्था का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अगर आवश्यक है तो यह विचारधारा व्यक्ति की स्वतंत्रता में कटौती की भी पक्षधर है। समाज संगठित एवं सुखी हो तो व्यक्ति के नाते केवल अपनी भावनाओं का, रुचि-अरुचि या आशा-आकांक्षाओं का अलग से विचार न करते हुए केवल समाज की आवश्यकताओं का ही विचार कर, अपना आचार-विचार उसके अनुरूप रखना चाहिए। इस विचारधारा को 'समाज-सत्तावाद' कहा जाता है।

आज दुनिया में अनेक देशों में ये (उपरोक्त) विचारधारायें प्रचलित हैं। पहली विचारधारा के समर्थक 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' के नाम पर समाज की उपेक्षा करते हैं, तो दूसरी विचारधारा के समर्थक समाज को महत्ता देने की धुन में व्यक्ति की उपेक्षा करते हैं। व्यक्ति को अत्यधिक महत्व देने वाली विचारधारा को हम 'पूँजीवाद' व समाज को अति महत्ता देने वाली विचारधारा को हम 'समाजवाद' और 'साम्यवाद' के रूप में जानते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारकों के अनुसार ये दोनों विचार (व्यक्ति सत्तावाद व समाज सत्तावाद) एकांगी हैं। इन विचारों के द्वारा समाज के अंदर कुछेक वर्ग, गुट को शक्तिशाली बनाया जा सकता है, परन्तु इसके फलस्वरूप समाज जीवन के अनेक क्षेत्रों में तनाव व संघर्ष प्रारम्भ हो जायेगा, जिससे समाज जीवन ही अव्यवस्थित हो जायेगा। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय का मानना है कि- 'समाज व्यक्तियों का बनाया होता है- यह पाश्चात्य लोगों की मूल धारणा ही गलत है। समाज तो प्रकृति से होने वाली एक जीवमान निर्मिति होती है।'[1] वे कहते हैं कि- 'समाज अपनी रक्षा के लिए, जीवन के आदर्शों की अभिव्यक्ति और विकास के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थायें और संस्थायें स्थापित करता है। (शिक्षा के लिए गुरुकुल संस्था, देश की अंतर्बाह्य रक्षा के लिए राज्य संस्था, व्यक्ति और समाज के विकास के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था आदि प्राचीन भारतीय संस्थाओं का इस परिप्रेक्ष्य में उल्लेख किया जा सकता है। न्यायपालिका, नगरपालिका, सहकारी संगठन, संयुक्त राष्ट्र संघ आदि आधुनिक संस्थायें भी इसी कोटि में आती हैं।)

---

[1] वे कहते हैं कि- "यह तो ठीक है कि 'समाज', व्यक्तियों का एक समूह होता है, फिर भी व्यक्ति एकत्रित हो गए और उन्होंने समाज का निर्माण किया, ऐसा कहीं भी नहीं दिखाई देता। समाज कोई क्लब नहीं है, ज्वाइंट स्टॉक कंपनी नहीं है या सहकारी संस्था भी नहीं है। समाज इस प्रकार कृत्रिमता से नहीं बनाया जा सकता। पाँच-दस करोड़ या दस-बीस करोड़ लोग एकत्रित हो गए, उन्होंने 'आर्टिकल आफ एसोसिएशन' (समाज स्थापित करने के बारे में निवेदन) प्रकाशित किया, सब की एक सभा बुलाई उसका पंजीकरण किया और तब से उस जनसमूह को समाज कहा जाने लगा ऐसा कहीं भी, कभी नहीं होता।" (पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या-73-74)

हो सकता है कि 'सोशल कांट्रैक्ट थ्योरी' इन पर भी लागू होती हो परन्तु कोई भी समाज इस प्रकार की कृत्रिम पद्धति से नहीं बना। समाज एक 'जैविक सृष्टि' (लिविंग ऑर्गेनिज्म) है।'[1]

समाज निर्मिति की 'सोशल कांट्रैक्ट थ्योरी' को खारिज कर देने के बाद प्रश्न उठता है कि आखिर समाज का निर्माण कैसे होता है ? और व्यक्ति व समाज का क्या अंतर्संबंध है ? इसका उत्तर भारतीय विचार दर्शन में बहुत ही सटीक दिया गया है, जिसके अनुसार- 'समाज सहज संकेंद्रीय जैविक सृष्टि है। कृत्रिम मानवीय उपायों से न तो वह बनता है और न ही नष्ट होता है, जिन कारणों से और जिन पद्धतियों से सजीव संसार का निर्माण और लय होता है, उन्हीं कारणों से और पद्धतियों से भिन्न-भिन्न समाजों का भी उदयास्त होता है।'[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिंतकों का यह मत स्पष्ट है कि समाज अनेक व्यक्तियों द्वारा एकत्रित होकर निर्मित की गयी संस्था नहीं है। किसी भी सजीव के समान समाज का भी जन्म होता है। व्यक्ति व समाज के अंतर्संबंध के सम्बन्ध में संघ का कहना है कि- शरीर व शरीर के अंगों का जो परस्पर सम्बन्ध होता है, वही समाज व व्यक्ति का भी होता है। समाज व व्यक्ति का नाता एक प्रकार से अवयव-अवयवी स्वरूप का होने के कारण समाज महत्वपूर्ण है या व्यक्ति, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। व्यक्ति और समाज के बीच अंतर्संबंध को स्पष्ट करते हुए पण्डित दीनदयाल उपाध्याय लिखते हैं कि- "हम व्यक्तिगत हित व अहित का विचार करते हुए ही समाज के हित और अहित का विचार करें, यही उचित व्यवस्था है। व्यक्ति का हित व समाज का हित, दोनों में कोई विरोध या संघर्ष नहीं है।"[3]

---

[1] कृत्रिम समूह और जैविक सृष्टि में अंतर स्पष्ट करते हुए पंडित दीनदयाल उपाध्याय एक उदाहरण देते हैं, वे लिखते हैं कि- 'मोटर दौड़ती है और घोड़ा भी दौड़ता है। किन्तु दोनों में अंतर यह है कि मोटर अनेक प्रकार के उपकरणों को जोड़कर कारखाने में बनाई जाती है, जबकि घोड़ा कारखाने में नहीं बनाया जा सकता, वह जन्म लेता है। मोटर के दौड़ने की क्षमता, वेग आदि बातें बाहर से निर्मित या नियंत्रित होती हैं, जबकि घोड़े की शक्ति उसकी अपनी आंतरिक शक्ति होती है। जीवमान वस्तु व कृत्रिम वस्तु में यही अंतर होता है। वृक्ष धरती से उगते हैं, किन्तु उनका विकास आंतरिक होता है, बाहर से टहनियाँ, पत्ते, फूल आदि चिपकाने से पेड़ नहीं बनता।' (पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या- 74)

[2] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या- 74

[3] पण्डित दीनदयाल जी लिखते है कि- 'कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि आप व्यक्तिवादी हैं या समाजवादी ? हमारा उत्तर होता है कि हम व्यक्तिवादी भी हैं और समाजवादी भी। भारतीय विचारधारा के अनुसार हम व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करते और समाज-हित का विचार भी ओझल नहीं होने देते। क्योंकि हम समाज के हितों का विचार करते हैं इसलिए हम समाजवादी हैं, किन्तु साथ ही हम व्यक्ति की भी उपेक्षा नहीं करते इसलिए हम व्यक्तिवादी भी हैं। किन्तु हम व्यक्ति को सर्वेसर्वा नहीं मानते, इसलिए हमारा कहना होता है कि हम व्यक्तिवादी नहीं हैं। किन्तु साथ ही हम यह भी नहीं मानते हैं कि समाज को व्यक्ति की सभी स्वतंत्रताओं का अपहरण करने का अधिकार है और उसे किसी एक सीमा में बाँधकर निर्जीव यन्त्र के समान उससे काम लेने का अधिकार है। इसलिए हम समाजवादी भी नहीं हैं। हमारी मान्यता है कि व्यक्ति के बिना समष्टि की कल्पना करना भी असंभव है और समष्टि के बिना व्यक्ति का मूल्य शून्य है।'(पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या- 77-78)

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय संस्कृति की उस चिंतन पद्धति से सहमत और उसका अनुगामी है, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों के समन्वित कल्याण को साध्य करने की दृष्टि से ही सम्पूर्ण चिंतन प्रस्तुत किया गया है।

3.6- कुटुम्ब-

व्यक्ति का निर्माण और विकास कुटुम्ब (परिवार) में ही होता है। कुटुम्ब मनुष्य के जीवन का बुनियादी पहलू है, इसके बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। आगस्त काम्टे कहते हैं कि- 'परिवार समाज की आधारभूत इकाई है।'[1] अरस्तू का भी यही मानना है। वे लिखते हैं कि- "परिवार का स्थान राज्य से पहले है। मानव के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए पारिवारिक जीवन प्रकृति की एक व्यवस्था है और उसका विकास मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है। समुदाय परिवारों का ही संकलन है। इस प्रकार परिवार सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई है।"[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि- 'कुटुम्ब व्यवस्था हमारे समाज का मानवता को दिया हुआ अनमोल वरदान है। अपनी विशेषताओं के कारण हिन्दू कुटुम्ब व्यक्ति को राष्ट्र से जोड़ते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक ले जाने वाली यात्रा की आधारभूत इकाई है। कुटुम्ब व्यक्ति की आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था के साथ-साथ नई पीढ़ी के संस्कार निर्मिति एवं गुण विकास का महत्वपूर्ण माध्यम है।'[3] संघ का यह भी मानना है कि- 'हिन्दू समाज के अमरत्व का मुख्य कारण इसका बहुकेंद्रित होना है एवं कुटुम्ब व्यवस्था इनमें एक सशक्त तथा महत्वपूर्ण केन्द्र है।'[4]

कुटुम्ब एक ऐसा स्थान है, जहाँ बालक का पालन-पोषण, संस्कार और निर्माण होता है। यह एक ऐसी पाठशाला व संस्कारशाला है जिसमें माता-पिता एवं घर के बड़े बालक को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रबोधन करके महत्वपूर्ण का बोध करवाते हैं। यह बोध जहाँ मातृभाषा, सम्बन्धों और संवेदनाओं का होता है, वहीं अपने कुटुम्ब, प्रदेश एवं देश के विषय में तत्वज्ञान का भी होता है। कुटुम्ब के बड़े-बुजुर्ग बच्चों को करणीय और अकरणीय का बोध

---

[1] परिवार का महत्त्व और उसका बदलता स्वरूप https://www.pravakta.com/importance-of-the-family-and-its-changing-nature/

[2] 'सामाजिक विचारधारा-काम्टे से मुकर्जी तक'-रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, पृष्ठ संख्या-43

[3] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2019 : 'भारतीय परिवार व्यवस्था-मानवता के लिए अनुपम देन'- आरएसएस आर्काइव

[4] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2019 : 'भारतीय परिवार व्यवस्था-मानवता के लिए अनुपम देन'- आरएसएस आर्काइव

करवाते हैं। बच्चों में मनोबल निर्माण, हीनता का त्याग, श्रेष्ठ का ग्रहण, दृष्टिकोण का विकास आदि बातें खेल-खेल में विकसित करने का श्रेय कुटुम्ब को ही जाता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि कुटुम्ब प्रबोधन द्वारा बच्चों में पारिवारिक दायित्व-बोध व राष्ट्रभक्ति की भावना का जागरण किया जा सकता है। कुटुम्ब समाज एवं राष्ट्र की वह महत्वपूर्ण इकाई है जो सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन को आधार प्रदान करती है। बच्चों को पर्व-उत्सव, रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि का ज्ञान कुटुम्ब में रहकर एवं प्रबोधन से ही होता है ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समाज में सम्पर्क का आधार कुटुम्ब है। संघ में आमतौर पर कहा जाता है कि संघ का सम्पर्क- स्वयंसेवक से लेकर उसके चूल्हे तक होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संघ लोगों से सम्पर्क करता है और उनके परिवारों तक पहुँचता है।

देश पर विदेशी आक्रांताओं के हमलों और गुलामी के सहस्त्र वर्ष के कालखण्ड में देश में कुटुम्ब व्यवस्था में कुछेक परिवर्तन तो आये, लेकिन उसके अस्तित्व पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगा, परन्तु वर्तमान कालखण्ड में पाश्चात्य आधुनिकता के प्रभावस्वरूप इस कुटुम्ब व्यवस्था के अस्तित्व पर संकट आया है। वह विच्छिन्न होने लगी है और एकल कुटुम्ब (परिवार) अस्तित्व में आने लगे हैं। आज टेलीविजन, मोबाइल और अन्य अत्याधुनिक यन्त्रों की व्यापकता एवं प्रभावों की जहाँ एक ओर कुटुम्ब में घुसपैठ बढ़ रही है, वहीं दूसरी ओर सम्बन्धों का बोध और सम्बन्धों की शब्दावली भी छूटती जा रही है। टेलीविजन और मोबाइल के जरिए केवल व्यक्ति केन्द्रित प्रसन्नता दिखाकर और व्यक्ति को भौतिकता पर केन्द्रित करने का कुचक्र व्यक्ति को स्वार्थी बना रहा है। जिसका दुष्परिणाम व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास पर तो पड़ ही रहा है, समाज और राष्ट्र के प्रति उसकी भावना भी प्रभावित हो रही है। वस्तुतः इंटरनेट मीडिया पर तो मित्रों की भीड़ है, लेकिन दुःख एवं संकट के समय कोई उसके साथ नहीं है, व्यक्ति अपनों से ही दूर होता जा रहा है। वर्तमान में 'कुटुम्ब' नामक समाज की इस आधारभूत व्यवस्था को किस प्रकार मजबूत किया जाये इसको लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सतत प्रयासरत है। यह तो लगभग प्रत्येक व्यक्ति मानता है कि आज हमारी कुटुम्ब रूपी अप्रतिम सांस्कृतिक थाती बिखरती हुई दिखायी देती है। भोगवादी मनोवृत्ति एवं आत्म-केंद्रितता का बढ़ता प्रभाव इस विखण्डन के प्रमुख कारणों में से है। भौतिकतावादी चिन्तन के कारण समाज में आत्म-केंद्रित व कटुतापूर्ण व्यवहार, असीमित भोगवृत्ति व लालच, मानसिक तनाव, सम्बन्ध-विच्छेद आदि कुरीतियाँ बढ़ती जा रही हैं। कुटुम्ब के भावनात्मक संरक्षण के अभाव में नई पीढ़ी में अकेलेपन की समस्या बढ़ रही है, परिणामस्वरूप

नशाखोरी, हिंसा, जघन्य अपराध तथा आत्महत्याएँ चिन्ताजनक स्तर पर पहुँच रही हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 'संयुक्त कुटुम्ब व्यवस्था' का हिमायती है। आजकल विविध आर्थिक, भौतिक कारणों से संयुक्त कुटुम्ब (परिवार), एकल परिवारों में परिवर्तित होने लगे हैं। संयुक्त कुटुम्ब में बच्चे छोटी आयु में अपने कुटुम्ब के वरिष्ठों के सानिध्य में रहकर विविध ज्ञानार्जन करते थे, संस्कार सीखते थे। परन्तु एकल परिवारों में यह कहाँ सम्भव ? फलत: समाज में छोटी आयु में ही बच्चों को छात्रावासों में रखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। एकल परिवार वर्तमान का एक कटु सत्य है जिसे कोई नकार नहीं सकता। वर्तमान परिस्थितियों में कई परिवारों के लिए संयुक्त परिवार व्यवस्था का अनुपालन सम्भव ही नहीं है। उनके लिए एकल परिवार व्यवस्था को अपनाना अपरिहार्य है। ऐसे एकल परिवारों के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा का सुझाव है कि- "परिस्थितिजन्य विवशताओं के कारण एकल परिवारों में रहने के लिए बाध्य हो रहे व्यक्ति भी अपने मूल परिवार के साथ सजीव सम्पर्क रखते हुए निश्चित अंतराल पर कुछ समय सामूहिक रूप से अवश्य बिताएँ। अपने पूर्वजों के स्थान से जुड़ाव रखना, अपनी जड़ों के साथ जुड़ने समान है; इसलिए वहाँ विभिन्न गतिविधियाँ जैसे- परिवार सहित एकत्रित होना, सेवा कार्य करना आदि आयोजित करने चाहिए।.....अपने निवास क्षेत्र में सामूहिक उत्सव एवं कार्यक्रमों द्वारा परिवार का भाव निर्मित किया जा सकता है।"[1]

समय के साथ समाज में बहुत सी रूढ़ियाँ व कुरीतियाँ प्रविष्ट हो गयी हैं, मसलन- दहेज, छुआछूत व ऊँच-नीच का भाव, आडम्बर एवं फिजूलखर्ची, अन्धविश्वास आदि। ये कुरीतियाँ हमारे समाज के सर्वांगीण विकास की गति में बाधक हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज के इन दोषों के परिहार हेतु सम्पूर्ण समाज से आग्रह करता है कि- 'समाज के सब लोग अपने परिवार से प्रारम्भ कर इन कुरीतियों व दोषों को जड़-मूल से समाप्त कर एक संस्कारित एवं समृद्ध समाज के निर्माण की दिशा में कार्य करें।'[2] यहाँ पर भी हम देखते हैं कि समाज से कुरीतियों के परिष्कार व स्वस्थ, समृद्ध, समरस समाज के निर्माण की पहल का प्रारम्भ 'कुटुम्ब' से ही मानकर संघ ने समाज में कुटुम्ब की महत्ता को ही स्वीकार किया है।

---

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2019 : 'भारतीय परिवार व्यवस्था-मानवता के लिए अनुपम देन'- आरएसएस आर्काइव

[2] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2019 : 'भारतीय परिवार व्यवस्था-मानवता के लिए अनुपम देन'- आरएसएस आर्काइव

इस 'कुटुम्ब व्यवस्था' को और अधिक मजबूत, जीवन्त व संस्कारक्षम बनाये रखने हेतु आज ठोस व्यापक प्रयासों की महती आवश्यकता है। हाल ही में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह श्री दत्तात्रेय होसबाले ने एक कार्यक्रम में कहा कि- 'राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई 'कुटुम्ब' (परिवार) बलवान व अतुलनीय शक्ति वाली है। सैकड़ों वर्षों तक अन्य मतावलंबियों के आक्रमण के कारण हमने अपनी धरती को खोया, सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित कर उसे पूरी तरह नष्ट करने का प्रयास हुआ, परन्तु इस दीर्घकालीन अव्यवस्था में 'कुटुम्ब व्यवस्था' बरकरार रही। इसीलिए इसे आज के परिप्रेक्ष्य में और अधिक मजबूत करने की आवश्यकता है।'[1]

वर्तमान में समाज में कुटुम्ब प्रबोधन के अभाव में समाज में विविध सामाजिक विकृतियाँ जन्म ले रही हैं। एक समय ऐसा भी था हमारे देश में जब समाज में कुटुम्ब-व्यवस्था अत्यन्त सशक्त थी, तब विभिन्न पारिवारिक, पति-पत्नी एवं परिजनों के आपसी झगड़े परिवार में ही बैठकर हल कर लिये जाते थे, लेकिन आज देश में सैकड़ों पारिवारिक न्यायालय अस्तित्व में आ चुके हैं, जिनमें हजारों मामले पति-पत्नी के आपसी झगड़े, सम्बन्ध-विच्छेद, एवं घरेलू हिंसा के चल रहे हैं। समाज में नशे की बढ़ती समस्या के पीछे भी कहीं ने कहीं ढह रही कुटुम्ब-व्यवस्था भी एक कारण है। इन्हीं सब सामाजिक विकृतियों के परिहार व कुटुम्ब को समाज का पूरक मानते हुए कुटुम्ब व्यवस्था को मजबूत करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज में 'कुटुम्ब प्रबोधन' का कार्यक्रम चला रहा है। संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के अनुसार- 'परिवारों में एकता और राष्ट्रीयता की भावना जागृत होने पर ही राष्ट्र शक्तिशाली बनेगा। व्यक्ति को सामाजिक इकाई मानना भ्रान्ति के समान है। असल में 'कुटुम्ब' ही आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक इकाई है।'[2] 'कुटुम्ब प्रबोधन' कार्यक्रम के जरिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज के विभिन्न परिवारों के बीच बेहतर तालमेल, परस्पर सहयोग और सौहार्द-भाव कायम करने का प्रयास करता है, जिससे समाज और देश मजबूत बन सके। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की छः मुख्य गतिविधियों में पहली 'कुटुम्ब प्रबोधन' ही है। (शेष पाँच- ग्राम-विकास, गौ संवर्धन, धर्मजागरण, समरसता तथा पर्यावरण विकास हैं।) कुटुम्ब प्रबोधन संवाद आधारित जन-जागरूकता का कार्य है। इसके अंतर्गत वर्तमान सन्दर्भों में आनन्दमय व सार्थक पारिवारिक जीवन के

---

[1] 'संघ क्यों कर रहा है भारत में कुटुम्ब प्रबोधन' https://hindiivivek.org/40309

[2] RSS प्रमुख मोहन भागवत ने कुटुम्ब प्रबोधन में दिया सन्देश,कहा-'भारतीय पारिवारिक व्यवस्था श्रेष्ठ...' https://www.jagran.com/uttar-pradesh/bareilly-city-rss-chief-mohan-bhagwat-gave-message-in-kutumb-prabodhan-said-indian-family-system-is-best-23334472.html

लिए आवश्यक तत्वों पर विचार किया जाता है तथा उन्हें समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। यह अपेक्षा की जाती है कि सभी स्वयंसेवक अपने परिवारों में परम्पराओं को बनाये रखते हुए जो भी परिवर्तन अपेक्षित हों, उनका आदर्श अपने परिवारों में उपस्थित करें। श्री सुनील आंबेकर लिखते हैं कि- 'व्यक्ति और उसका परिवार संघ के लिए प्राथमिकता के विषय हैं, क्योंकि व्यक्ति के गुण ही समाज में प्रतिबिम्बित होते हैं और राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करते हैं।'[1]

3.7- विवाह-

विवाह, हिन्दू धर्म के सोलह संस्कारों में से एक है। विवाह ऐसा संस्कार है जिसके माध्यम से हिन्दू युवक व युवतियाँ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। 'विवाह' शब्द का शाब्दिक अर्थ है- (वि+वाह=विवाह) विशेष रूप से (उत्तरदायित्व का) वहन करना। इस संस्कार का एक अन्य नाम 'पाणिग्रहण संस्कार' भी है। हिन्दू धर्म से इतर अन्य धर्मों में विवाह वर और वधू के बीच एक प्रकार का करार (कॉन्ट्रैक्ट) होता है, जिसे विशेष परिस्थितियों में तोड़ा भी जा सकता है; परन्तु हिन्दू धर्म में विवाह, वर और वधू के बीच जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध होता है, जिसे किसी भी परिस्थिति में तोड़ा नहीं जा सकता। हालाँकि वर्तमान में हिन्दुओं में भी अदालतों की शरण लेकर 'विवाह-विच्छेद' हो रहे हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह दत्तात्रेय होसबाले कहते हैं कि- 'हिन्दू जीवन में विवाह एक संस्कार है, यह आनन्द के लिए नहीं है, न ही यह एक अनुबंध है। विवाह बड़े पैमाने पर परिवार और समाज के लाभ के लिए होता है। यह शारीरिक यौनानन्द के लिए नहीं है।'[2] सरकार्यवाह के वक्तव्य से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में विवाह दो आत्माओं (वर-वधु) का पवित्र बन्धन है, जिसका उद्देश्य मात्र इन्द्रिय-सुख भोग नहीं, बल्कि सन्तानोतपन्न कर एक परिवार की नींव डालना है। गृहस्थ आश्रम में विवाह संस्कार अहम है। यहीं से इस आश्रम की व्यवस्था मूर्त रूप लेती है। वैवाहिक बंधन में बंधकर ही परिवार के प्रति हम अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हैं। इस संस्कार के बाद स्वयं सहित समाज को भी हमारी जिम्मेदारी का एहसास होता है। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का एक वक्तव्य ध्यान देने योग्य हैं जिसमें वे कहते हैं कि- 'भारत में विवाह-सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत बात नहीं। यहाँ परिवार या पूरी

---

[1] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या-201

[2] Marriage is 'sanskar', not instrument for enjoyment: RSS general secretary- https://www.hindustantimes.com/india-news/marriage-is-sanskar-not-instrument-for-enjoyment-rss-general-secretary-101678808214587.html

जाति प्रत्येक के व्यक्ति-जीवन में रुचि रखने वाली अपेक्षित है। तभी वह उसका सर्वांगीण विकास एवं भलाई का कारण बन सकती है।'[1]

3.8- अन्तरजातीय विवाह तथा लिव-इन-रिलेशनशिप-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अन्तरजातीय विवाहों के पक्ष में है। महाराष्ट्र में पहला अन्तरजातीय विवाह 1942 ई. में हुआ था। उस समय उस विवाह के लिए जो शुभकामना संदेश आये थे उसमें डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का भी संदेश था और तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी का भी संदेश था। गुरुजी ने उस संदेश में कहा था कि- 'आपके विवाह का कारण केवल शारीरिक आकर्षण नहीं है, आप यह भी बताना चाह रहे हैं कि समाज में हम सब एक हैं, इसीलिए आप विवाह कर रहे हैं। मैं आपका इस बात के लिए अभिनन्दन करता हूँ और आपको सुखमय दाम्पत्य जीवन की सब प्रकार की शुभकामनाएं देता हूँ।'[2]

पूरे हिन्दू समाज में रोटी-बेटी के व्यवहार का पूर्ण समर्थन करते हुए सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत कहते हैं कि- "मानव-मानव में भेद नहीं करना। रुचि-अरुचि प्रत्येक की अपनी होती है। पूरा जीवन साथ में चलाना है। वह ठीक से चल सकता है या नहीं इतना देखना चाहिए। बेटी व्यवहार के लिए भी हमारा समर्थन है। मैं तो कभी-कभी कहता हूँ कि भारत में अन्तरजातीय विवाहों की गणना करके अगर प्रतिशत निकाला जाये तो शायद आपको सबसे ज्यादा प्रतिशत ऐसा करने वाले संघ के स्वयंसेवकों का ही मिलेगा।"[3]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का यह भी मानना है कि अन्तरजातीय विवाह को समाज में तनाव का कारण नहीं बनने देना चाहिए। यदि कोई लड़का और लड़की (विवाह हेतु निर्धारित वैधानिक आयु पूरी करने वाले) विवाह के लिए राजी हैं तो उनके माता-पिता को उन्हें विवाह के लिए स्वीकृति प्रदान कर देनी चाहिए। संघ परिवारों द्वारा निर्धारित किये जाने वाले विवाह प्रसंगों में भी पारस्परिक सहमति को महत्वपूर्ण मानता है।[4]

---

[1] 'मैं या हम'- विश्वनाथ लिमये, पृष्ठ संख्या-93

[2] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 67

[3] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 67

[4] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 213

जहाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अन्तरजातीय विवाह का पुरजोर समर्थन और उसका प्रोत्साहन कर रहा है, वहीं संघ फिलहाल अन्तरधार्मिक-विवाहों पर काम करता दिखायी नहीं दे रहा है।

प्रेमी युगल का बिना विवाह किये लंबे समय तक एक घर में साथ रहना 'लिव-इन-रिलेशनशिप' कहलाता है। कई युगल इसलिए लिव-इन-रिलेशनशिप में रहते हैं, ताकि वे यह तय कर सकें कि दोनों विवाह करने के अनुकूल (Compatible) हैं या नहीं। कुछ इसलिए रहते हैं क्योंकि उन्हें पारम्परिक विवाह व्यवस्था में कोई रुचि नहीं होती। लाइव लॉ की एक रिपोर्ट के अनुसार, चार दशक पहले 1978 ई. में 'बद्रीप्रसाद बनाम डायरेक्टर आफ कंसोलिडेशन' के केस में सुप्रीम कोर्ट ने पहली बार लिव-इन-रिलेशनशिप को मान्यता दी थी। न्यायालय ने यह माना था कि शादी करने की उम्र (वर्तमान में विवाह हेतु निर्धारित वैधानिक आयु पुरुष की 21 वर्ष व स्त्री की 18 वर्ष है) वाले लोगों के बीच लिव-इन-रिलेशनशिप किसी भारतीय कानून का उल्लंघन नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि अगर कोई युगल लंबे समय से साथ रह रहा है तो उस रिश्ते को विवाह ही माना जायेगा।[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज में लिव-इन-रिलेशनशिप के चलन का विरोधी है।[2] समाज में आखिर इस प्रकार की व्यवस्था की क्या जरूरत है ? इसके पीछे तर्क यह दिया जाता है कि विवाह करने से पूर्व एक-दूसरे को जानने-समझने के क्रम में दम्पति एक-दूसरे के साथ रहना चाहते हैं। इससे कई सामाजिक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। विवाह से इतर उत्पन्न होने वाली संतानों का क्या होगा ? उनकी परवरिश की जिम्मेदारी कौन लेगा ? जब दम्पति में आपसी विवादों और देखभाल की जिम्मेदारी को लेकर इन सम्बन्धों में अलगाव होगा तो उस समय क्या स्थिति उत्पन्न होगी ? इन सवालों के जवाब किसी के पास नहीं हैं। विविध आँकड़े बताते हैं कि बहुत कम मामलों में ही लिव-इन सम्बन्धों की परिणति विवाह के रूप में हो पाती है। अधिकतम मामलों में अलगाव ही होता है और काम-सम्बन्धों के अनपेक्षित शारीरिक व मनोवैज्ञानिक परिणाम उपस्थित होते हैं। इस प्रकार श्री सुनील आंबेकर के शब्दों में कहें तो- लिव-इन सम्बन्धों को समाज के लिए सकारात्मक नहीं कहा जा सकता है। श्री आंबेकर अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ: स्वर्णिम भारत के दिशा सूत्र' में लिव-इन सम्बन्धों के बारे में लिखते हैं कि- 'जिन देशों में सशक्त व सुदृढ़ परिवार व्यवस्था नहीं है, वहाँ इस व्यवस्था की जरूरत को फिर भी समझा जा सकता है, किन्तु हमारे समाज में

---

[1] 'क्या होता है लिव-इन रिलेशनशिप, भारत में इसे लेकर क्या है कानून ?' https://www.jansatta.com/explained/what-is-live-in-relationship-what-is-the-legal-rights-of-unmarried-couples-in-india/2493993/

[2] 'संघम् शरणम् गच्छामि'- विजय त्रिवेदी, पृष्ठ संख्या-36

जहाँ परिवार व्यवस्था सुचारु रूप से काम करती है, इस तरह के सम्बन्धों की आवश्यकता नहीं महसूस होती। प्रेम-विवाहों के प्रसंगों में भी लड़का और लड़की विवाह से पूर्व एक-दूसरे को जान समझ लेते हैं इसलिए एक साथ रहने की किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज में अन्तरजातीय वैवाहिक सम्बन्धों के पक्ष में है तथा लिव-इन-रिलेशनशिप के चलन को भारतीय समाज व्यवस्था व परम्परा के प्रतिकूल मानते हुए उसे अनावश्यक मानता है।

3.9- वर्ण-व्यवस्था-

प्राचीन काल में भारतीय समाज में 'वर्ण व्यवस्था' प्रचलित थी। समाज की विभिन्न प्रकार की जरूरतें होती हैं- कुछ बौद्धिक होती हैं, कुछ समाज की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा से सम्बद्ध होती हैं, कृषि, कला, पशुपालन, कुटीर उद्योग, जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन से लेकर वितरण तक कितने ही कार्य समाज के लिए अपरिहार्य होते हैं। समाज की ये आवश्यकताएँ उसमें रहने वाले व्यक्ति के परिश्रम से ही पूरी होनी होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने-अपने गुण-कर्म के अनुसार समाज की सेवा करते हुए, उसमें जो श्रेष्ठ गुण हैं उनकी अभिव्यक्ति एवं विकास हो, और इस प्रक्रिया के चलते समाज में प्रगति हो, इस दृष्टिकोण से समाज के अंदर की गयी व्यवस्था को 'वर्ण व्यवस्था' का नाम दिया गया था। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार- "समाज जीवन की विविध आवश्यकताओं में से किसी न किसी आवश्यकता को पूरा करने में सहभागी होकर व्यक्ति के लिए समष्टि धर्म का पालन करना सुलभ हो और साथ ही अपना विकास करते हुए वह समाज सेवा के लिए अधिकाधिक समर्थ बने इसी दृष्टि से हमारे यहाँ वर्ण व्यवस्था का जन्म हुआ।"[2]

वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी जी लिखते हैं कि- "प्रत्येक मनुष्य दुनिया में विशेष प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ लेकर ही जन्म लेता है, साथ ही वह कुछ मर्यादाएँ लेकर भी जन्मता है, जिनकी पूर्ति नहीं की जा सकती। इन

[1] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 212-13

[2] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, पृष्ठ संख्या- 116

दोनों बातों के अनुसार ही वर्ण का सिद्धान्त निकला है। इसके अनुसार हर व्यक्ति की प्रवृत्ति के अनुसार उसके कर्म क्षेत्र निर्धारित किये जाते हैं।"[1]

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं- 'चतुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्म विभागशः' अर्थात् गुण और कर्म के विभाग से चतुर्वर्ण मेरे द्वारा रचा गया है।

परन्तु किसी काल में इस वर्ण व्यवस्था नामक पद्धति को समाज के लिए कितना ही वैज्ञानिक और उपयोगी क्यों न माना जाता रहा हो, कालान्तर में इस व्यवस्था में बहुत ज्यादा अवनमन हुआ और यह व्यवस्था अपने मूल विचार से विलग हो गयी। आज इस व्यवस्था में व्यवस्था नामक जो भाग है वह समाप्त हो चुका है और केवल वर्ण भाग जातिसंस्था से जुड़कर ऊँच-नीच की विकृत कल्पनाओं के रूप में विद्यमान है। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वर्तमान समय में इस व्यवस्था को समाज के लिए अनुपयोगी मानता है और इस व्यवस्था का समर्थन नहीं करता है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय लिखते हैं कि- 'ऐतिहासिक कारणों से इस व्यवस्था में और ध्वस्त व्यवस्था के कारण समाज में आई हुई विकृतियों या अव्यवस्था के हम कभी भी समर्थक नहीं हो सकते।'[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री गुरुजी ने समाज में प्रचलित सभी भेदभाव पूर्ण व्यवस्थाओं को जड़-मूल से समाप्त करने की वकालत करते हुए सिन्दी में दिये एक अभिभाषण में कहा था कि- 'वर्तमान में तो समाज की सम्पूर्ण भूमि को एक बार हल जोत कर समतल किया जाना, यही अत्यधिक आवश्यक लगता है। पुरानी समाज रचना के वर्तमान विकृत एवं वीभत्स रूप से चिपके रहने की आवश्यकता नहीं, उसे जड़-मूल से समाप्त करना ही ठीक मार्ग है, तभी नवीन ढंग से समाज रचना सम्भव होगी।'[3]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में अज्ञान रखने वाले लोग संघ को वर्ण व्यवस्था के समर्थक के रूप में प्रचारित करते हैं। उनकी इस बात में रत्ती भर भी सत्यता नहीं है। वर्ष 1960-61 ई. की बात है, संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी, स्वामी करपात्री जी महाराज से मिलने उनके आश्रम गये। स्वामी करपात्री जी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के समर्थक थे। चर्चा के दौरान उन्होंने श्री गुरुजी से कहा कि- गोलवलकर जी आप एक काम करें, देश भर में

---

[1] उद्धरित, 'मैं या हम'- विश्वनाथ लिमये, पृष्ठ संख्या- 97

[2] 'मैं या हम'- विश्वनाथ लिमये, पृष्ठ संख्या- 94

[3] 'मैं या हम'- विश्वनाथ लिमये, पृष्ठ संख्या- 94

आपके इतने स्वयंसेवक हैं, आप उन्हें अपने वर्ण के अनुसार व्यवहार करने को कहें। श्री गुरुजी ने अपनी वाक् पटुता से करपात्री जी को ऐसा करने से मना करते हुए कहा- 'मैं संघ प्रमुख हूँ, पर ये सब स्वयंसेवक मेरे शिष्य नहीं हैं, बंधु हैं। उन्हें मैं आज्ञा नहीं देता।' उनके इस इनकार से करपात्री जी नाराज हो गये। इस पर श्री गुरुजी ने कहा- "आप नाराज न हों। मुझे बतायें कि आज वर्णाश्रम बचा है क्या ? जाति स्वरूप बचा है क्या ? उस जीर्ण व्यवस्था को फिर से खड़ा करने का प्रयास व्यर्थ है। सब को पूरी तरह से तोड़कर, एक वर्ण निर्माण करने का समय आ गया है। उसमें से ही नई समाज रचना खड़ी होगी.....वही उचित भी है। संघ यही काम कर रहा है। संघ का विचार है कि सबको समाज व राष्ट्र के चिरन्तन आधार पर एकत्र लाकर एक सुसूत्र संगठित समाज बनाना है, कोई भेदभाव नहीं रहना चाहिए।"[1]

3.10- जाति-व्यवस्था-

ऋग्वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था, जो गुण-कर्म के विभाग पर आधारित थी; उत्तर वैदिक काल के आते-आते जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो गयी। अर्थात् व्यक्ति की सामाजिक पहचान उसके गुणों, कर्मों से निर्धारित न होकर उसके जन्म के आधार पर निर्धारित होने लगी। जो व्यक्ति जिस कुल में जन्म लेता उसकी वही जाति मान ली जाने लगी, कर्म का कोई महत्व नहीं रहा। ऋग्वैदिक काल में वर्ण की रेखा अनुलंघ्य न थी। किसी भी वर्ण का व्यक्ति, किसी भी वर्ण में जा सकता था। विश्वामित्र इसका उदाहरण हैं जो क्षत्रिय होने के बावजूद ब्राह्मण (ब्रह्मर्षि) हुए। जाति-व्यवस्था में पिता से प्राप्त हुई जाति में आजीवन कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है।

अंग्रेजी में जाति के लिए 'कास्ट' (Caste) शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस 'कास्ट' शब्द की उत्पत्ति पुर्तगाली शब्द 'कास्टा' (Casta) से हुई है, जिसका अर्थ- प्रजाति, वंशावली अथवा कुल या नस्ल है। अंग्रेजी के 'कास्ट' शब्द का लैटिन शब्द 'कास्टस' (Castus) से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसका अर्थ- विशुद्ध या अमिश्रित (Pure) या जाति है। इस प्रकार जाति का अर्थ- वंश परम्परा पर आधारित एक विशेष सामाजिक समूह से लगाया जाता है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने जाति-व्यवस्था को परिभाषित करने का प्रयास किया है, जिनमें से कुछ का प्रयास निम्नांकित है-

1 'गुरुजी गोलवलकर जीवन चरित्र'- रंगाहरि, पृष्ठ संख्या- 302-303

कूले (Cooley) ने जाति को परिभाषित करते हुए कहा है कि- 'जब कोई वर्ग पूर्णत: वंशानुसंक्रमण पर आधारित होता है तो उसे जाति कहते हैं।'[1]

सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar & Madan) के अनुसार- 'जाति एक बंद वर्ग है।'[2]

सर हरबर्ट रिजले (Sir Herbert Risely) ने जाति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि- 'जाति, परिवार या परिवार के समूहों का एक संकलन होता है और इसका एक सर्वमान्य नाम होता है। ये लोग एक काल्पनिक पूर्वज या देवता से एक सर्वसामान्य वंश परम्परा या उत्पत्ति का दावा करते हैं, एक ही परम्परागत व्यवसाय को अपनाने पर बल देते हैं और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं जो अपना मत व्यक्त करने के योग्य हैं।'[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'जाति-व्यवस्था' जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित होती है और यह अपने सदस्यों पर खान-पान, विवाह, व्यवसाय और सामाजिक सम्बन्धों से सम्बंधित अनेक प्रतिबंधों को लागू करती है।

हम जब आज जाति-व्यवस्था के बारे में बात करते हैं तो इस व्यवस्था के नकारात्मक पहलू पर ही हमारा ध्यान अधिक केंद्रित रहता है। निश्चित रूप से हम कह सकते हैं कि आज जिस रूप में समाज में जाति-प्रथा है, उसका शायद ही कोई पक्ष सकारात्मक कहा जा सकता हो, लेकिन अपने प्रारंभिक समय में अनेक न्यूनताओं के साथ इस व्यवस्था में कुछ सकारात्मक पहलू भी थे। अपनी 'होमो हैरार्किकस' (Homo Hierarchicus) नामक पुस्तक में लुईस ड्यूमॉन्ट (Louis Dumont) लिखते हैं- "मनुष्य केवल सोचता नहीं है, वह कार्य भी करता है। उसके पास सिर्फ विचार ही नहीं अपितु मूल्य भी हैं।.....विचारों, चीजों का निश्चित पदानुक्रम और लोग सामाजिक जीवन के लिए अपरिहार्य हैं।"[4]

अमौरी डी रेनकोर्ट (Amaury De Riencourt) के शब्दों में- "जाति वास्तव में सहिष्णुता की गहरी भावना से पैदा हुई थी, जो हमेशा भारत में व्याप्त रही है। व्यापक रूप से विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों, सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के साथ संयुक्त रूप से विभिन्न प्रकार की जातियों और भाषाओं को समाहित करने की समस्या, उनकी

---

[1] उद्धरित, 'समाजशास्त्र'- रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, भारत अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 110

[2] उद्धरित, 'समाजशास्त्र'- रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, भारत अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 111

[3] उद्धरित, 'समाजशास्त्र'- रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, भारत अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 111

[4] 'The RSS Story' - K.R. Malkani, Page No.-167

आन्तरिक स्वतंत्रता और आत्म-पहचान को नष्ट किये बिना, उनकी पूजा और विचार की स्वतंत्रता का उल्लंघन किये बिना,.....नितांत भिन्न भौगोलिक स्थितियों और परिवेश से उत्पन्न परम्पराओं और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों को अन्य तरीके से हल नहीं किया जा सकता । अन्य सभ्यताओं में असहमतियों का विध्वंस करके और लोगो को गुलाम बनाकर बेरहमी से समरूपता को समाज में लागू किया गया । भारत में ऐसा नहीं है..... समूह के भीतर भ्रातृ-भाव के कारण कमजोर मजबूत हो गये । सभी अल्पसंख्यकों की रक्षा की गयी ।.....अपनी मूल अवधारणा में जाति-व्यवस्था मनुष्य द्वारा बनाई गयी महान सामाजिक संरचनाओं में से एक थी ।"[1]

डॉ. के. आर. मलकानी लिखते हैं- "प्राचीन भारत के राष्ट्र-निर्माताओं ने भारत की असंख्य जनजातियों को एकरूप न होते हुए भी समरस समाज में एकीकृत कर उसका (जाति-व्यवस्था का) बेहतरीन उपयोग किया । इस प्रक्रिया में 'जाति' भारत की मास्टर संस्था बन गयी ।"[2] अपने अतीत पर यदि हम दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि हमारे देश में 'राज्य' कभी भी उतना स्थिर और महत्वपूर्ण नहीं था, जितना विश्व के अन्य देशों- मिस्र या चीन आदि में । एक लंबे कालखंड तक राज्य लगभग नगण्य हो गया था । इस स्थिति में जाति और अन्तरजातीय पंचायतों ने समाज के नियमन के लिए आवश्यक सभी कानून और व्यवस्था प्रदान की । सभी को समाहित करने वाले एक सार्वभौमिक राज्य के बजाय जाति के इर्द-गिर्द एक सार्वभौमिक समाज का निर्माण किया गया था ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जाति की इस ऐतिहासिक भूमिका की सराहना करता है । लेकिन साथ ही संघ का यह भी कहना है कि- "जाति अपने समय में एक महान संस्था थी, लेकिन आज यह गतावधिक और अनुपयुक्त है । जो लचीला नहीं है वह जल्दी ही समाप्त हो जाता है ।"[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तृतीय सरसंघचालक रहे बालासाहब देवरस के अनुसार- 'हमारे बीच सामाजिक असमानता हमारे पतन का कारण रही है ।'[4] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार का कहना था कि- "हिन्दू समाज में जातिगत भेदभाव का कोई स्थान नहीं है । वे सामाजिक समानता के प्रबल समर्थक थे । उन्होंने समय के साथ हिन्दू समाज में घर कर गयीं कुरीतियों का प्रबल विरोध किया तथा इस प्रकार के किसी भी भेदभाव को दूर करने का संकल्प लिया ।.....उन्होंने सभी जातियों के बीच

---

[1] 'The RSS Story' - K.R. Malkani, Page No.- 167
[2] 'The RSS Story' - K.R. Malkani, Page No.- 166
[3] 'The RSS Story' - K.R. Malkani, Page No.- 168
[4] 'The RSS Story' - K.R. Malkani, Page No.- 168

समान सम्बन्धों के आधार पर संघ को खड़ा किया। अस्पृश्यता और जातिगत प्रतिबंधों को संघ से बाहर रखा।"[1] इस प्रकार से हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना के समय से ही इसकी कार्यप्रणाली में जाति की किसी प्रकार से कोई भूमिका नहीं है। संघ में किसी से कभी उसकी जातिगत पहचान के विषय में नहीं पूछा जाता है। बाबा साहब डॉक्टर भीमराव अंबेडकर भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की जाति-विहीनता से बहुत ज्यादा प्रभावित थे।[2]

हिन्दू समाज में जाति-व्यवस्था से जुड़े एक सवाल के जवाब में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वर्तमान सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी कहते हैं कि- 'जब हम 'जाति-व्यवस्था' कहते हैं तो उसमें गलती होती है। आज व्यवस्था कहाँ है, वह अव्यवस्था है। यह जाति कभी व्यवस्था रही होगी, वह उपयुक्त रही होगी या नहीं रही होगी, आज उसका विचार करने का कोई कारण नहीं है। वह जाने वाली है।' वे आगे कहते हैं कि- 'हम मानते हैं कि सामाजिक विषमता का पोषण करने वाली सभी बातें बाहर जानी चाहिए Lock, Stock and Barrel. हम विषमता में विश्वास नहीं करते। ये प्रत्यक्ष आचरण में आने तक की कठिन यात्रा है, लंबी है; लेकिन करनी ही पड़ेगी और उस पर हमने कदम बढ़ाया है। संघ का काम जैसे-जैसे बढ़ेगा, वैसे-वैसे सर्वत्र पहुँचेगा।'[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने स्थापना काल से ही समाज की विभेदकारी जाति-प्रथा के विरुद्ध समरस समाज की स्थापना के लिए कटिबद्ध है, हालाँकि इस दिशा में संघ को अपने प्रयास और भी ज्यादा सघन करने की आवश्यकता है ताकि समतामूलक समाज की स्थापना कर देश को परमवैभव के शिखर तक ले जाने का कार्य द्रुत गति से अग्रसरित हो सके।

3.11- महिलाओं को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय संस्कृति के उस मंत्र जिसमें कहा गया है- 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' को मानने वाला संगठन है। संघ समाज में स्त्री-पुरुष के विभेद को बिलकुल भी उचित नहीं मानता। राष्ट्रीय

---

[1] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 142

[2] बाबा साहब अंबेडकर ने 1939 ई. में पुणे शाखा के मकर संक्रांति उत्सव की अध्यक्षता की थी। समारोह में उन्होंने तत्कालीन सरसंघचालक डॉ. हेडगेवार से पूछा कि- क्या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सभी स्वयंसेवक ब्राह्मण हैं ? डॉक्टर हेडगेवार ने उत्तर दिया- संघ के स्वयंसेवक जब अपने आदर्शों का प्रचार करते हुए नए स्वयंसेवकों को अपने साथ जोड़ रहे थे, अर्थात् अपने मन का उपयोग कर रहे थे- वे ब्राह्मण थे। जब वे अपना दैनिक व्यायाम कर रहे थे- वे क्षत्रिय थे। जब वे संघ के लिए धन और अन्य व्यापारिक मामले संभालते थे- वे वैश्य होते थे और जब वे अपने शिविर और शाखाओं में सफाई का काम करते हैं तो वे शूद्र होते हैं। इस प्रकार डॉक्टर हेडगेवार ने डॉक्टर अंबेडकर के समक्ष संघ के इस मंतव्य को कि- संघ के लिए जाति का कोई अर्थ नहीं, प्रस्तुत किया। ('The RSS Story' - K.R. Malkani, Page No.- 169)

[3] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ. मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 68-69

स्वयंसेवक संघ के वर्तमान सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के अनुसार- "किसी भी राष्ट्र की प्रगति में महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। समाज में महिलाओं को पुरुषों के बराबरी का दर्जा दिये बिना कोई भी राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता। अपना प्राचीन गौरव हासिल करना है तो हमें राष्ट्र-निर्माण में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार के स्त्री विषयक दृष्टिकोण के बारे में डॉ. राकेश सिन्हा लिखते हैं कि- 'डॉक्टर हेडगेवार महिलाओं के साथ होने वाले सामंती एवं परम्परावादी व्यवहार से आजीवन लड़ते रहे। वह महिलाओं को दया का पात्र नहीं बल्कि समानता एवं सम्मान का हकदार मानते थे। वह बाल-विवाह के विरोधी एवं विधवा-विवाह के समर्थक तो थे ही, उन्होंने 'बेमेल विवाह' का भी विरोध किया।'[2]

संघ-संस्थापक डॉ. हेडगेवार महिलाओं की सार्वजनिक भूमिका के प्रशंसक थे। संघ की शाखाओं एवं शिविरों में महिला नेताओं को व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया जाता था। यह परम्परा अब भी अनवरत जारी है।[3]

वर्ष 2022 ई. में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने विजयादशमी उत्सव में मुख्य अतिथि के रूप में पहली बार एक महिला 'संतोष यादव' जिन्होंने दो बार (वर्ष 1993 व 1994 ई. में) एवरेस्ट शिखर पर देश का ध्वज फहराया था; को आमंत्रित किया, जो संघ में महिलाओं की सहभागिता के दृष्टिकोण को ही परिलक्षित करता है।

संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत महिलाओं को देवी स्वरूपा मानकर पूजाघरों में बंद कर देने अथवा उन्हें दोयम दर्जे का मानकर चूल्हे-चौके में ही सीमित कर देने, इन दोनों प्रकार के अतिरेकों का विरोध करते हुए कहते हैं कि- "हमारे महापुरुषों ने मातृशक्ति को एकदम देवी स्वरूपा मानकर पूजाघरों में बंद करना अथवा द्वितीय श्रेणी का मानकर रसोई घर में मर्यादित कर देना, इन दोनों अतियों से बचते हुए उनके प्रबोधन, सशक्तिकरण तथा समाज के सभी

---

[1] 'भारत को विश्वगुरु बनाने के लिए मातृशक्ति के योगदान को महत्वपूर्ण मानते है संघ प्रमुख' https://www.naidunia.com/editorial/expert-comment-sangh-chief-considers-contribution-of-mother-power-to-be-important-to-make-india-a-world-leader-7795512

[2] 'एक बार जब उन्हें ऐसे बेमेल विवाह की सूचना मिली तब उन्होंने अपने साथियों के साथ जाकर बलपूर्वक उसे रोका और उस लड़की की शादी समान उम्र के लड़के से कराई।' (आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या – 218)

[3] अखिल भारतीय महिला परिषद् की अध्यक्षा राजकुमारी अमृत कुँवर, राज्य (मध्यप्रांत) विधानसभा की उप-सभापति अनुसूया बाई काले नागपुर के संघ शिविर में 28 दिसंबर 1937 ई. को आईं थीं। यह कोई पहली और एकमात्र घटना नहीं थी, इसके पहले भी सार्वजनिक जीवन में कार्यरत महिला नेताओं एवं समाज-सेवियों को आमंत्रित किया गया था। कांग्रेस की नेता कमलाबाई ने 21 नवंबर 1938 ई. को कोंकण में संघ की शाखा में अपना अभिभाषण दिया था। इसी प्रकार पार्वतीबाई चिटणवीस ने 9 दिसंबर 1934 ई. को संघ की नागपुर शाखा के वार्षिक उत्सव में मुख्य अतिथि के रूप में संबोधन दिया था। (आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या- 219)

क्रियाकलापों में निर्णय प्रक्रिया सहित सर्वत्र बराबरी की सहभागिता पर ही जोर दिया है।"[1] इसके बावजूद कुछ लोगों की एक सामान्य सोच यह है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ न केवल हिंदुओं का संगठन है, बल्कि पुरुषों का ही संगठन है। यह सच है कि संघ में महिलाओं की सदस्यता नहीं है। 'संघम् शरणम् गच्छामि' पुस्तक के लेखक विजय त्रिवेदी संघ में महिलाओं की भागीदारी के सम्बन्ध में लिखते हैं कि- "मुझे याद नहीं आता कि संघ के किसी भी संगठन की मुखिया कोई महिला रही हो और पचास साल से ज्यादा उम्र के इन संगठनों के पास बचाव का कोई तर्क मान्य नहीं हो सकता। सौ साल पूरे होने तक महिलाओं की भूमिका में बदलाव को लेकर विचार चल रहा है, लेकिन जरूरत औपचारिकता पूरी करने भर की नहीं है।"[2]

यह बात सत्य है की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दैनिक शाखाओं में महिलायें भागीदारी नहीं करतीं, किन्तु यह भी सत्य है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में बहुत-सी महिलाओं की भागीदारी है। संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार महिलाओं की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक भूमिका के प्रति जागरूक थे। उनकी प्रेरणा से मध्यप्रांत में दो महिला संगठनों- 'राष्ट्र सेविका समिति' (वर्धा) और 'राष्ट्र सेविका समिति' (भंडारा)- की स्थापना 1935-36 ई. में हुई थी। डॉ. हेडगेवार के प्रयास से ही अक्टूबर 1936 ई. में दोनों संगठनों का विलय हो गया और राष्ट्रीय स्तर पर एक 'राष्ट्र सेविका समिति' की स्थापना हुई।[3] उस वक्त डॉ. हेडगेवार ने- संघ की शाखा में महिलाओं को क्यों नहीं शामिल किया ? इस सम्बन्ध में सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत बताते हैं कि- 'डॉ. हेडगेवार से एक महिला ने 1931 ई. में पूछा- आप बात कर रहे हो हिन्दू समाज के संगठन की, लेकिन 50 प्रतिशत महिलाओं को तो वैसे ही छोड़ दिया आपने। तब डॉ. हेडगेवार ने उनको कहा कि आपकी बात बिलकुल ठीक है, परन्तु आज वातावरण ऐसा नहीं है कि पुरुष जाकर महिलाओं में काम करें। इससे कई प्रकार की गलतफहमियों को मौका मिलता है। कोई महिला अगर काम करने को जाती है तो हम उसकी पूरी मदद करेंगे।'[4]

राष्ट्र सेविका समिति कार्यक्रमों, प्राथमिकताओं तथा विभागों की दृष्टि से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ही प्रतिच्छवि है। समिति की संस्थापिका लक्ष्मीबाई केलकर का मानना था कि- महिलायें न केवल परिवार का केन्द्र बिंदु

---

[1] विजयादशमी उत्सव (बुधवार दि. 05 अक्तूबर 2022) के अवसर पर प. पू. सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी का उद्बोधन https://www.rss.org/hindi/Encyc/2022/10/5/Vijaya-Dashami-2022-Full-Speech.html

[2] 'संघम् शरणम् गच्छामि'- विजय त्रिवेदी, पृष्ठ संख्या- 18

[3] 'आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार', राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या- 219

[4] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ. मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 37

हैं, बल्कि देश की आधार शक्ति भी हैं। उनकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करके एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण की दिशा में काम किया जा सकता है।

सोलहवीं लोकसभा (2014-2019) की अध्यक्ष (स्पीकर) रहीं श्रीमती सुमित्रा महाजन, जो इस समिति की प्रमुख सदस्यों में से एक हैं, कहती हैं कि-'महिलायें संघ में बराबर का काम कर रही हैं। आजादी के वक्त भी सेविका समिति की सदस्यों ने काफी काम किया था।'[1] विभाजन के कठिन दिनों में जब तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी कराची में स्वयंसेवकों का प्रबोधन कर रहे थे, उस समय सेविका समिति के संस्थापिका लक्ष्मीबाई केलकर लाहौर प्रवास पर थीं। सेविका समिति तथा संघ परिवार की कई बहनों ने हिंदुओं की सुरक्षा के लिए कार्य किये।[2]

विदेशों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाएं 'हिन्दू स्वयंसेवक संघ' द्वारा संचालित की जाती हैं। वहाँ पारिवारिक शाखाएं भी हैं, जहाँ पुरुष और महिलायें दोनों आते हैं। इन्हें साप्ताहिक या मासिक रूप से आयोजित किया जाता है। पुरुषों और महिलाओं, दोनों के गण बनाये जाते हैं। दोनों के लिए समान शारीरिक तथा बौद्धिक गतिविधियाँ होती हैं। साधारण खेल गतिविधियाँ भी होती हैं जिसमें महिलायें व पुरुष सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। भारत के सन्दर्भ में संघ की शाखा-पद्धति में बदलाव करके महिलाओं को सहभाग का अवसर देने के सम्बन्ध में सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत का कहना है कि- 'अगर इस को बदलना है तो दोनों तरफ से लगना चाहिए कि इस को बदलना है तब वह होगा, नहीं तो नहीं होगा, ऐसे ही चलेगा।'[3]

आज महिलायें संघ के बहुत से विभागों, जैसे- सेवा विभाग, सम्पर्क-विभाग और प्रचार विभाग आदि में काम कर रही हैं। इसके साथ ही ग्राम-विकास, गोरक्षा, धार्मिक कार्यक्रम और कुटुम्ब प्रबोधन व पर्यावरण विकास की गतिविधियों में भी महिलायें शामिल हैं। 'स्त्री-शक्ति' भी संघ का एक अन्य संगठन है, जिसमें केवल महिलायें ही हैं। संघ परिवार के प्रमुख संगठन, जैसे- अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् में भी अनेक सक्रिय महिला कार्यकर्ता हैं। श्री सुनील आंबेकर लिखते हैं- 'कुछ लोगों की प्रायोजित मान्यता के विपरीत संघ एक खुले विचारों वाला संगठन है, जो महिला विषयक मुद्दों के प्रति समान रूप से संवेदनशील रहता है। संघ में मुक्त संवाद का पर्याप्त स्थान है। उदाहरण के

[1] 'संघम् शरणम् गच्छामि'- विजय त्रिवेदी, पृष्ठ संख्या- 65

[2] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 78

[3] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 37

लिए- मासिक धर्म से सम्बंधित गलत सामाजिक धारणाओं के विरोध में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् ने अभियान चलाया।..... इस दौरान लड़कों को भी सेनिटरी नैपकिन बाँटते हुए देखा जा सकता था।.....इस प्रकार मासिक धर्म के साथ जुड़े एक लज्जा-भाव के सामाजिक प्रचलन को तोड़ने की दिशा में प्रयास किया गया।'[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लिए महिला-सशक्तिकरण का विषय केवल विचार-गोष्ठी, सेमिनार, सम्मेलन आदि आयोजित करके महज बौद्धिक जुगाली करने तक सीमित नहीं है, अपितु व्यावहारिक रूप से जमीनी धरातल पर काम करने का विषय है। जम्मू-कश्मीर के सन्दर्भ में 'धारा- 35 ए'[2] महिलाओं को उनके केवल महिला होने के आधार पर कुछ अधिकारों से वंचित करती थी और जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसकी समाप्ति की माँग करता था तो इसे किसी अन्य दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए था।

'तीन तलाक' के विरुद्ध मुस्लिम महिलाओं का संघर्ष तथा उनके इस विरोध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समर्थन को महिला-सशक्तिकरण की दिशा में सुधार के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने समाज में महिलाओं के प्रति होने वाले सभी प्रकार के भेदभाव को समाप्त करने के लिए आन्दोलन चलाये तथा हिन्दू समाज से कुरीतियों का परिहार करने के साथ-साथ अन्य मतावलंबी महिलाओं के संघर्ष का भी समर्थन किया। महिलाओं के मंदिर प्रवेश को लेकर होने वाले आन्दोलन के सम्बन्ध में श्री सुनील आंबेकर लिखते हैं- 'देवता की विशिष्ट प्रकृति के अनुरूप केवल एक या दो मंदिरों को छोड़कर, उन्हें मंदिर में प्रवेश का पूरा अधिकार रहता है। इस स्थिति में भी परिवर्तन की आवश्यकता को केन्द्र में रखते हुए हिन्दू समाज तथा श्रद्धालुओं के साथ बातचीत व विचार-विमर्श के माध्यम से परिवर्तन लाया जा सकता है।'[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह रहे भैयाजी जोशी का भी यही मत है।[4]

---

[1] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 231-232

[2] 'धारा- 35 ए' के अनुसार यदि जम्मू-कश्मीर की कोई महिला, जम्मू-कश्मीर के बाहर किसी अन्य भारतीय राज्य में रहने वाले पुरुष के साथ विवाह करती है तो उसके सम्पत्ति के अधिकारों को यह धारा अत्यन्त सीमित करती थी। जबकि पुरुषों के लिए इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं था। आधुनिक लोकतंत्र में यह कानून मध्य-युगीन प्रवृत्ति को दर्शाता है, जो कि पुरुष और स्त्री में भेद करते हुए उनके लिए अलग-अलग नियम घोषित करता था।

[3] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 232

[4] भैयाजी जोशी कहते हैं कि- 'आर.एस.एस. मंदिरों में बिना किसी भेदभाव के महिलाओं के प्रवेश का पक्षधर है....सामाजिक और धार्मिक नेतृत्व को मिलकर मंदिरों में होने वाले भेदभाव को दूर करना होगा और हर स्तर पर मानसिकता में बदलाव लाने के प्रयास करने होंगे।' (मंदिर में महिलाओं को एंट्री दिए जाने का संघ ने किया समर्थन -https://navbharattimes.indiatimes.com/india/rss-bats-for-womens-right-to-entertemples/articleshow/51378305.cms)

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सामाजिक जीवन में महिलाओं की सहभागिता को बढ़ाने व उनके सशक्तिकरण के लिए योजनाबद्ध रूप से काम कर रहा है।

3.12- समलैंगिकों व तृतीयपंथियों (किन्नरों) को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने समाज के बदलावों को समझने और उनके साथ चलने का सतत प्रयास किया है। सामाजिक स्तर पर होने वाले विविध परिवर्तनों को भी लेकर उसमें स्वीकार्यता का भाव है। समाज में अक्सर समलैंगिकों व ट्रांसजेंडरों (तृतीयपंथी) को बेहद कटु अनुभवों, भेदभावों का सामना करना पड़ता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इन सबके साथ होने वाले हर प्रकार के सामाजिक-भेदभाव का विरोधी है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समलैंगिकता के विरोध में नहीं है। 17 मार्च 2016 ई. को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सह-सरकार्यवाह व वर्तमान में सरकार्यवाह का दायित्व निर्वहन कर रहे श्री दत्तात्रेय होसबाले ने 'इंडिया टुडे कॉन्क्लेव' में बोलते हुए कहा था कि- 'मुझे नहीं लगता कि समलैंगिकता को न्यायिक अपराध माना जाना चाहिए, जब तक कि यह समाज में किसी अन्य को प्रभावित नहीं करती। यौन-वृत्तियाँ निजी व व्यक्तिगत विषय हैं।'[1]

6 सितम्बर 2018 ई. को उच्चतम न्यायालय ने समलैंगिकता को अपराध न मानने वाला निर्णय सुनाया। इस पर प्रतिक्रिया देते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन अखिल भारतीय प्रचार प्रमुख श्री अरुण कुमार ने कहा कि- 'सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की तरह संघ भी समलैंगिकता को अपराध नहीं मानता।'[2]

जहाँ तक बात समलैंगिक-विवाह की है, तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसका बिलकुल भी समर्थन नहीं करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह दत्तात्रेय होसबाले के अनुसार- 'समलैंगिक विवाह को मान्यता नहीं प्रदान की जानी चाहिए, क्योंकि इससे समलैंगिकता का संस्थानीकरण हो जायेगा, इसलिए इन्हें रोका जाना चाहिए।'[3]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक अन्य अखिल भारतीय अधिकारी श्री अरुण कुमार के अनुसार- 'संघ समलैंगिकता को अपराध नहीं मानता, लेकिन समलैंगिक विवाह और सम्बन्ध प्रकृति से सुसंगत और नैसर्गिक नहीं है,

---

[1] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 215

[2] RSS ने समलैंगिकता पर SC के फैसले का किया समर्थन लेकिन ऐसे संबंधों को बताया अप्राकृतिक https://www.aajtak.in/india/story/rss-supports-decriminalising-homosexuality-but-says-these-kind-relations-are-unnatural-563694-2018-09-06

[3] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 215

इसलिए हम इस प्रकार के सम्बन्धों का समर्थन नहीं करते।' वे आगे कहते हैं कि- 'परम्परा से भारत का समाज भी इस प्रकार के सम्बन्धों को मान्यता नहीं देता। उन्होंने कहा कि मनुष्य सामान्यत: अनुभवों से सीखता है इसलिए इस विषय को सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही संभालने की आवश्यकता है।'[1]

संघ परिवार के महिला संगठन 'राष्ट्र सेविका समिति' से सम्बद्ध एक संगठन 'सामुदायिक न्यास' ने एक सर्वे किया और उसके आधार पर निष्कर्ष निकाला, जो देश भर से एकत्रित 318 प्रतिक्रियाओं पर आधारित है; जिसमें आधुनिक विज्ञान से लेकर आयुर्वेद उपचार के आठ अलग-अलग तरीकों के चिकित्सक शामिल थे। सामुदायिक न्यास के अनुसार सर्वे में शामिल लगभग 70 % डॉक्टरों और संबद्ध चिकित्सा पेशेवरों ने कहा कि समलैंगिकता एक विकार है, जबकि 83 % ने समलैंगिक सम्बन्धों में यौन रोगों के संचरण की पुष्टि की है।.....सर्वेक्षण से यह देखा गया कि इस तरह के विवाहों को वैध बनाने का निर्णय मरीजों को ठीक करने और उन्हें सामान्य स्थिति में लाने के बजाय समाज में और अधिक अव्यवस्था को बढ़ावा दे सकता है।[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज में ट्रांसजेंडरों के प्रति एक सम्मानपूर्ण दृष्टि रखता है और चाहता है कि वे भी एक सम्मानपूर्ण जीवन बसर करें। वर्ष 2019 के प्रयागराज कुंभ के शुभ अवसर पर पहली बार 'किन्नर अखाड़ा' की पेशवाई निकाली गयी तथा जूना अखाड़ा, जो कि भारत में साधुओं का सबसे बड़ा पंथ है, ने हिन्दू आध्यात्मिक परम्पराओं में किन्नर अखाड़ा को मान्यता प्रदान की। जूना अखाड़ा ने किन्नर अखाड़े के प्रमुख को महामण्डलेश्वर की उपाधि से विभूषित किया, जो कि साधुओं के इस पंथ में आध्यात्मिक अभिभावकों का स्थान है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज में इस प्रकार की घटनाओं को सकारात्मक दृष्टि से देखता है।

18 सितंबर 2018 को दिल्ली के विज्ञान-भवन में आयोजित व्याख्यानमाला में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ.मोहन भागवत ने समलैंगिकों तथा ट्रांसजेंडरों से जुड़े एक सवाल के जवाब में कहा कि- 'अब समय बदला है तो अलग प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ेगी, करनी चाहिए।.....ये सहृदयता से देखने की बातें हैं। जितना

---

[1] RSS ने समलैंगिकता पर SC के फैसले का किया समर्थन लेकिन ऐसे संबंधों को बताया अप्राकृतिक https://www.aajtak.in/india/story/rss-supports-decriminalising-homosexuality-but-says-these-kind-relations-are-unnatural-563694-2018-09-06

[2] समलैंगिकता एक रोग, विवाह को मिली कानूनी मान्यता तो समाज में यह और बढ़ेगा, RSS के सर्वे में डॉक्टरों का दावा https://www.jagran.com/news/national-rss-survey-homosexuality-a-disorde-it-will-further-increase-in-society-if-same-gender-marriage-is-legalised-23404322.html

उपाय हो सकता है, उतना करना। नहीं तो जैसा है, वैसा स्वीकार करके उनकी कोई न कोई व्यवस्था बने; ताकि सारा समाज स्वस्थ मन से चल सके और किसी कारण ऐसी अस्वस्थता किसी में है या अलगपन है तो वह उसके समाज से अलग-थलग पड़ जाने का और अपने जीवन की आकांक्षाओं में आगे न बढ़ने का कारण न बने। यह सारे समाज को देखना पड़ेगा। समय बहुत बदला है इसलिए हमको इसकी सामाजिक टैकलिंग के बारे में विचार करना पड़ेगा।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दू समाज की सुधारवादी तथा सर्व-समावेशी क्षमता में विश्वास रखता है। श्री सुनील आंबेकर समाज परिवर्तन हेतु कानूनों की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी कानून की अपेक्षा समाज की मानसिकता में परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनका कहना है कि परिवर्तनों और चुनौतियों का सामना करने की संघ पद्धति समाज-संवाद पर आधारित है।[2] इन चुनौतियों और परिवर्तनों के प्रति समाज मन के निर्माण हेतु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है ताकि एक सर्व-समावेशी, सशक्त समाज की स्थापना के माध्यम से राष्ट्र को उन्नत बनाया जा सके।

3.13- शिक्षा-

'शिक्षा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'शिक्ष्' धातु में 'अ' प्रत्यय लगाने से हुई है, जिसका अर्थ होता है- सीखना, ज्ञान प्राप्त करना, अपनी क्षमता को विकसित करना आदि। शिक्षा शब्द का आंग्ल भाषा में पर्यायी शब्द है- Education (एजुकेशन)। शिक्षाशास्त्रियों के अनुसार 'एजुकेशन' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्दों- 'एजुकेटम' (Educatum), 'एजुसीयर' (Educere), और 'एजुकेयर' (Educare) से हुई है, जो एक-दूसरे के प्रायः समानार्थी समझे जाते हैं। इन शब्दों का अर्थ निम्नलिखित है-

1. एजुकेटम (Educatum)- शिक्षित करना, प्रशिक्षित करना। (To train, act of teaching)
2. एजुसीयर (Educere)- विकसित करना अथवा बाहर निकालना। (To lead out, To develop)
3. एजुकेयर (Educare)- आगे बढ़ाना, संवर्द्धन करना। (To bring up, To nourish)

---

[1] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 88

[2] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 217

शिक्षा शब्द का स्त्रोत बिन्दु कुछ भी हो, एक बात स्पष्ट है कि शिक्षा का तात्पर्य जन्मजात शक्तियों को बाहर निकालना, पथ-प्रदर्शन करना एवं विकास की राह पर स्वयं और दूसरों को आगे ले जाना है। शिक्षा एक ऐसा साधन है जो मानव को प्राणी-जगत के अन्य जीवों से पृथक् करती है। शिक्षा मानव को एक सामाजिक प्राणी बनाकर उसे उसकी सांस्कृतिक धरोहर को आगे आने वाली पीढ़ी को हस्तांतरित करने के काबिल बनाती है। आधुनिक सन्दर्भ में शिक्षा के अर्थ पर विचार करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी कहते हैं- "यह मानव की अंतर्निहित क्षमताओं का प्रकटीकरण है। सूचनाओं का मस्तिष्क में ठूँसना-भर शिक्षा नहीं है। इसका लक्ष्य मानव-मस्तिष्क को कबाड़ी का गोदाम बनाना नहीं है। शिक्षा को सर्वत्र मानव में निहित विविध प्रतिभाओं तथा क्षमताओं की पहचान एवं प्रकटीकरण के आधार-स्तम्भ के रूप में ग्रहण किया गया है।..... परन्तु हम हिन्दू तो और भी आगे गये हैं, हमारे लिए शिक्षा का सार है व्यक्ति के अंत:व्यक्तित्व का प्रकटीकरण अथवा प्रस्फुटीकरण।..... हमारी मान्यता है कि हमारे भीतर चरम सत्य विद्यमान है। उसी परम सत्य की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति हमारी शिक्षा-प्रणाली का मूल उद्देश्य है।"[1] शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी को केवल किताबी कीड़ा बनाना नहीं, बल्कि समाज और देश के चतुर्दिक विकास के लिए भावी नागरिक तैयार करना है। उन्हें सभ्य, सुसंस्कृत, श्रेष्ठ एवं सुयोग्य बनाना है। सभ्य, श्रेष्ठ, सुयोग्य, सुसंस्कृत एवं स्वस्थ नागरिक ही स्वच्छ एवं स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकते हैं। समृद्ध एवं उन्नत राष्ट्र की रूपरेखा तय कर सकते हैं और परमवैभवी राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। अतः शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य व्यक्ति को व्यावहारिक बनाना तथा अन्धकार से बाहर निकाल विभिन्न बन्धनों से मुक्त कराना है। सत्य, धर्म, न्याय के मार्ग पर चलने को प्रेरित करना है, उसके अन्दर छिपी शक्ति का अहसास दिलाना तथा कुमार्ग एवं अहंकार से बाहर निकलने की सीख देना है ताकि वह इस अनमोल जीवन का मूल्य समझ सके। शिक्षा व्यक्ति के सुषुप्त विवेक को जाग्रत कर उसे बुद्धिमान बनाती है, जिससे वह सही-गलत, उचित-अनुचित के बीच विभेद कर सके।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि राष्ट्रोत्थान के लिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिसमें दृढ़-चारित्र्य, शरीर व मन की बलोपासना, राष्ट्र-परम्परा के महापुरुषों के गुणों की अमिट छाप निर्माण कर सकने वाले चरित्रों और धर्म के शाश्वत तत्वों को बिम्बित करने जैसी पवित्र बातों के संस्कार बचपन से ही पुष्ट करते रहने की योजना हो। श्री

[1] 'विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 243

गुरुजी के अनुसार- 'उदर-भरण के ढेर सारे विषयों की भीड़ बढ़ाने से उत्तम मानव, राष्ट्र के उत्तम अवयव का निर्माण नहीं होता।'[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि देश में प्रचलित वर्तमान पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली, देश के लिए उपयुक्त नहीं है। उसमें आमूलाग्र परिवर्तन की महती आवश्यकता है। श्री गुरुजी कहते हैं- 'भाड़े की शिक्षा-प्रणाली अपनी परम्परा में फिट नहीं बैठती।'[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा का मानना है कि- 'देश की शिक्षा-पद्धति व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का साधन बने, राष्ट्रीय स्वाभिमान और सामाजिक प्रतिबद्धता का भाव उत्पन्न करे तथा राष्ट्रीय विकास की आवश्यकता की पूर्ति करे।'[3] परन्तु वास्तविकता अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा की अपेक्षाओं से एकदम उलट है। हमारी शिक्षा-व्यवस्था इन उद्देश्यों को पूरा करने में बहुत हद तक असफल रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में प्रचलित परतंत्रताकालीन शिक्षा-पद्धति में बदल हेतु कुछ आयोग तथा समितियाँ गठित की गयीं ताकि देश की शिक्षा-पद्धति को स्वतंत्र राष्ट्र के आदर्शों, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप ढाला जा सके। उन समितियों तथा आयोगों द्वारा कई महत्वपूर्ण संस्तुतियाँ भी की गयीं लेकिन राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव में उनको क्रियान्वित करने के प्रामाणिक प्रयत्न नहीं हुए।[4] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा का मानना है कि- 'शिक्षा-क्षेत्र में वर्तमान में दिख रही गिरावट अब तक अपनाई गयी दिशाहीन नीतियों का परिणाम है। कई समितियों और आयोगों की सिफारिशों के बावजूद नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित चरित्र-निर्माण की शिक्षा का सम्पूर्ण उपेक्षा की गयी।'[5] राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा के बारे में स्वाभिमान व गौरव निर्माण करने के स्थान पर उसका मर्दन व अवहेलना करने वाले पाठ्यक्रम अपनाए गये। इस सम्बन्ध में श्री गुरुजी कहते हैं कि- ''विशुद्ध राष्ट्रज्ञान न होने के कारण या देश के अन्यान्य विरोधी समाजों के अस्तित्व को देखते हुए उनकी

---

[1] श्री गुरुजी समग्र- भाग-6, पृष्ठ संख्या-30

[2] श्री गुरुजी समग्र- भाग-6, पृष्ठ संख्या-30

[3] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा'-(प्रस्ताव)-2008 : शिक्षा राष्ट्रीय प्राणधारा से जुड़े -'आरएसएस आर्काइव

[4] उदाहरण- 'कोठारी आयोग' (वर्ष 1964 में गठित) ने अपनी रिपोर्ट में खेद प्रकट किया था कि हमारे विद्यालय और महाविद्यालय राष्ट्र-पुनर्निर्माण के महान लक्ष्य से अछूते रह गए हैं। उसके प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के बाद भी परिस्थिति में कोई ठोस सुधार नहीं हुआ।

[5] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2008 : 'शिक्षा राष्ट्रीय प्राणधारा से जुड़े'- आरएसएस आर्काइव

सहानुभूति संपादन करने की लालसा के फलस्वरूप श्रेष्ठ राष्ट्रीय पुरुषों के जीवन-चरित्रों के पठन की हेतुपूर्वक उपेक्षा हुई है। इसलिए इन सम्भ्रान्तियों से सावधान रहकर योग्य शिक्षा-क्रम का अनुसरण अनिवार्य है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का नेतृत्व देश में प्रचलित शिक्षा-पाठ्यक्रम में आमूलाग्र परिवर्तन का आग्रही रहा है। श्री गुरुजी द्वारा दिये गये ऊपर उद्धरित वक्तव्य में भी इसी आग्रह को रेखांकित किया गया है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आरोप है कि शिक्षा के माध्यम से जहाँ चरित्र-निर्माण तथा शरीर और मन पर संयम-साधना का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, वहीं सरकार एड्स नियन्त्रण का बहाना लेकर मासूम बालक-बालिकाओं को 'यौन-शिक्षा' देने की ओर प्रवृत्त हो रही है।[2] राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के प्रारम्भिक मसौदे में भी 'यौन-शिक्षा' का प्रावधान रखते हुए कहा गया था कि- "यौन-शिक्षा को सहमति, उत्पीड़न, महिलाओं के प्रति सम्मान, सुरक्षा, परिवार-नियोजन और यौन-रोगों की रोकथाम के लिए माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में शामिल किया जायेगा।"[3] मसौदे के इस प्रावधान का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने विरोध किया। 'यौन-शिक्षा' के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह रहे एच.वी. शेषाद्रि अपने एक व्याख्यान में कहते हैं कि- "यौन-शिक्षा जैसे विशिष्ट विषय प्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों को देना हानिकारक सिद्ध हो सकता है। रामायण एवं महाभारत की कहानियों तथा महापुरुषों एवं महती नारियों के जीवन-उपाख्यान एवं कथा-प्रसंग उनके भावी पारिवारिक जीवन के मार्गदर्शन के लिए पर्याप्त और युक्ति संगत है। विद्यार्थियों के लिए 'ब्रह्मचर्य' के प्रमुख विषय पर ही स्पष्टतः ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और उसके लिए पूर्ण सावधानी के साथ ध्यान देना चाहिए।"[4]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंधित संगठन 'शिक्षा,संस्कृति उत्थान न्यास' के सचिव श्री अतुल कोठारी भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के प्रारम्भिक मसौदे के इस प्रावधान का मुखर विरोध करते हुए कहते हैं कि- "विद्यालयों में यौन-शिक्षा के अध्यापन या इसे पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अगर आवश्यकता हुई तो छात्रों

---

[1] श्री गुरुजी समग्र-भाग-6, पृष्ठ संख्या- 31

[2] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2008 : 'शिक्षा राष्ट्रीय प्राणधारा से जुड़े'- आरएसएस आर्काइव

[3] 'आरएसएस से जुड़े संगठन ने कहा- स्कूलों में यौन शिक्षा देने की कोई जरूरत नहीं' https://www.abplive.com/news/india/rss-linked-organization-says-no-need-to-give-sexual-education-1191119

[4] भारतीय शिक्षा एक चिंतन, हो.वे. शेषाद्रि, पृष्ठ संख्या- 39

को विद्यालयों में परामर्श दिये जा सकते हैं।" वे आगे कहते हैं कि- 'बच्चों के अलावा यह जरूरी है कि उनके परिजनों को भी इस सम्बन्ध में परामर्श दिये जायें।' स्कूलों में यौन-शिक्षा के विरोध के पक्ष में तर्क रखते हुए वे दावा करते हैं कि- 'विश्व में जहाँ भी इसे लागू किया गया है, इसका नकारात्मक प्रभाव देखा गया है और इससे बचा जाना चाहिए।'[1]

यौन-शिक्षा के सम्बन्ध में जहाँ तक संघ के कठोर रुख के बारे में मुझे समझ में आता है कि- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को लगता है कि विद्यालयों में यौन-शिक्षा देने से अश्लीलता का माहौल बनेगा। देश के ज्यादातर विद्यालयों में सह-शिक्षा होने से ऐसे विषयों के शिक्षण के समय विद्यार्थियों में थोड़ी असहजता हो सकती है, क्योंकि जैसा हमारा समाज है उसमें अभी भी खुलकर यौन-शिक्षा के सम्बन्ध में बात करने में झिझक देखी जा सकती है, संघ में भी ऐसा ही है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के प्रारम्भिक मसौदे में शामिल रहे इस (यौन-शिक्षा) प्रावधान को हालाँकि अन्तिम रूप से स्वीकृत नहीं किया गया, लेकिन मुझे लगता है जिन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के प्रारम्भिक मसौदे में यौन-शिक्षा को पाठ्यक्रम में रखा गया था, वे बहुत ही महत्वपूर्ण और जरूरी थे। उन पर जागरूकता आवश्यक है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृढ़ मत है कि देशभर में प्राथमिक शिक्षण मातृभाषा या अन्य किसी भारतीय भाषा में ही होना चाहिए। शिक्षा की माध्यम भाषा के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दृष्टिकोण का विस्तार से विश्लेषण द्वितीय अध्याय के उप-अध्याय 'मातृभाषा और शिक्षा की माध्यम भाषा को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण' के अंतर्गत किया गया है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रौढ़-शिक्षा का समर्थन करता है। वर्ष 1978 ई. में जब तत्कालीन केन्द्र सरकार ने आगामी पाँच वर्षों में देश की 15 वर्ष से 35 वर्ष की आयु के 10 करोड़ निरक्षरों को शिक्षा देने के लिए एक योजना बनाकर उसके क्रियान्वयन में सफलता हेतु अन्य संगठनों सहित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से भी सहयोग की अपेक्षा की। तत्कालीन संघ के अखिल भारतीय नेतृत्व ने इस कार्य में संघ की ओर से सक्रिय सहयोग का आश्वासन सरकार को दिया। संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा ने भी सरकार द्वारा हो रहे इस प्रयत्न का स्वागत किया और सभी

---

[1] 'आरएसएस से जुड़े संगठन ने कहा- स्कूलों में यौन शिक्षा देने की कोई जरूरत नहीं' https://www.abplive.com/news/india/rss-linked-organization-says-no-need-to-give-sexual-education-1191119

स्वयंसेवक बन्धुओं और समाज के बन्धुओं से सरकार के इस कार्य में सक्रिय सहयोग कर सफल बनाने का आग्रह किया।[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जब शिक्षा की बात करता है तो उस में 'स्त्री-शिक्षा' की बात भी सन्निहित होती है। संघ में स्त्री-शिक्षा पर अलग से कोई चिंतन नहीं किया गया है। संघ के इस दृष्टिकोण का परिलक्षण उसके एक प्रकल्प 'विद्या भारती' द्वारा माध्यमिक स्तर तक के शिक्षण हेतु संचालित किये जाने वाले 'सरस्वती विद्या मंदिर' में पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रमों में भी होता है। क्रिस्टोफ जेफ़रलोट (Christophe Jaffrelot) द्वारा संपादित पुस्तक 'द संघ परिवार ए रीडर' में संग्रहीत एक आलेख 'एजुकेशन द चिल्ड्रन ऑफ द हिन्दू राष्ट्र' में लेखिका तनिका सरकार लिखती हैं कि- "पाठ्यक्रम (विद्या भारती का) वास्तव में 'लिंग' पर आधारित नहीं है, यह लड़कों और लड़कियों के लिए एक समान है।"[2]

भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप शिक्षा के व्यापारीकरण व बाजारीकरण की तेज प्रक्रिया के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत सचेत करते हुए कहते हैं कि- "शासन और समाज दोनों का सहभाग शिक्षा क्षेत्र में हो तथा दोनों मिलकर शिक्षा का व्यापारीकरण न होने दें।"[3] वर्तमान समय में भारत विश्व में सर्वाधिक युवा शक्ति वाला देश है। आज सभी अभिभावक अपने पाल्यों को अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं। जब शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, तो उनके लिए सस्ती व गुणवत्तायुक्त शिक्षा प्राप्त करना कठिन हो गया है। आज अधिकांश निर्धन छात्र-छात्राएँ गुणवत्तापूर्ण शिक्षा से वंचित हैं। परिणामस्वरूप समाज में बढ़ती आर्थिक असमानता पूरे देश के लिए एक गम्भीर चिन्ता का विषय है। इस सम्बन्ध में संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा का मत है कि- 'समकालीन शिक्षा परिदृश्य में सरकारों को पर्याप्त संसाधन आवंटित करने और अपनी नीतियाँ बनाने की अपनी जिम्मेदारी के प्रति आगे आना चाहिए। शिक्षा क्षेत्र में बढ़ते व्यवसायीकरण पर अंकुश लगाने की आवश्यकता है ताकि विद्यार्थियों को अवहनीय लागत पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए मजबूर न होना पड़े।' साथ ही अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा का यह भी मानना है कि- 'प्रत्येक बच्चे को समान अवसर के वातावरण में मूल्य आधारित, राष्ट्रवादी, रोजगारोन्मुखी और कौशल आधारित शिक्षा मिलनी चाहिए। साथ ही राजकीय व निजी दोनों

---

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-1978 : 'प्रौढ़-शिक्षा'- आरएसएस आर्काइव

[2] 'The Sangh Parivar:A Reader'- Edited- Christophe Jaffrelot, Page No.- 204

[3] 'यशस्वी भारत'-मोहन भागवत, प्रभात पेपरबैक्स, प्रथम संस्करण-2021, पृष्ठ संख्या-113

प्रकार के स्कूलों में शिक्षकों के स्तर को बढ़ाने के लिए उचित प्रशिक्षण, उचित वेतन और कर्तव्य-परायणता को मजबूत करना अत्यन्त आवश्यक है।'[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ते हुए अल्पसंख्यकवाद से भी चिन्तित है। उसका मानना है कि शिक्षा के स्तर पर सम्प्रदाय के आधार पर विभेद करना घातक हो सकता है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश में एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था बनाने को प्रयासरत है जिससे देश और समाज के साथ एकात्म, सक्षम तथा दायित्ववान मनुष्यों का निर्माण हो सके। साथ ही संघ इस बात के लिए भी सतत चिंतनशील है कि- शिक्षा सर्वसामान्य व्यक्ति की पहुँच में सुलभ और सस्ती रहे। शिक्षित व्यक्ति रोजगार-योग्य, स्वावलंबी, स्वाभिमानी बन सकें और जीवन-यापन के सम्बन्ध में उनके मन में आत्मविश्वास हो। देश में शिक्षा की व्यवस्था इस उद्देश्य को साकार करने वाली तथा पाठ्यक्रम इन बातों की शिक्षा देने वाला हो।

3.14- धर्म-

भारतीय समाज अनादिकाल से धर्मप्राण समाज रहा है। 'धर्म' शब्द भारतीय धारणानुसार बहुआयामी शब्द होने के कारण यहाँ के धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक साहित्य में वह विविध अर्थों में प्रयुक्त दिखता है। इसका सम्बन्ध भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों सृष्टियों से है। व्यक्ति से सृष्टि तक के वैशिष्ट्य, उनके परस्पर सम्बन्ध, जिम्मेदारियाँ, विधि-निषेध आदि धर्म के द्वारा बोधित किये जा सकते हैं। (उदाहरणार्थ- 'तरलता' जल का धर्म है। 'गुरुत्वाकर्षण' पृथ्वी का धर्म है। 'प्रकाश' एवं 'ऊष्मा' अग्नि का धर्म है। यहाँ यह गुण या स्वभाव-वाचक का अर्थ में प्रयोग में आता है। पितृधर्म, पुत्र-धर्म में वह जिम्मेदारियों के रूप में प्रकट हुआ है। राज-धर्म आदि में वह कर्तव्य या अनुशासन के रूप में बोधित हुआ है।)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी 'धर्म' की परिभाषा बताते हुए कहते हैं कि- ''हमारे 'धर्म' की परिभाषा दुहरी है। प्रथम तो मनुष्य के मस्तिष्क का उचित पुनर्वासन तथा द्वितीय सामंजस्यपूर्ण

---

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2016 : 'सभी के लिए सुलभ, सस्ती और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा'- आरएसएस आर्काइव

[2] अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में 50% मुस्लिम आरक्षण, अल्पसंख्यक शैक्षिक आयोग का गठन, अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थाओं को विशेष सुविधाएं प्रदान करना, लोकसेवा आयोग की प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के लिए बजट में मुसलमानों के लिए विशेष प्रावधान इत्यादि उपक्रमों के द्वारा सरकार शिक्षा के क्षेत्र में भी संप्रदाय के आधार पर विभाजक प्रवृति को बढ़ावा दे रही है। (अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2008 : 'शिक्षा राष्ट्रीय प्राणधारा से जुड़े'- आरएसएस आर्काइव)

सांघिक अस्तित्व के लिए विविध प्रकार के व्यक्तियों का परस्पर अनुकूल बनना अर्थात् समाज धारणा के लिए उत्तम समाज व्यवस्था।"[1]

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लिए समाज में धर्म की स्थापना से तात्पर्य एक ऐसे सुसंगठित समाज का निर्माण करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने जुड़ाव को महसूस करता है तथा दूसरों के भौतिक जीवन को अधिक सम्पन्न, अधिक सुखमय बनाने के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होता है एवं उस आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है, जो उसे चरम सत्य की अनुभूति की दिशा में ले जाता है।

धर्म, संस्कृति का एक महत्वपूर्ण घटक है। इसलिए धर्म के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिंतन का विस्तृत विवेचन पञ्चम अध्याय- 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सांस्कृतिक चिंतन' में किया जायेगा।

3.15- सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-

अपनी स्थापना-काल से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज के संगठन के कार्य में रत है। समाज की एका के बिना राष्ट्र की उन्नति असम्भव है। यदि हमें अपने राष्ट्र को परमवैभवी बनाना है, तो इस समाजरूपी अधिष्ठान को सुदृढ़ करना होगा। समाज को सुदृढ़ करने से तात्पर्य- समाजिक समरसता को पुष्ट करने वाली ताकतों को समृद्ध करने व समाज को विखण्डित करने वाली शक्तियों का परिहार करने से है। समाज में विभिन्न प्रकार के 'समाज-तोड़क तत्व' समाज की समरसता, एकता में ग्रहण लगाने का कार्य करते हैं, जिससे राष्ट्र के उत्थान-कार्य को प्रभावित किया जा सके। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सतत समाज को विखण्डित करने वाली इन ताकतों के विरुद्ध समाज को जोड़ने की, सामाजिक समरसता की बात करता है। समरस समाज से तात्पर्य- एक ऐसे समाज से है, जिसमें जाति, धर्म आदि के आधार पर होने वाले किसी भी प्रकार के भेदभाव को कोई स्थान न हो। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में कहें तो, ऐसा समाज जहाँ- 'सब नर करहिं परस्पर प्रीति' का भाव हो। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लिए सम्पूर्ण हिन्दू समाज की एकता व समरसता अविचल निष्ठा का विषय है, इसलिए वह उसका संगठन करना और उसको समरस रखना अपना जीवन-कार्य मानता है।

---

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 45

प्राचीन काल में समाज नियमन के लिए बनाई गयी 'वर्ण-व्यवस्था' कालान्तर में विकृतियों का शिकार हो गयी। ऋग्वैदिक वर्ण-व्यवस्था जो अपने आदर्श रूप में 'गुण-कर्म' पर आधारित थी, उत्तर-वैदिक काल तक वह 'जन्म-आधारित' होने लगी। अब लोगों के वर्ण का निर्धारण उनके गुण-कर्म के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर होने लगा। वैदिक काल में वर्ण की सीमा अनुलंघ्य न थी। अपने कर्मों के माध्यम से किसी भी वर्ण का व्यक्ति किसी भी वर्ण में स्थान पा सकता था। यहाँ तक कि एक ही परिवार में विविध प्रकार के व्यवसायों को करने वाले लोग रहते थे। ऋग्वेद के नवम् मण्डल की एक ऋचा में वैदिक ऋषि अंगिरा कहते हैं कि- मैं कवि हूँ, मेरे पिता वृषज (वैद्य) हैं तथा मेरी माता अन्न पीसती है –

'कारुरहं ततो भषगुपलप्रक्षिणी नना।

नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥' (ऋग्वेद, 9.112.3)

इससे पता चलता है कि वर्ण व्यवस्था पारिवारिक सदस्यों के बीच भी अंत:परिवर्तनीय थी। मगर जब यह व्यवस्था जन्माधारित हो गयी तो इसमें विकृतियों का प्रादुर्भाव प्रारम्भ हो गया। यह व्यवस्था अपने मूल उद्देश्य से च्युत हो गयी। जिस व्यवस्था को समाज के नियमन व व्यवस्थापन के लिए बनाया गया था, वह अब समाज के विखंडन का कारण बन गयी। जन्म-आधारित वर्ण व्यवस्था समाज में 'जाति' के रूप में रूढ़ हो गयी। इस जाति-व्यवस्था के कारण समाज में असमानता का प्रादुर्भाव हुआ। समाज के एक बहुत बड़े भाग के लिए उनकी जाति के स्तर के आधार पर जीवन अत्यन्त कष्ट-कारक हो उठा। समाज में तथाकथित उच्च जातियों व निम्न जातियों के भाव के फलस्वरूप अस्पृश्यता की भावना व जाति आधारित अपमानजनक व्यवहार प्रचलन में आ गये। समाज में घर कर गयी विकृतियों को निहित स्वार्थों के पोषक तत्वों ने धर्म के नाम पर बढ़ावा दिया। स्वामी विवेकानंद जी हिन्दू समाज में फैली अस्पृश्यता पर तंज करते हुए कहते हैं कि- 'वर्तमान हिन्दू धर्म न तो वेद में है, न पुराणों में है, न भक्ति में है..... बल्कि यह है केवल 'अस्पृश्यतावाद' में। 'मुझे छूना नहीं', 'मुझे छूना नहीं'..... इसका सारा स्वरूप इसमें ही समा जाता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'- सभी प्राणियों को अपनी आत्मा जैसा ही मानो। यह उपदेश क्या पुस्तकों में बंद करके

रखने के लिए है ? जो दूसरे के श्वास से भी अस्पृश्य हो जाते हैं, उन लोगों को पवित्र किस प्रकार से बनाना है ? अस्पृश्यता एक प्रकार का मानसिक रोग है।'[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार जी सामाजिक समानता के प्रबल समर्थक थे। उनका स्पष्ट मानना था कि हिन्दू समाज में जातिगत भेदभाव का कोई स्थान नहीं है। उन्होंने समाज में समानता हेतु समाज में समय के साथ घर कर गयीं कुरीतियों का प्रबल विरोध किया। तृतीय सरसंघचालक रहे बालासाहब देवरस जी, जो उनके साथ काफी समय तक रहे, कहते हैं कि डॉ. हेडगेवार कहा करते थे- 'हमें न तो अस्पृश्यता माननी है और न उसका पालन करना है।'[2] उन्होंने अस्पृश्यता और जातिगत प्रतिबंधों को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से बाहर रखा। डॉक्टर हेडगेवार ने अस्पृश्यता, जात-पात के प्रश्न पर कभी समझौता नहीं किया। वह समग्रतावादी थे। डॉ. हेडगेवार ने सभी जातियों के बीच समान सम्बन्धों के आधार पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को खड़ा किया। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने अपनी स्थापना के दिन से ही तय किया कि इसकी कार्यप्रणाली में जाति की किसी प्रकार की कोई भूमिका नहीं रहेगी।[3] श्री सुनील आंबेकर लिखते हैं कि- 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में किसी से कभी उसकी जातिगत पहचान के बारे में नहीं पूछा जाता है तथा विभिन्न जातियों व पंथों के लोगों के लिए भोजन, बैठने की व्यवस्था तथा सोने के लिए अथवा किसी भी अन्य गतिविधि के लिए कोई विशेष प्रकार की व्यवस्था नहीं की जाती।'[4]

महादेव शास्त्री दिवेकर ने 'केसरी' पत्र में लिखा है कि- संघ में ब्राह्मणों, गैर-ब्राह्मणों एवं अस्पृश्यों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता है। वे एक साथ खेलते, खाते और ध्वज प्रणाम करते हैं।'[5]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री गुरुजी ने नवंबर 1943 ई. में लाहौर के एक कार्यक्रम में कहा था कि- ''राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का उद्देश्य छुआछूत की भावना को मिटाना और हिन्दू समाज के सब वर्गों को एकता के सूत्र में पिरोना है।''[6] श्री गुरुजी का मानना था कि केवल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा समरसता प्रतिबिम्बित

---

[1] 'सामाजिक समरसता'- नरेंद्र मोदी, पृष्ठ संख्या- 40

[2] 'सामाजिक समरसता और हिंदुत्व'- बालासाहब देवरस, पृष्ठ संख्या- 18

[3] 'वर्धा में 1940 ई. में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 84 शाखाएं थीं, जिनमें से 70 शाखाएं गैर-ब्राह्मण आबादी वाले क्षेत्रों में थीं।'(आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या-216)

[4] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या-142-143

[5] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या-216

[6] 'गुरुजी गोलवलकर जीवन चरित्र'- रंगाहरि, पृष्ठ संख्या-120

किया जाना ही काफी नहीं है। पूरे समाज को सामाजिक सामंजस्य के रंग में रंगना होगा। धर्मग्रन्थों का सन्दर्भ जातिगत भेदभावों को तथा अस्पृश्यता को बनाये रखने के लिए नहीं अपितु समानता स्थापित करने के लिए उद्धृत किया जाना चाहिए।

श्री गुरुजी ने हिन्दू समाज से अस्पृश्यता के निरसन के लिए हिन्दू समाज के सभी धर्मगुरुओं का आह्वान किया। गुरुजी के आह्वान पर विश्व हिन्दू परिषद् ने 13 व 14 दिसंबर 1969 ई. में उडुपी में एक धर्मसभा बुलाई। हिन्दू धर्म के सभी शीर्ष धर्माचार्य इस सभा में उपस्थित हुए। इस द्वि-दिवसीय धर्मसभा के अन्तिम सत्र में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित हुआ। (इस सत्र की अध्यक्षता अनुसूचित जाति के सेवानिवृत्त आई.ए.एस. श्री आर. भरणय्या कर रहे थे।) पारित प्रस्ताव की उद्घोषणा करते हुए मध्व सम्प्रदाय के पेजावर मठाधीश स्वामी विश्वेशतीर्थ ने "हिन्दवः सोदरा: सर्वे" की उद्घोषणा की। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज से अस्पृश्यता को हटाने के लिए बराबर हिन्दू धर्माचार्यों का आह्वान करता था। संघ की यह बात कई लोगों को नापसन्द थी। उनमें से एक श्री शिवभाऊ लिमये, जो गाँधीवादी समाजवाद के पुरस्कर्ता तथा 'जात-पात तोड़क मंडल', पुणे के अध्यक्ष थे, ने श्री गुरुजी से पूछा कि- (आपके अनुसार) अस्पृश्य कौन हैं ? यह मेरी धारणा है कि अस्पृश्यों को शुद्ध करने का अधिकार इन धर्माचार्यों को किसने दिया ? हम इन धर्माचार्यों को नहीं मानते। इसका जवाब देते हुए श्री गुरुजी ने कहा कि- "कुछ बातों पर हमें विशेष ध्यान देना होगा। अस्पृश्यता केवल अस्पृश्यों का ही प्रश्न नहीं है। कौन कहाँ जन्म लेता है, यह किसी के वश में नहीं है।.....अस्पृश्यता सवर्णों की संकुचित मनोभावना का नामकरण है। अतयव अस्पृश्यता समाप्त करना, इसका तात्पर्य उस संकुचित भावना को समाप्त करना है। इसी प्रकार मैं या आप धर्माचार्यों को मानते हों या नहीं, इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जो अस्पृश्यता को मानते हैं, वे धर्माचार्यों को भी मानते हैं। अतयव धर्माचार्यों के माध्यम से इन प्रश्नों को सुलझाया जा सकता है।..... अनेक धर्माचार्यों ने अस्पृश्यता समाप्त करने के लिए अनेक कार्य किये भी हैं।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तृतीय सरसंघचालक बालासाहब देवरस ने अपने ऐतिहासिक 'बसंत व्याख्यानमाला', पुणे के 8 मई 1974 ई. के उद्बोधन में घोषणा की कि- "यदि अस्पृश्यता गलत नहीं है, तो कुछ भी गलत नहीं है।"[2] उनकी इस घोषणा से 'अस्पृश्यता' जैसी सामाजिक बुराई के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कड़े और

---

[1] 'गुरुजी गोलवलकर जीवन चरित्र'- रंगाहरि, पृष्ठ संख्या-393

[2] 'सामाजिक समरसता और हिंदुत्व'- बालासाहब देवरस, पृष्ठ संख्या- 17

स्पष्ट दृष्टिकोण का भी पता चलता है। समाज में अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु अनेक राजनेता जाति-आधारित नए-नए संघर्षों को जन्म देकर समाज की समरसता को हानि पहुँचा रहे हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसके प्रति भी चिन्तित है। इसीलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का 'अखिल भारतीय कार्यकारी मंडल'अपने एक प्रस्ताव में सभी राजनीतिक दलों से आग्रह करता है कि- "सामाजिक समरसता को भंग करने वाले इस जातिवाद से अपने को मुक्त कर, भारतीय लोकतंत्र को चिरंजीवी भारतीय संस्कृति से आप्लावित करें।"[1]आवश्यकता इस बात की भी है कि जातिगत पहचान के आधार पर असंतोष फैलाने वाली माओवादी-नक्सलवादी चालों का मुँहतोड़ जवाब दिया जाना चाहिए। हिन्दू धर्म की धार्मिक परम्पराओं की विकृत व्याख्याएं, यथा- महिषासुर को अनुसूचित जाति का नायक बतलाना तथा देवी दुर्गा को उच्च-जाति का बतलाना आदि। इन सब का पुरजोर विरोध करना अत्यावश्यक है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि राष्ट्र की शक्ति समाज में और समाज की शक्ति एकात्मता, समरसता का भाव व आचरण और बन्धुत्व में ही निहित है। इसका निर्माण करने का सामर्थ्य अपने सनातन दर्शन में है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' (सभी प्राणियों को अपने समान मानना), 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (सभी प्राणियों के साथ द्वेष-रहित रहना) तथा 'एक नूर ते सब जग उपज्या, कौण भले, कौ मन्दे' (एक तेज से ही पूरे जग का निर्माण हुआ, तो कौन बड़ा और कौन छोटा अर्थात् सभी एक समान हैं) के अनुसार सब के साथ आत्मीयता, सम्मान एवं समता का व्यवहार होना चाहिए। समाज जीवन में भेदभावपूर्ण व्यवहार तथा अस्पृश्यता जैसी कुप्रथा जड़ से समाप्त होनी चाहिए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वर्तमान सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत ने समाज में व्याप्त सभी प्रकार के भेदभाव को दूर करने की दृष्टि से प्रत्येक गाँव में सभी के लिए सामूहिक रूप से एक ही मंदिर, एक कुँआ और एक ही श्मशान स्थापित करने का आह्वान किया है। इस विचार को प्रत्येक गाँव तक पहुँचाने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रयत्नशील है।[2]

---

[1] अखिल भारतीय कार्यकारी मण्डल-(प्रस्ताव)-2005 : 'जातीय वैमनस्य और सामाजिक समरसता'- आरएसएस आर्काइव

[2] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या-157
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का अखिल भारतीय कार्यकारिणी मंडल भी हिन्दू समाज से आग्रह करता है कि- वह सभी हिंदुओं का, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, अपने घरों, मंदिरों, उपासना-स्थलों, कुओं, तालाबों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में मुक्त प्रवेश सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कदम उठाए। (अखिल भारतीय कार्यकारी मण्डल-2005 : 'जातीय वैमनस्य और सामाजिक समरसता'- आरएसएस आर्काइव https://www.archivesofrss.org/Resolutions.aspx)

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समानता के सिद्धान्त पर कार्य करते हुए, समय के साथ हिन्दू समाज में घर कर गयी कुरीतियों को दूर कर हिन्दू समाज का पुनर्गठन करते हुए समाज में समरसता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है।

इस अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सामाजिक-चिन्तन को स्पष्ट करने के क्रम में भारतीय समाज एवं उससे सम्बद्ध विविध आयामों के से सम्बधित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिन्तन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस क्रम में व्यक्ति-निर्माण की संघ की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए समाज और व्यक्ति के अन्तर्सम्बन्धों को भी प्रस्तुत किया गया है। चूँकि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज को एक जीवमान संरचना मानता है, अतएव उसके पुरुषार्थों की चर्चा संघ-विचारक करते हैं, जिसे इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में समाज की मूलभूत इकाई कुटुम्ब व कुटुम्ब-स्थापन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले विवाह-संस्कार, साथ ही समाज में आधुनिक काल में चलन में आये लिव-इन-रिलेशनशिप के बारे में संघ के दृष्टिकोण को रखा गया है। इस अध्याय में समाज में 'रोटी-बेटी सम्बन्ध' को लेकर संघ के रुख का विश्लेषण भी किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में समाज की जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, महिलाओं को लेकर संघ का चिन्तन व समाज की शिक्षा-व्यवस्था तथा समरस समाज की स्थापना हेतु संघ के चिन्तन व प्रयत्नों का विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय

राजनीति और आर्थिकी को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन

- **4.1 राजनीति और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ**
- **4.2 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आर्थिक चिन्तन**
    - **4.2.1 प्रकृति का दोहन, शोषण नहीं**
    - **4.2.2 अर्थ के अभाव व प्रभाव से मुक्त अर्थव्यवस्था**
    - **4.2.3 अर्थायाम**
    - **4.2.4 यन्त्रों (मशीनों) के प्रभुत्व का विरोध**
    - **4.2.5 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'स्वदेशी' की अवधारणा**
    - **4.2.6 कृषि**

राजनीति और आर्थिकी को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिंतन

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपनी स्थापना के समय से ही सम्पूर्ण समाज के संगठन के रूप में समाज में कार्य कर रहा है। स्थापना के समय से लेकर आज तक संघ की इस भूमिका में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। संघ परिवार के विविध क्षेत्रों में कार्यरत विविध प्रकल्पों का चतुर्दिक विस्तार हुआ है। अपने कार्य के कारण समाज की विभिन्न विचारधाराओं, राजनीतिक पक्षोपपक्षों के प्रसिद्ध लोगों से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क प्रस्थापित हुए हैं। राजनीति में भी यही दृश्य गोचरित होता है। समाज-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सांस्कृतिक मूल्यों का संवर्धन करने का यदि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने प्रण किया है तो राजनीति का क्षेत्र उसके लिए वर्जित हो ही नहीं सकता। समाज में राजनीति एक महत्वपूर्ण पहलू है इसलिए, राजनीति के सम्बन्ध में संघ के रुख का विश्लेषण अपेक्षित है। साथ ही बिना आर्थिकी के समाज का ढांचा स्थायित्व को नहीं प्राप्त हो सकता। हमारे आचार्यों ने 'सुखस्य मूलम् धर्मः धर्मस्य मूलम् अर्थः' अर्थात, सुख धर्ममूलक है और धर्म अर्थमूलक- की उक्ति कही है। हमारी संस्कृति का दृष्टिकोण रहा है कि व्यक्ति तथा समाज के भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होने वाली व्यवस्था में निहित भाव धर्म है। ऐसा धर्म अर्थ के बिना टिक नहीं सकेगा, यह बात व्यक्ति और समाज दोनों पर लागू होती है। इस परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समाज की आर्थिकी से सम्बन्धित चिंतन का विश्लेषण आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में इसका विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

4.1- राजनीति और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-

वर्ष 1939 में सिन्दी में आहूत राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिन्तन शिविर में राजनीति पर लंबी चर्चा हुई थी। उस वक्त हिन्दू महासभा सक्रिय राजनीतिक संगठन था और महाराष्ट्र में संघ के ज्यादातर स्वयंसेवकों का हिन्दू महासभा और वीर सावरकर को लेकर बहुत आकर्षण था। महासभा के लोग भी संघ के स्वयंसेवकों के राजनैतिक प्रयोग के इच्छुक थे। इस पर डॉ. हेडगेवार ने वर्ष 1938 में वर्धा की एक शाखा में महासभा के नेताओं को बुलाकर महासभा के सम्बन्ध में संघ की नीति को स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि- "संघ ने हिंदुओं को संगठित करने का कार्य हाथ में लिया है, जबकि हिन्दू महासभा राजनीतिक संगठन है। यह मेरी धारणा है कि जब देश परतंत्र है तब देशभक्तों को राजनीति में अवश्य भाग लेना चाहिए। संघ हिंदुओं में देशभक्ति की भावना जगा कर उन्हें संगठित करने का काम

कर रहा है। अतः स्वयंसेवकों के लिए महासभा के कार्यक्रमों में भाग लेना सम्भव नहीं है।"[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने स्थापना काल से ही विखण्डित हिन्दू समाज के संगठन का कार्य कर रहा है। उसने राजनीतिक गतिविधियों से स्वयं को अलग कर रखा है। हिन्दू महासभा को संघ की यह राजनीतिक तटस्थता की नीति अखरती थी, वह इसको लेकर संघ पर लगातार सवाल उठा रही थी, उसकी आलोचना कर रही थी।[2]

22 अक्टूबर 1939 को गुरु गोलवलकर ने डॉ. हेडगेवार की उपस्थिति में महासभा द्वारा संघ की तटस्थता पर उठाए जा रहे सवाल का अप्रत्यक्ष रूप से जवाब दिया। उन्होंने ने नागपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विजयादशमी उत्सव में कहा कि- "आज संघ ने चौदह वर्ष पूरे कर लिए हैं और पन्द्रहवें वर्ष में प्रवेश कर लिया है।.....बहुत प्रकार की गतिविधियाँ हैं, परन्तु संघ ने सभी को छोड़कर सिर्फ एक कार्य को चुना है, वह है- हिंदुओं का संगठन। हमने 'राजनीति' के लेबल वाले सभी कामों में अपने को उस अर्थ में अलग कर रखा है कि हम किसी भी वर्तमान राजनीतिक दल/संस्था से जुड़े नहीं हैं। हमें अपनी दिशा में, अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के आधार पर बिना दूसरों के साथ भ्रमित हुए कार्य करते रहना है।"[3]

वर्ष 1930 में संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार ने जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने का निश्चय किया तो उन्होंने सरसंघचालक का दायित्व अपने सहयोगी डॉ. लक्ष्मण वासुदेव परांजपे को सौंप दिया था। वह व्यक्तिगत रूप से कांग्रेस के आन्दोलन में एक सत्याग्रही के रूप में शामिल हुए और उसके लिए उनको नौ माह का सश्रम कारावास भी हुआ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी के अनुसार- "पूर्णरूपेण राजनीतिक पुनर्संगठन की कल्पना, जिसे साकार रूप प्रदान करने के लिए संघ प्रयत्नशील रहा है, में निहित अर्थ है इस कार्य का अराजनीतिक रूप।" वे आगे कहते हैं कि- 'एक राजनीतिक दल लोगों के एक बहुत छोटे अंश का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। राष्ट्रीय एकता की उपलब्धि निर्वाचनों तथा राजनीतिक प्रचार से नहीं हो सकती। राजनीतिक पद्धतियों

[1] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या-125

[2] हिन्दू महासभा के प्रति तटस्थता के लिए विनायक दामोदर सावरकर ने संघ की तीखी आलोचना करते हुए कहा था कि- 'संघ के स्वयंसेवकों की कहानी होगी कि वह जन्मा, संघ में शामिल हुआ और बिना कुछ किए मर गया।' (आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृ.सं.-113)

[3] आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार, राकेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या-126

द्वारा, यहाँ तक कि राजनीतिक सत्ता द्वारा भी लोगों में निष्ठा, वीरत्व, चारित्र्य, सौहार्द तथा त्याग-भाव का जागरण कठिन ही है।'[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पूर्ण समाज का संगठन होने के नाते यह स्वाभाविक ही है कि समाज का कोई भी क्षेत्र संघ से अछूता न रहे। इसी आलोक में संघ का राजनीति से क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न का जवाब देते हुए संघ के तृतीय सरसंघचालक रहे बालासाहब देवरस कहते हैं कि- "राजनीति को हम जीवन का एक अंग मानते हैं। हम नहीं मानते कि वही सब कुछ है। जीवन के विभिन्न अंगों से हमारा जितना और जिस प्रकार का सम्बन्ध है, उतना ही और उसी प्रकार का राजनीति से है।"[2] वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संविधान का हवाला देते हुए कहते हैं कि- "संघ के संविधान में लिखा है कि संघ का स्वयंसेवक देशबाह्य-निष्ठा (भारत देश के बाहर निष्ठा रखने वाले) तथा हिंसा पर विश्वास न करने वाले किसी भी राजनीतिक दल का सदस्य बन सकता है। इससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि प्रत्येक स्वयंसेवक को किसी न किसी राजनीतिक दल में जाना आवश्यक है। अपनी रुचि के अनुसार उसे निर्णय लेने की स्वतंत्रता है।"[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का यह संविधान भारतीय जनसंघ की स्थापना से पूर्व बना है। जनसंघ की स्थापना के पश्चात उसमें अनेक स्वयंसेवक और प्रचारकों को देने के बाद भी इसमें कोई बदल नहीं हुआ है।

बहरहाल महात्मा गाँधी की दुखद हत्या के बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा के समाज में लगातार बढ़ते प्रभाव से घबराए तत्कालीन सत्ताधीशों ने इस दुखद समय में द्वेषपूर्ण राजनीति का प्रदर्शन करते हुए पूज्य बापू की हत्या का दोषारोपड़ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर कर उसे बदनाम करने का प्रयास किया। मिथ्या व मनगढ़ंत आरोपों को आधार बनाकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर 4 फरवरी 1948 ई. को प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बाद में जब सरकार को अदालत में मुँह की खानी पड़ी, संघ पर लगाए गये उसके सारे आरोप झूठे साबित हुए तब 12 जुलाई 1949 ई. को संघ से प्रतिबन्ध हटाया गया। एक अग्निपरीक्षा से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 'साँच को आँच नहीं' की तर्ज़ पर निखरे हुए सोने के रूप में सामने आया और पुनः सक्रिय हुआ। प्रतिबन्ध के लगभग अट्ठारह महीनों के इस संघर्ष काल में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेतृत्व की महनीयता तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी की इस प्रतिक्रिया से

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 402
[2] सामाजिक समरसता और हिंदुत्व'- बालासाहब देवरस, पृष्ठ संख्या- 105
[3] सामाजिक समरसता और हिंदुत्व'- बालासाहब देवरस, पृष्ठ संख्या- 105

प्रकट होती है- "दाँत अगर जीभ को कटे तो दाँतों को उखाड़ा नहीं जाता बल्कि सावधानी बरतते हुए साथ निभाया जाता है। हमें पूरे समाज को साथ लेकर चलना है।"[1]

प्रतिबन्ध काल में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को दलीय राजनीति में घसीटने के विविध प्रयास किये गये। तत्कालीन गृहमंत्री सरदार बल्लभ भाई पटेल, तत्कालीन संघ प्रमुख श्री गुरुजी को लिखे एक पत्र में कहते हैं कि- 'मेरा पूर्ण विश्वास है कि संघ वाले अपने देश-प्रेम को कांग्रेस से मिलकर ही निभा सकते हैं, अलग होकर या विरोध करके नहीं।'[2] इसके अलावा प्रतिबन्ध काल में ही 23 अक्टूबर 1948 को श्री गुरुजी से सरदार पटेल की बातचीत के दौरान सरदार पटेल का कहना था कि- 'कांग्रेस में शामिल होकर काम करना ही व्यवहारिक है।'[3] लेकिन श्री गुरुजी इसके सख्त खिलाफ थे।

प्रतिबन्ध काल में जिस प्रकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों का उत्पीड़न किया गया, उसे देखते हुए संघ के स्वयंसेवकों को बार-बार यह बात कचोट रही थी कि विरोधियों ने सत्ता की ताकत से जिस प्रकार महात्मा गाँधी की हत्या का मिथ्यारोप लगाकर संघ को नेस्तनाबूत करने का प्रयास किया है, भविष्य में इस तरह फिर से संघ को प्रताड़ित किया जा सकता है। इस राजनीतिक प्रताड़ना के बाद ही संघ में इस बहस ने जन्म लिया कि उसे (संघ को) राजनीति में हस्तक्षेप करना चाहिए। संघ के वरिष्ठ स्वयंसेवक अप्पाजी घटाटे बताते हैं कि- 'जब महात्मा गाँधी की हत्या के बाद संघ पर प्रतिबन्ध लगा और हजारों हजारों लोग सत्याग्रह कर रहे थे, तो पार्लियामेंट में संघ का पक्ष रखने वाला कोई नहीं था। तब संघ को एक राजनीतिक पार्टी की सख्त जरूरत महसूस हुई।'[4] इसी जरूरत के मद्देनज़र संघ में विचार मंथन शुरू हुआ कि- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ स्वयं को राजनीतिक दल में बदल ले यानी राजनीतिक दल बन जाये या राजनीति से पूरी तरह दूर रहे या किसी राजनीतिक दल को सहयोग करे या फिर नया राजनीतिक दल बनाये।

स्वयं को राजनीतिक दल में परिवर्तित करने पर संघ का विराट लक्ष्य (हिन्दू समाज के संगठन का) कहीं छूट जाता। श्री गुरुजी के अनुसार- "राजनीति जीवन का अल्पतम अंग है, जीवन को व्याप्त करने वाला साधन नहीं। कई लोगों के मन में ये भी विचार आये होंगे कि 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार जनता के मन पर प्रभाव उत्पन्न करने के

---

[1] कृतिरूप संघ-दर्शन पुस्तक-माला- पुष्प- 5 (अर्थ आयाम), पृष्ठ संख्या -159

[2] 'संघम् शरणम् गच्छामि'- विजय त्रिवेदी, पृष्ठ संख्या- 145

[3] 'संघम् शरणम् गच्छामि'- विजय त्रिवेदी, पृष्ठ संख्या- 145

[4] 'संघम् शरणम् गच्छामि'- विजय त्रिवेदी, पृष्ठ संख्या- 149

लिए सत्ता लेनी चाहिए। किन्तु आजकल तो जनतंत्र का जमाना है। अतः अब तो 'यथा प्रजा तथा राजा' हो गया है। प्रजा दुर्बल है, तो राजा भी दुर्बल होगा। यदि प्रजा भयातुर है, विश्वासहीन, चरित्रहीन तथा अभारतीय तत्वों से प्रेम करने वाली होगी तो राजा भी बौना ही होगा। अतः सत्य तो यह है कि प्रजा के अधिष्ठान पर राजा का निर्माण है, न कि राजा की सत्ता के आधार पर प्रजा के मार्गदर्शन का विचार।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि संघ अपनी 'समाज-संगठन' की भूमिका के अतिरिक्त और कुछ भी करने को अनुत्साही था। लेकिन परिस्थितियां ऐसी निर्मित हो गयीं कि राजनीति से पूर्णतया असम्पृक्त भी नहीं रहा जा सकता था। तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य में ऐसा कोई भी दल नहीं था, जिसकी विचारधारा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से मेल खाती हो। इसलिए किसी दल के समर्थन करने का विचार त्याग करना पड़ा। इसी बीच तत्कालीन सरकार की नीतियों से असंतुष्ट होकर केंद्रीय मंत्रिमंडल से इस्तीफा देने वाले (8 अप्रैल 1950 को) डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी के पास विचार-विमर्श के लिए आये। वे नया राजनीतिक दल बनाने के लिए प्रयासरत थे। उन्होंने श्री गुरुजी से संघ के कुछ स्वयंसेवकों को लेकर अक्टूबर 1951 ई. में जनसंघ की स्थापना की।[2]

जहाँ तक प्रश्न राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जनसंघ के अन्तर-सम्बन्धों का है तो जनसंघ की नीतियों के निर्धारण में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सीधा कोई हस्तक्षेप नहीं था, हालाँकि जनसंघ के लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पास विविध मुद्दों पर परामर्श करने के लिए आते थे, तो वे संघ का मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। यह दोनों संगठनों के आपसी संवाद की परम्परा थी, जो आज भी जनसंघ से होते हुए भाजपा तक जारी है। बहुत से लोग जो इस संवाद-परम्परा से अनभिज्ञ हैं, वे इसे 'संघ की क्लास में भाजपा' जैसे संबोधनों से अभिहित करते हैं। इस सन्दर्भ में श्री गुरुजी का एक बयान जो 25 जून 1956 को 'ऑर्गनाइजर' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था; दृष्टव्य है, जिसमें वे कहते हैं कि- "संघ कभी भी किसी राजनीतिक दल का स्वयंसेवी संगठन नहीं बनेगा। जनसंघ और संघ के बीच निकट का सम्बन्ध है। दोनों कोई बड़ा निर्णय एक-दूसरे के परामर्श के बिना नहीं करते, लेकिन इस बात का ध्यान रखते हैं कि दोनों की स्वायत्तता बनी रहे।"[3]

---

[1] श्री गुरुजी समग्र-भाग-2, पृष्ठ संख्या- 52-53

[2] श्री गुरुजी ने नई पार्टी के लिए संघ से नानाजी देशमुख, पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, बलराज मधोक और दत्तोपंत ठेंगड़ी जैसे स्वयंसेवकों को दिया।('संघम् शरणम् गच्छामि'- विजय त्रिवेदी, पृष्ठ संख्या- 139)

[3] आरएसएस और राजनीति https://www.pravakta.com/rss-and-politics/

आपातकाल के दौरान 1977 ई. के लोकसभा चुनाव के समय जनता पार्टी की सरकार बनाने में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों का महत्वपूर्ण योगदान था। कई दलों को साथ लेकर बनी जनता पार्टी की सरकार में अर्थात् सत्ता में सहभागी होने का आकर्षक प्रस्ताव आने पर भी तत्कालीन सरसंघचालक बालासाहब देवरस ने उसे अस्वीकार करते हुए यही कहा कि- "विशिष्ट परिस्थिति में संघ चुनाव में सहभागी हुआ था। अब संघ अपने नियत कार्य- 'सम्पूर्ण समाज के संगठन' में ही लगेगा।"[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि सत्ता कभी भी इस समाज का प्राणकेन्द्र नहीं रही है। यही कारण है सत्ता की होड़ पर आधारित राजनीति से संघ का कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। संघ के तृतीय सरसंघचालक बालासाहब देवरस के अनुसार- "संघ सत्ता की राजनीति से सदा दूर रहा है, किन्तु विदेशी आक्रमण होने अथवा देश की सुरक्षा एवं अखंडता को खतरा पैदा होने की स्थिति में राजनीति से अलग रहने पर भी संघ आँख मूँदकर नहीं बैठ सकता। क्योंकि ये केवल राजनीतिक समस्याएँ नहीं बल्कि राष्ट्रीय समस्याएँ हैं और इसलिए संघ जैसी राष्ट्रीय संस्था उनको अनदेखा कैसे कर सकती है ? ऐसे प्रसंगों तथा विषयों पर हम अवश्य अपने विचार दृढ़ता से रखेंगे और समाज को जागृत करेंगे।"[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्बन्ध में विविध राजनीतिज्ञों व राजनीतिक दलों की आशंका रहती है कि वह कहीं चुनावी राजनीति में सक्रिय न हो जाये। उनकी इस निर्मूल आशंका का जवाब श्री गुरुजी अपने 1959 ई. के विजयादशमी के सम्बोधन में देते हुए उन्हें आश्वस्त करते हैं- "संघ से किसी को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, विशेषकर राजनीतिज्ञों को तो कतई नहीं। संघ सत्ता-प्राप्ति या प्रतिष्ठा का भूखा नहीं है। वह तो शांति, समृद्धि और राष्ट्र की प्रगति के लिए कार्य करता है। मैं सारे राजनीतिक दलों को आश्वस्त कराना चाहता हूँ कि संघ की किसी भी प्रकार की राजनीतिक महत्वाकांक्षा नहीं है। इसीलिए वह न तो आज तक किसी चुनाव में उतरा है और न ही भविष्य में उतरेगा ।"[3] श्री गुरुजी के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की इच्छा या लक्ष्य कभी भी सक्रिय चुनावी राजनीति में उतरने का न तो था, न है और न ही भविष्य में रहने की सम्भावना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ चुनावी या दलगत राजनीति में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेता है। हालाँकि संघ के कुछ स्वयंसेवक विभिन्न राजनीतिक दलों- विशेषकर भाजपा (पूर्व में जनसंघ)- में सक्रिय हैं

---

[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राजनीतिक दल नहीं है, बल्कि वह संपूर्ण समाज का संगठन है- https://www.jagran.com/editorial/apnibaat-rashtriya-swayamsevak-sangh-not-political-party-but-it-is-organisation-of-entire-society-19217783.html

[2] सामाजिक समरसता और हिंदुत्व'- बालासाहब देवरस, पृष्ठ संख्या- 106

[3] श्री गुरुजी समग्र खण्ड– 5, पृष्ठ संख्या -203

। इस सम्बन्ध में श्री सुनील आंबेकर कहते हैं कि- 'राजनीति में सक्रिय भाग न लेने का यह अर्थ नहीं हो जाता कि संघ बिलकुल अराजनैतिक है। राजनीति के विषय में संघ की एक सुविचारित दृष्टि है कि यह राष्ट्रनिष्ठ होनी चाहिए तथा राजनीतिक कार्य भारतीय संस्कृति के अनुरूप तथा समाज के हित के लिए होना चाहिए। इसलिए यह देश में राजनीतिक गतिविधियों पर पैनी दृष्टि रखता है तथा राजनीति में सक्रिय स्वयंसेवकों से अपेक्षा करता है कि वे भारत के कल्याण व सुरक्षा को सुनिश्चित करेंगे।'[1]

दिल्ली में सितंबर 2018 में आयोजित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की व्याख्यान-माला में सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत से 'संघ और राजनीति' के सम्बन्ध पर प्रश्न किया गया। उनसे पूछा गया कि- यदि संघ और राजनीति का सम्बन्ध नहीं है, तो भाजपा में संगठन-मंत्री हमेशा संघ ही क्यों देता है ? और क्या संघ ने दूसरे दलों को या अन्य संगठनों को आज तक कभी समर्थन किया है ? इसका विस्तार से उत्तर देते हुए सरसंघचालक ने कहा कि- "संघ संगठन मंत्री जो माँगते हैं, उनको देता है। अभी तक और किसी ने माँगा नहीं है। माँगेंगे तो हम विचार करेंगे। काम अच्छा है तो जरूर देंगे। क्योंकि हमने तिरानबे सालों में (स्थापना काल से ही) किसी दल का समर्थन कभी नहीं किया है। हमने एक नीति का समर्थन जरूर किया है और हमारी नीति का समर्थन करने का लाभ जैसे हमारी शक्ति बढ़ती है, वैसे राजनीतिक दलों को मिलता है। जो इसका लाभ ले सकते हैं, ले जाते हैं। जो नहीं ले सकते, वे रह जाते हैं।"[2] ऐसा ही प्रश्न एक बार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी से पूछा गया था कि- ऐसा क्यों है कि अधिकांश स्वयंसेवक जनसंघ में ही हैं ? इसका उत्तर देते हुए श्री गुरुजी ने कहा था- "ऐसा कोई नियम नहीं है। सम्भवतः जनसंघ वाले अन्य लोगों को अपने दल में सम्मिलित होने का आग्रह करते हैं। कांग्रेस वाले (अगर) यहाँ आते हैं तो उन्हें भी कुछ कार्यकर्ता मिल सकते हैं।"[3]

---

[1] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 244-45

[2] डॉ. मोहन भागवत जी कहते हैं- आपातकाल के समय हमारा आपातकाल को लेकर विरोध था, हमने इमरजेंसी के विरोध की नीति का पुरस्कार किया। अनेक लोग थे जो इमरजेंसी के खिलाफ लड़े। हमने ऐसा विचार नहीं किया कि जनसंघ को ही इसका लाभ मिले। उसमें बाबू जगजीवन राम भी थे। उसमें एस.एम.जोशी साहब, ना.ग.गोरे साहब भी थे। उसमें गोपालन जी, मार्क्सवादी पार्टी के भी थे, उसका सबको लाभ मिला। स्वयंसेवकों ने सबके लिए काम किया है। केवल एक चुनाव कभी ऐसा हुआ था, राम मंदिर की नीति का हम समर्थन कर रहे थे और केवल भाजपा ही उस के पक्ष में थी, तब केवल भाजपा को लाभ मिला। वह प्रश्न होते हुए भी जब-जब उनका गठबंधन वगैरह था तो गठबंधन में सबको लाभ मिला। तो हम नीति का पुरस्कार करते हैं। दलों का न किया है, न करेंगे। अब हमारे पुरस्कार के कारण अगर लाभ होता है, तो कैसे ले जाना, यह सोचना उनका काम है। राजनीति वे करते हैं हम नहीं। ('भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 97-98)

[3] श्री गुरुजी समग्र खण्ड– 5, पृष्ठ संख्या -38

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राष्ट्र की संप्रभुता सहित अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों पर सतत चिन्तनशील रहता है। 'संघ और राजनीति' पुस्तक के लेखक प्रो. राकेश सिन्हा के अनुसार- 'सांस्कृतिक संगठन का तात्पर्य, झाल-मंजीरा बजाने वाला संगठन न होकर; राष्ट्रवाद को जीवंत रखने वाला आन्दोलन है। इसलिए संघ आवश्यकतानुसार राजनीति में हस्तक्षेप करता है, जो आवश्यक और अपेक्षित दोनों हैं।'[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा' और 'अखिल भारतीय कार्यकारी मंडल' अनेक अवसरों पर भारतीय राजनीति को संदेश देने वाले प्रस्ताव पारित कर चुके हैं। उदाहरणार्थ- 'राष्ट्रीय भाषा नीति-1958', 'गोवा आदि का संलग्न प्रांतों में विलय-1964', 'साम्प्रदायिक दंगे और राष्ट्रीय एकता परिषद्-1968', 'राष्ट्र एक अखंड इकाई-1978', 'विदेशी घुसपैठिए-1984', 'पूर्वी उत्तरांचल इनर लाइन आवश्यक-1987', 'अलगाववादी षड्यंत्र-1988', 'आतंकवाद और सरकार की ढुलमुल नीति-1990', 'समान नागरिक संहिता-1995', 'भ्रष्टाचार-1996', 'साम्प्रदायिक आधार पर आरक्षण न हो-2005' आदि अनेक ऐसे प्रस्ताव हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय राजनीति को सचेत करने का काम किया है। जब कभी भारतीय राजनीति असन्तुलित हुई है, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने हस्तक्षेप किया है। अर्थात् सरकारों ने वोट-बैंक की राजनीति के चक्कर में जब-जब राष्ट्र की एकता, संस्कृति, अस्मिता से जुड़े मूल प्रश्नों की अवहेलना की है तब-तब संघ ने राजनीति में हस्तक्षेप किया है। श्री सुनील आंबेकर के अनुसार- "यदि कोई जाति आधारित राजनीति करने की कोशिश करता है, तो ऐसी स्थिति में जाति के राजनीतिकरण को खत्म करने के लिए संघ हिंदुत्व की बात करता है। यदि कोई क्षेत्रीय राजनीति करता है तो संघ राष्ट्रीय एकात्मता का प्रचार करता है। यदि कुछ लोग भाषा की दृष्टि से विभाजन की बात करते हैं तो संघ सभी भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठता और उसमें निहित एकता की बात करता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सेकुलरिज्म (तथाकथित पंथनिरपेक्षता) के नाम पर आतंकियों की तरफदारी करते दिखायी पड़ते हैं, तो संघ प्रबलता के साथ उसका विरोध करता है। जब धर्मनिरपेक्षता के नाम पर बहला-फुसलाकर गुप्त तरीके से मतांतरण करवाया जाता है, तो संघ इसके विरुद्ध आवाज उठाता है। संविधान में भी इसकी अनुमति नहीं है। जो वामपंथी व उनके साथी बंदूक की नली से सत्ता हथियाना चाहते हैं, उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि संघ उन्हें ऐसा नहीं करने देगा।"[2]

---

[1] आरएसएस और राजनीति https://www.pravakta.com/rss-and-politics/

[2] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 247-48

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश की चुनावी राजनीति में भागीदार न होते हुए, सत्ता की राजनीति से दूर, राष्ट्र के उत्थान हेतु आवश्यक मुद्दों पर जन-जागरण करने का सतत कार्य कर रहा है। सम्पूर्ण समाज का संगठन होने और राजनीति का समाज के एक अंग होने के कारण इस क्षेत्र में भी संघ के स्वयंसेवक सक्रिय होते हैं। संघ का संविधान किसी भी स्वयंसेवक (संघ के पदाधिकारी नहीं) को किसी राजनीतिक दल या उम्मीदवार के प्रचार से नहीं रोकता, इसके बावजूद अधिकतम स्वयंसेवक किसी दल या उम्मीदवार के नाम का पर्चा न लेकर राष्ट्रीय मुद्दों के बारे में ही जागरण करते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज के किसी एक क्षेत्र- राजनीति, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र- का संगठन न होकर, वह सम्पूर्ण समाज का संगठन ही ठहरता है।

4.2- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आर्थिक चिन्तन-

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में अर्थशास्त्र के लिए राजधर्मशास्त्र, शासनशास्त्र, नीतिशास्त्र, वार्ताशास्त्र आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। आचार्य चाणक्य ने कहा था- 'सुखस्य मूलम् धर्मः, धर्मस्य मूलम् अर्थः' अर्थात् सुख का मूल धर्म है और धर्म का मूल अर्थ है। भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण रहा है कि व्यक्ति एवं समाज का भरण-पोषण एवं उनकी भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होने वाली व्यवस्था में निहित भाव धर्म है। ऐसा धर्म सम्पत्ति के बिना टिक नहीं सकेगा। यह बात व्यक्ति और समाज दोनों पर लागू होती है। भारतीय संस्कृति में मानव जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं- धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। मनुष्य अपने जीवन में धर्म, अर्थ एवं काम की सम्यक् उपासना के माध्यम से अपने मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करता है। अर्थ, धर्म की भाँति मोक्ष मार्ग में सहायक होता है, क्योंकि यह स्थूल शरीर की आवश्यकता है। अर्थ के बिना धर्म एवं काम सिद्ध नहीं होते। अर्थ की महत्ता पर मनु ने लिखा है कि- 'सब पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता अति श्रेष्ठ होती है।'[1]

मनु ने धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के क्रम में अर्थ की महत्ता के साथ-साथ अर्थ को धर्म से नियंत्रित करने पर जोर दिया है; क्योंकि अर्थ की महत्ता तभी तक है, जब तक वह अधर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। आर्थिकी से सम्बंधित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचार भारतीय संस्कृति के 'धर्म आधारित अर्थ' के परम्परागत विचार को स्वीकार करने वाले हैं। संघ परिवार के अन्य प्रकल्पों ने अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में समय और परिस्थिति के अनुसार आवश्यक एवं

[1] 'भारतीय आर्थिक चिंतन'- डॉ. एम.एल.छीपा, शंकर लाल शर्मा, पृष्ठ संख्या- 81

उपयोगी, किन्तु बुनियादी भारतीय चिन्तन के अधिष्ठान पर अपना-अपना स्वतंत्र चिन्तन साकार किया है। अपनी स्वतंत्र कार्य-शैली को भी विकसित किया है, लेकिन आर्थिक क्षेत्र में हमें ऐसा दिखायी नहीं देता। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्ठ प्रचारक रहे मोरेश्वर गणेश तपस्वी अपनी पुस्तक 'राष्ट्राय नमः' में लिखते हैं कि- 'आर्थिक क्षेत्र में संघ विचार, संघ चिन्तन अथवा हिन्दू अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन कर वर्तमान समय के लिए आर्थिक चिन्तन या आर्थिक नीतिशास्त्र संघ ने अभी तक प्रस्तुत नहीं किया है, यह उसकी विफलता ही मानी जायेगी।'[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश की अर्थनीति के सम्बन्ध में कोई प्रभावकारी नीति का प्रणयन क्यों नहीं कर पा रहा, इस विषय पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तृतीय सरसंघचालक रहे श्री बालासाहब देवरस जी दिल्ली की एक पत्रकार-वार्ता (1977 ई.) में अपना मत विस्तार से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- "जैसा मैंने कहा कि हम सभी विषयों के विशेषज्ञ नहीं हैं, और न ही हम ऐसा दावा करते हैं। आर्थिक विषय इतना पेचीदा विषय है कि जो बात एक बार कहो, दो महीने, चार महीने, छः महीने के बाद उसमें परिवर्तन करके कहना पड़ता है।..... यह सब देखते हुए हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह हमारे जैसे संगठन का काम नहीं है। इस विषय के जो विशेषज्ञ हैं, जिनका इस विषय में विशिष्ट अध्ययन है, वे ही इस सम्बन्ध में अधिकार से बोल सकते हैं। कुछ दिशाएँ तो हम दे सकते हैं लेकिन हर विषय के बारे में और बिलकुल स्पष्ट मार्गदर्शन तथा सुनिश्चित राय दे पाना असम्भव है। यह करने का हमारा विचार नहीं है और सामर्थ्य भी नहीं है। अगर कोई यह कहता है कि यह तुम्हारा दोष है तो हम उस दोष को भी स्वीकार करेंगे। हमारे कुछ बंधु नेता जैसे श्री दीनदयाल उपाध्याय थे, उनका इस विषय में खास अध्ययन था। अध्ययन का उनका आधार भी संघ से प्राप्त संस्कार था। संघ में उन्होंने जो संस्कार ग्रहण किये, उसके कारण उनके दिमाग में जो कुछ था, उस आधार पर उन्होंने अर्थनीति के विषय में लिखा। हमारे जो स्वयंसेवक इस विषय के विशेषज्ञ के नाते से जो कुछ लिखते या बोलते हैं उसमें से साधारणतया आपके ध्यान में यह आ सकता है कि हमारे सोचने का ढंग क्या है ? लेकिन संघ अधिकृत रूप से इसके विषय में ऐसा नहीं कहेगा कि ऐसा करो, वैसा करो, क्योंकि ऐसी हमारी स्थिति नहीं है।"[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में मुख्यत: माधवराव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य श्री गुरुजी, पण्डित दीनदयाल उपाध्याय व दत्तोपंत ठेंगड़ी ने ही अर्थ-सम्बन्धी चिन्तन किया है। इनमें भी पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी मौलिक

[1] 'राष्ट्राय नमः'- मोरेश्वर गणेश तपस्वी, पृष्ठ संख्या-449

[2] हिन्दू संगठन और सत्तावादी राजनीति- बालासाहब देवरस, पृष्ठ-214-15

आर्थिक चिन्तन के उद्गाता माने जाते हैं। दत्तोपंत ठेंगड़ी जी उसी चिन्तन को कार्यकर्ताओं के लिए समय-समय पर अपने व्याख्यानों द्वारा एक विचारक के नाते प्रस्तुत करते आये हैं। श्री गुरुजी ने अपने विभिन्न व्याख्यानों में आर्थिकी के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आर्थिक दृष्टिकोण को समझने के लिए इन्हीं तीन विचारकों के मतों के साथ-साथ अर्थ-सम्बन्धी भारतीय चिन्तन को समझना आवश्यक है।

अर्थव्यवस्था की कसौटी क्या हो ? इस पर विचार करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि- "मानव का सर्वांगीण विकास हमारी अर्थनीति और अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। मानव की शक्ति को बेकार रखते हुए उसका विकास नहीं होगा, इसे ध्यान में रखकर ही उत्पादन-तंत्र का विकास करना चाहिए। जिस अर्थव्यवस्था के कारण समृद्धि तो बढ़ती है, किन्तु मानवता एवं अन्य अंगों का विकास कुंठित हो जाता है, वह कल्याणकारी नहीं हो सकती।"[1]

बीसवीं सदी का अन्तिम दशक, परिवर्तन का दशक था। इस समय विश्व में परिवर्तन तीव्रगति से घटित हो रहा था। विश्वभर में भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप विविध परिवर्तनों की बयार बह रही थी। हम जानते हैं कि बीसवीं सदी में सम्पूर्ण विश्व में पूँजीवाद और साम्यवादी विचारधारा छाई थी तथा विश्व इन दोनों विचारधाराओं की संघर्ष-स्थली बना हुआ था। साम्यवादी विचारधारा तो आज विश्व के अधिकतर देशों से लगभग समाप्त हो गयी है, परन्तु पूँजीवाद के कारण जिस गति से सामाजिक संस्थाओं, मानवीय मूल्यों व नैतिकता का ह्रास हुआ है एवं अमर्यादित उपभोग व अति-ऊर्जा केंद्रित औद्योगीकरण से जो पर्यावरण के समक्ष संकट खड़ा हो गया है, उससे अब विश्व ने विकास के तीसरे वैकल्पिक प्रतिमान को खोजना प्रारम्भ कर दिया है। पण्डित दीनदयाल जी ने सच ही कहा है कि- 'विश्व आज भीषण संभ्रम के चौराहे पर खड़ा है।.....इस चक्रव्यूह से उसे छुड़ा सकने वाला क्या कोई तीसरा विकल्प है ? वे स्वयं ही इसका जवाब देते हुए, बड़े ही आत्म-विश्वासपूर्वक कहते हैं कि- भारतीय संस्कृति के 'एकात्म मानव-'दर्शन' के अंतर्गत 'एकात्म अर्थनीति' ही ऐसा तीसरा विकल्प बन सकता है।'[2]

---

[1] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति)- पृष्ठ संख्या- 10

[2] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति),- पृष्ठ संख्या- 6

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 'एकात्म-मानव' पर आधारित अर्थव्यवस्था की बात करता है। पाश्चात्य अर्थशास्त्र 'आर्थिक-मानव' की परिकल्पना पर आधारित है।[1] इस परिकल्पना में निर्णय मात्र वित्तीय एवं भौतिक सम्पत्ति के रूप में लाभ-हानि की गणनाओं पर आधारित होते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था मनुष्य को धन के पीछे दौड़ने वाले स्वार्थी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है, तो साम्यवादी अर्थव्यवस्था उसे जड़वत काम करने वाले मशीनी पुर्जे के रूप में स्वीकारती है; परन्तु भारतीय आर्थिक चिन्तन, जिसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ स्वीकार करता है- 'आर्थिक मानव' की अवधारणा को पूर्णतया नकार कर उसके स्थान पर 'एकात्म-मानव' की अवधारणा प्रस्तुत करता है। एकात्म-मानव के बारे में विचार करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी कहते हैं कि- "जिस व्यक्ति का प्रमुख ध्येय अर्थ एवं काम की प्राप्ति होता है, वह भोग-विलासी होता है। परन्तु जो व्यक्ति पूरे समाज की सोचता है, जिसमें सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के गुण हैं, जो समाज में बिना सन्तुलन बिगाड़े धन कमाता है तथा उसका उपभोग करता है, जो बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वयं की इच्छा से किसी भी पूजा-पद्धति को अपनाता है तथा ईश्वर के किसी भी स्वरूप में आस्था व्यक्त कर जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है उसे सम्पूर्ण 'एकात्म-मानव' कहते हैं।"[2] इसी प्रकार पण्डित दीनदयाल उपाध्याय भी एकात्म-मानव की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार एकात्म-मानव जीवन के सभी अंगो का ध्यान रखते हुए संकलित विचार करता है।[3]

देश की स्वतंत्रता के बाद देश के आर्थिक विकास का मॉडल क्या हो ? इस पर विचार करते हुए विश्व में तत्कालीन समय में प्रचलित दो मॉडल- पूँजीवाद और साम्यवाद/समाजवाद; दोनों को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए अनुपयुक्त मानता था। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन-केन्द्रीकरण एवं एकाधिपत्य के कारण उपभोक्ता धीरे-धीरे प्रभावहीन हो जाता है। 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' के उद्घोष के साथ अस्तित्व में आने वाली पूँजीवादी व्यवस्था में कालान्तर में 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' का अर्थ- आम आदमी की स्वतंत्रता से हटकर कुछ धनाढ्यों की स्वतंत्रता हो गया, ताकि वे शेष आम जनता का उपयोग अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर सकें। उनके

---

[1] 'भारतीय आर्थिक चिंतन'- डॉ. एम.एल.छीपा, शंकर लाल शर्मा, पृष्ठ संख्या-46

[2] 'एकात्म मानव दर्शन'- मा.स.गोलवलकर, पृष्ठ संख्या-86

[3] पण्डित दीनदयाल के अनुसार- 'जिस व्यवस्था में व्यक्ति का विचार पुरुषार्थी मानव के बजाय किसी विशालकाय यन्त्र के पुर्जे के रूप में किया जाता है, वह व्यवस्था अधूरी है। जिस व्यवस्था में मानव का विचार शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के सुख को ध्यान में रखकर करने के बजाय इनमें से कुछ ही अंगों के लिए किया जाता है, वह व्यवस्था भी अधूरी है। व्यक्ति जीवन का सर्वांगीण तथा चारों पुरुषार्थों के अनुसार विचार करने वाला, उसके लिए प्रयत्नशील रहने वाला और साथ ही व्यक्ति से लेकर विश्व-मानव तक परिवार, राष्ट्र आदि विविध एकात्म-समूहों और उनसे भी परे जाकर परमेष्ठी से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति 'एकात्म-मानव' कहलाता है।'(पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2 (एकात्म मानव), पृष्ठ संख्या-6-7)

कारखानों में कामगार स्त्री, पुरुषों व बालकों की दशा अत्यन्त त्रासद थी। पूँजीवाद के विरोध में साम्यवादी अर्थव्यवस्था आई, किन्तु वह भी मानव को उसकी प्रतिष्ठा नहीं दे पाई। उसने पूँजी का स्वामित्व राज्य के हाथ में देकर संतोष कर लिया। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय के शब्दों में कहें तो- 'पूँजीवाद और साम्यवाद इन दोनों ही व्यवस्थाओं में मानव के सही एवं पूर्णरूप को नहीं समझा गया। एक में उसे स्वार्थी अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मात्स्य-न्याय-प्रवण प्राणी माना गया है, तो दूसरी में व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का दास, अकिंचन एवं अनास्थामय माना गया है। शक्तियों का केन्द्रीकरण दोनों में अभिप्रेत है। फलत: दोनों का परिणाम अमानवीकरण में हो रहा है।'[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इन दोनों व्यवस्थाओं से इतर आर्थिक विकास के लिए अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रण की बात करता है। श्री गुरुजी के अनुसार- "समाज का मूल-सिद्धान्त आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण है।"[2] पण्डित दीनदयाल जी का विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के बारे में कहना है कि- "भगवान की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव अपने को खोता जा रहा है। हमें मानव को पुनः अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा, उसकी गरिमा का उसे ज्ञान कराना होगा, उसकी शक्तियों को जगाना होगा तथा उसे देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा। यह विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के द्वारा ही सम्भव है।"[3]समाजवाद भी आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण की बात करता है। यहाँ तक तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और समाजवाद के मत समान हैं, मगर जैसे ही विकेन्द्रीकरण की न्यायसंगतता और औचित्य के निर्णय के अधिकार का प्रश्न उठता है, दोनों में मतभेद सामने आता है। समाजवाद का मानना है कि विकेन्द्रीकरण की सफलता के लिए केन्द्रीकरण आवश्यक है। अर्थात् आर्थिक शक्ति के विभिन्न केन्द्रों के स्थान पर राज्य को ही अपने पास सभी अधिकार केंद्रित करने चाहिए। केवल राजनैतिक शक्ति-केन्द्र ही प्रभावशाली होना चाहिए, जिसके पास उत्पादन के समस्त साधनों का भी एकाधिकार हो। ऐसी परिस्थिति के सम्बन्ध में श्री गुरुजी कहते हैं कि- "समाज में राजनीतिक सत्ता सर्वशक्तिमान हो जाती है और सम्पूर्ण समाज राजनैतिक प्रभुओं का दास बनकर रह जाता है। राज्य द्वारा खैरात में दी गयी शक्ति ही जनसामान्य के भाग्य में आती है, जिसका समय, प्रकार व मात्रा भी शासक ही निर्धारित करते हैं। सर्वशक्तिमान राज्य का पिछलग्गू बनकर संतुष्ट हो जाना ही जनसामान्य की नियति बन जाती है।"[4]

---

[1] 'एकात्म मानव दर्शन'- पं.दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ संख्या- 71

[2] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या-31

[3] 'एकात्म मानव दर्शन'- पं.दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ संख्या- 72

[4] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या-31

इस अर्थ विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को व्यावहारिक, न्यायसंगत व समुचित रूप देने हेतु महात्मा गाँधी ने 'ट्रस्टीशिप (न्यास) के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया था।[1] किन्तु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री गुरुजी का गाँधीजी के इस सिद्धान्त से कुछ मत-वैभिन्य था। वे कहते हैं कि- "यद्यपि यह दृष्टिकोण (ट्रस्टीशिप का) पुरातन हिन्दू विचारों से मेल खाता है, तथापि इसमें एक गम्भीर दोष विद्यमान है। आधुनिक युग में मानव मन इतना द्विधाग्रस्त एवं विकृत हो गया है कि जहाँ उसे अपने लाभ की सम्भावना नहीं दिखती, वहाँ वह अपनी क्षमता व इच्छा का आह्वान व केन्द्रीकरण नहीं कर पाता।..... जब श्रमिक को यह अनुभव होता है कि उसे उत्पादन में प्रतिफल नहीं मिलेगा, तब उसे अपने कार्य के प्रति कोई मनोयोग और उत्साह नहीं रह जाता।"[2]

इसीलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि अर्थ विकेन्द्रीकरण के उक्त विचारों से इतर एक ऐसे नीति-सन्तुलन की खोज अभीष्ट है, जो मानव की व्यक्तिगत अभिरुचि को जीवन्त बनाये रखे और साथ ही साथ उत्पादित सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण भी किया जा सके। श्री गुरुजी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति पर अंकुश लगाने के हिमायती हैं। वे कहते हैं कि- "व्यक्तिगत स्वतंत्रता को इतना संकुचित अर्थ नहीं दिया जा सकता कि जिससे आम समाज के हितों की ही हानि हो। सम्पत्ति के किंचित संचय व उपभोग की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कतिपय सीमाओं में इस ढंग से मर्यादित करना होगा कि समाज के शेष लोगों की स्वतंत्रता भी सुनिश्चित हो सके तथा संपन्न व सुखी भौतिक जीवन के समान अवसर सभी को उपलब्ध हो सकें। यही हिन्दू दृष्टि[3] की प्रतिभा संपन्न परिलक्षित होती है, जो व्यक्ति के मन को इस सामंजस्य के लिए तैयार करती है।.....व्यक्ति को अपनी व अपने परिवार की आवश्यकताओं व दायित्वों की पूर्ति हेतु सम्पत्ति के अधिकार का आश्वासन दिया जा सकता है। सम्पत्ति का अधिकार भी मर्यादित होना चाहिए, अर्थात् सुखोपभोग को निश्चित सीमा के भीतर पूर्ण करने की स्वतंत्रता के साथ ही समाज के अन्य सदस्यों की

---

[1] संक्षेप में इस सिद्धान्त के अनुसार- 'मानव की उत्पादन क्षमता की प्रेरणा पंगु नहीं होती। उससे अधिकाधिक उत्पादन करने का आह्वान किया जाता है, किन्तु उसे खुद को उस सम्पूर्ण उत्पादित सम्पत्ति का स्वामी नहीं मानना चाहिए। वह तो अनिवार्यत: समाज की ही होती है। शेष सम्पत्ति का प्रबंध उसे एक ट्रस्टी की हैसियत से देखभाल कर समाज कल्याण पर खर्च करना चाहिए।'

[2] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या-32-33

[3] हिन्दू दृष्टि के अंतर्गत व्यक्ति को आनन्द के सच्चे स्वरूप के विषय में शिक्षित व संस्कारित किया जाता है। उसके सामने केवल भौतिक सुखों के भोग का ही लक्ष्य नहीं रखा जाता, क्योंकि उससे उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं होगी। उसे सिखाया जाता है कि वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए उसे भौतिक निर्भरता से ऊपर उठना होगा, अपनी आत्मा की गहराई में गोता लगाना होगा और निस्सीम तथा शाश्वत आनन्द-सिंधु की खोज करनी होगी। तब उसे अनुभूति होगी कि उसे चारों ओर से विद्यमान समस्त 'जन' उसी परमात्मा के अभिव्यक्त रूप हैं और उनके द्वारा उसी श्रम-साधना के फलों का उपभोग उसके निजी आनन्द के समकक्ष ही है। ('विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या-33)

आवश्यकताओं को पूरा करने के दायित्व का अनुबंध भी आवश्यक है।"[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हिसाब से इस प्रकार आर्थिक नीतियों की एक मोटी रूपरेखा खींची जा सकती है, जो वर्तमान परिस्थितियों में व्यक्ति के प्रोत्साहन को बनाये रखते हुए विकेन्द्रीकरण की सम्यक्-प्रणाली को भी सुनिश्चित कर सके।

4.2.1- अर्थ के अभाव व प्रभाव से मुक्त अर्थव्यवस्था-

भारतीय संस्कृति का यह दृष्टिकोण रहा है कि मनुष्य एवं समाज का पोषण एवं उनके इहलौकिक तथा पारलौकिक, अभ्युत्थान में सहायक होने वाली व्यवस्था धर्माधारित है। ऐसे धर्म के लिए अर्थ का अधिष्ठान अपरिहार्य है। मानव जीवन का अधिकतर समय और ऊर्जा धन-संग्रह में ही व्यय होता है। कारण ? क्योंकि जीवन के लगभग सभी भौतिक सुख अर्थ की सहायता से ही प्राप्त होते हैं। भौतिक आवश्यकताओं और जीवन के सर्वांगीण विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। और न केवल मानव के सर्वांगीण विकास के लिए, अपितु उसके जीवन-धारण के लिए भी न्यूनतम अर्थ की आवश्यकता होती ही है। इस न्यूनतम अर्थ का भी अभाव हो तो मनुष्य को रोटी, कपड़ा और मकान की ही चिन्ता सताती रहेगी। उसका ज्यादातर समय एवं ऊर्जा इन्हीं चीजों की प्राप्ति की चिन्ता में व्यय होगी । यही कारण है कि चाहे व्यक्ति हो या समाज, दोनों स्तरों पर अर्थाभाव को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उत्थान की प्रक्रिया के प्रतिकूल मानता है। पं. दीनदयाल उपाध्याय समाज एवं व्यक्ति के स्तर पर अर्थाभाव के सम्बन्ध में चिंतन करते हुए लिखते हैं- "अर्थ के अभाव के कारण। व्यक्ति के लिए कर्तव्यरूप धर्म का पालन करना भी कठिन हो जाता है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' वाली उक्ति के अनुसार उसके पैर गर्हित मार्ग पर चलने लगते हैं।.....अर्थ का अभाव समष्टिगत हो तो समाज के सद्गुणों का धीरे-धीरे लोप होता जाता है। समाज के बलवान लोग बलहीनों का शोषण करने लगते हैं। ऐसे समाजों या देशों को अन्य सम्पन्न देशों के सामने विवशता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी में से आगे चलकर आर्थिक एवं उसके पीछे-पीछे राजनीतिक दासता भी आती है।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज या व्यक्ति के स्तर पर अर्थ का अभाव शनै: शनै: उसको पराधीनता और ग़ुर्बत के दिनों की ओर धकेल देता है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि जहाँ एक तरफ समाज या व्यक्ति के उत्थान के लिए अर्थ का अभाव नुकसानदेय है वहीं दूसरी तरफ धन का प्रभाव (अधिकता) भी व्यक्ति या समाज की उन्नति में बाधक है। इन दोनों

---

[1] विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या-33-34

[2] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति), पृष्ठ संख्या- 12-13

(व्यक्ति या समाज) के सन्दर्भ में अर्थ के अभाव तथा अर्थ के प्रभाव के कारण धर्म का ह्रास होता है। अर्थ के प्रभाव का मतलब स्पष्ट करते हुए पं. दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं- "प्रत्यक्ष सम्पत्ति, अथवा उसकी सहायता से प्राप्त होने वाली वस्तुओं एवं भोग-विलासों में आसक्ति निर्मित होती है, तो उसे सम्पत्ति के अत्यधिक प्रभाव का लक्षण माना जाना चाहिए। जिस व्यक्ति को केवल सम्पत्ति का लालच होता है वह देश, धर्म, मानव-जीवन के परमसुख आदि महत्वपूर्ण बातों को भुला देता है। इस प्रकार सम्पत्ति के लोभ का शिकार विषयासक्त व्यक्ति विवेकहीन बन जाता है, तथा अपना और समाज का भी विनाश कराता है। अर्थ के प्रभाव के पहले प्रकार में सम्पत्ति साधनरूप न रहकर एकमेव साध्य बन जाती है। दूसरे प्रकार में सम्पत्ति धर्माचरण का साधन न रहकर विषय-भोग का साधन बन जाती है और चूँकि विषय-भोग की कोई सीमा नहीं होती, ऐसा व्यक्ति और समाज दोनों अंत में नष्ट हो जाते हैं।"[1]

जब समाज एवं व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा बड़प्पन का 'अर्थ' ही एकमात्र निकष बन बैठता है, तो वह भी अर्थ के अत्यधिक प्रभाव का ही लक्षण है। जब किसी राष्ट्र में सम्पत्ति का अत्यधिक प्रभाव निर्मित होता है, तब उसका उपद्रव अन्य देशों को त्रस्त करने लगता है। इस प्रकार जैसे अर्थ का अभाव उन्नयन की प्रक्रिया के लिए हानिकारक है, उसी प्रकार अर्थ का अत्यधिक प्रभाव भी ।

4.2.2- अर्थायाम-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अर्थ के अभाव एवं प्रभाव के स्थान पर 'अर्थायाम' की बात करता है। अर्थ के अभाव एवं प्रभाव- दोनों से समाज जीवन को मुक्त रखकर समाज में सम्पत्ति के बारे में एक योग्य व्यवस्था निर्मित करने को भारतीय संस्कृति में अर्थायाम कहा गया है। अर्थायाम के सम्बंध में पं. दीनदयाल जी कहा करते थे- "जिस प्रकार प्राणायाम मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए हितकारी है, उसी प्रकार अर्थायाम देश की अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक है।"[2] अर्थ का जीवन में वास्तव में क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में योग्य एवं सुस्पष्ट धारणा और अर्थ के उत्पादन, स्वामित्व, वितरण तथा भोग की समुचित एवं सन्तुलित व्यवस्था अर्थायाम के प्रमुख अंग हैं। अर्थायाम के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ एवं संस्थाएँ खड़ी करनी पड़ती हैं। शासन पर भी इस सम्बंध में महत्वपूर्ण दायित्व आता है, किंतु सभी उद्योगों या उत्पादन के साधनों को शासन के स्वामित्व में लाने अथवा शासन की व्यवस्था में चलाने का

[1] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति), पृष्ठ संख्या- 13
[2] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति), पृष्ठ संख्या- 15

अर्थ होगा आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों का केन्द्रीकरण करना। ऐसा केन्द्रीकरण अर्थायाम के अन्तर्गत स्वीकार नहीं। तथापि आर्थिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो, अर्थव्यवस्था में अनुशासन आये और देश की मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी हों, इसके लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक क्षेत्र में सामान्यतः नियोजन, निर्देशन, नियमन एवं नियन्त्रण का दायित्व शासन स्वीकार करे। अर्थायाम के लिए विशेष परिस्थिति में भारी एवं मूलभूत उद्योगों के स्वामित्व एवं व्यवस्थापन का दायित्व भी शासन को ही स्वीकार करना पड़ता है ।

पूँजीवाद एवं समाजवाद- दोनों में मुट्ठीभर लोगों के हाथों में शक्ति केंद्रित होती है। मनुष्य का विचार भी उत्पादन के एक साधन के रूप में ही किया जाता है। स्वतंत्रता से काम करने वाले कुशल कारीगरों और थोड़ा लाभ लेकर समाज की सेवा करने वाले छोटे व्यापारियों का वर्ग इन प्रणालियों में नष्ट हो जाता है। यही कारण था कि दीनदयाल जी का इस बात को लेकर प्रबल आग्रह रहता था कि- "आर्थिक स्वतंत्रता एवं आर्थिक लोकतंत्र की रक्षा करने वाला 'अर्थायाम' अर्थव्यवस्था में स्थापित किया जाना चाहिए ।"[1] आर्थिक स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करने के क्रम में पं. दीनदयाल जी कहते हैं- "विशालकाय यन्त्र सामग्री का मोह जिन लोगों को हो गया है, उनके विचार में आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ असीम उत्पादन वृद्धि मात्र होता है। किंतु यह दृष्टिकोण एकांगी एवं हानिकारक है। हमें ऐसी सावधानी बरतनी चाहिए कि एक की स्वतंत्रता के कारण दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण न हो। असीम उत्पादन करने की एक की स्वतंत्रता के कारण दूसरे की थाली की रोटी नहीं छीनी जानी चाहिए। किसी भी केन्द्रीकरण में ठीक यही होता है।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में अर्थायाम के अनुसार आर्थिक प्रगति का पक्षधर है।

4.2.3- प्रकृति का दोहन, शोषण नहीं-

आर्थिक विकास के लिए जिन आधारभूत आवश्यकताओं की महती आवश्यकता होती है उनमें- मूलभूत द्रव्य (कच्चा माल एवं खनिज), व ऊर्जा प्रमुख हैं। प्रकृति में इन दोनों के भण्डार सीमित हैं। किन्तु यदि हम अधिकाधिक उत्पादन के मोह में पड़कर प्रकृति का अन्धाधुन्ध शोषण करते जायेंगे तो प्राकृतिक साधन कहाँ तक हमारा साथ देंगे ? प्रकृति में एक सन्तुलन हुआ करता है, इस सन्तुलन के कारण नित्य परिवर्तनशील और चलायमान

---

[1] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति), पृष्ठ संख्या- 18

[2] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति), पृष्ठ संख्या- 17

दुनिया में भी अलग-अलग शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया में एक प्रकार का सन्तुलन रहता है। प्रकृति अपने ढंग से इनमें होने वाली क्षति की पूर्ति करती है, किन्तु यदि हम इस भावना से कि मानो इस सम्पूर्ण विश्व के प्राकृतिक संसाधनों का निर्माण हमारे खुद के लिए ही हुआ है और इसलिए हम इस सम्पूर्ण प्राकृतिक संसाधनों का अन्धाधुन्ध प्रयोग करने लगें तो उस वेग से होने वाली क्षति को प्रकृति पूरित करने में अक्षम होगी; परिणामतः प्रकृति में असन्तुलन आ जायेगा। वर्तमान समय में अधिकाधिक भौतिक समृद्धि के लिए औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन दोनों क्षेत्रों में अधिक उत्पादन के कीर्तिमान स्थापित करने की धुन में इस बात की ओर किसी का ध्यान शायद ही हो। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि हमें उत्पादन का विचार करते समय- चाहे वह कृषि उपज हो या औद्योगिक- जिस प्रकार समाज की आवश्यकताओं का यथायोग्य एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विचार करना पड़ता है, उसी प्रकार धरती पर उपलब्ध साधन-सामग्री और प्रकृति में उपस्थित सन्तुलन आदि बातों का भी विचार करना पड़ता है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी कहते हैं कि- "उत्पादन के जिन प्राकृतिक साधनों का उपयोग कर हम नई वस्तुओं का निर्माण करते हैं, वे साधन सीमित ही हैं। मनुष्य ने यद्यपि अपनी प्रतिभा से एक ही वस्तु के निर्माण के लिए अनेक साधनों का उपयोग किया है, ऐसे अविचार से इस सीमित साधन-संपदा को मनमाने ढंग से खर्च करना कदापि बुद्धिमानी नहीं होगी।"[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वर्तमान सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के अनुसार- 'मानव, सृष्टि का (प्रकृति का) अंग है, स्वयं की आजीविका के लिए सृष्टि का दोहन करने के साथ ही उसका संरक्षण, संवर्धन भी उसका कर्तव्य है।'[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मत आर्थिक-विकास हेतु प्रकृति के अमर्यादित उपभोग का विरोधी व अत्यन्त संयमित दोहन के पक्ष में है।

4.2.4- यन्त्रों (मशीनों) के प्रभुत्व का विरोध-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ यन्त्रों के मानव पर प्रभुत्व का विरोधी है। मानव के श्रम को सरल बनाने तथा उनके उत्पादन एवं क्षमता को बढ़ाने के लिए मशीनों का आविष्कार हुआ है। ये मशीनें मानव की सहायक हैं, उनकी प्रतिस्पर्धी नहीं। किन्तु जहाँ मानव श्रम को एक विनिमय की वस्तु समझकर उसका मूल्यांकन रुपयों में होने लगा, वहाँ

---

[1] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति), पृष्ठ संख्या- 25

[2] विजयादशमी उत्सव (शुक्रवार दि. 15 अक्तूबर 2021) के अवसर पर प. पू. सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी का उद्बोधन
https://www.rss.org/hindi/Encyc/2021/10/15/Vijaya-Dashami-2021-Full-Speech.html

ये मशीनें मानव की प्रतिस्पर्धी बन गयीं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि- "यदि यन्त्र मानव का स्थान लेकर उसे भूखा मारे तो वह उन उद्देश्यों के विपरीत होगा जिनकी सिद्धि के लिए यन्त्रों का आविष्कार हुआ। हमें यन्त्र की मर्यादाओं का विचार करके ही उसकी उपयुक्तता का निर्धारण करना होगा।"[1] यन्त्रों के प्रभुत्व के विरुद्ध महात्मा गाँधी व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचार एक समान हैं।[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि पश्चिम के उन यन्त्रों को, जो वहाँ की जनसंख्या की कमी को दृष्टिगत रखते हुए बने हैं, बिना विचार किये अपने देश में आयात करना भारी भूल होगी। यन्त्र देशकाल-परिस्थिति सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। प्रत्येक देश को अपनी घरेलू परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप इन यन्त्रों का प्रयोग करना चाहिए। 'हमारी मशीन हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही नहीं, अपितु हमारे सांस्कृतिक व राजनैतिक जीवन मूल्यों की पोषक नहीं तो कम से कम अविरोधी अवश्य होनी चाहिए।'[3] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं कि- "जैसे किसी कारखाने की पूरी क्षमता का उपयोग न कर पाना आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं, वैसे ही देश के लोगों को बेकार रखना घाटे का सौदा है। यहाँ तो दोहरा घाटा है, खाली मशीन केवल पुरानी पूँजी खाती है, कुछ नया नहीं; पर बेकार मनुष्य तो अनाज भी खाता है। अतः आज तो 'कमाने वाला खाएगा' के स्थान पर 'खाने वाला कमायेगा' यह लक्ष्य रखकर हमें भारत की अर्थ-रचना करनी होगी। चरखे के स्थान पर कताई की मशीनें तो चाहिए, परन्तु सब कामों के लिए स्वचालित मशीनें नहीं।"[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ मशीनों के प्रयोग का तो अविरोधी है, मगर जब मशीनों का प्रभाव मानव पर अत्यधिक पड़ने लगे और वह बेकारी की स्थिति को प्राप्त करने लगे, इस स्थिति में वह विरोध करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि पूर्ण आजीविका का लक्ष्य सामने रखकर ही हमें अन्य उत्पादनों का विचार करना चाहिए।

---

[1] 'राष्ट्राय नमः'- मोरेश्वर गणेश तपस्वी, पृष्ठ संख्या- 456

[2] दिल्ली की एक सभा में जब महात्मा गाँधी से यह पूछा गया कि- क्या आप तमाम यन्त्रों के खिलाफ हैं ? तो महात्मा गाँधी ने कहा- वैसा मैं कैसे हो सकता हूँ, जब मैं यह जानता हूँ कि यह शरीर भी एक बहुत नाजुक यन्त्र ही है। खुद चरखा भी एक यन्त्र ही है, छोटी सी दाँत कुरेदनी भी यन्त्र है। मेरा विरोध यन्त्रों के लिए नहीं, बल्कि यन्त्रों के पीछे जो पागलपन चल रहा है उसके लिए है। वे यह भी कहते हैं कि- मेरा उद्देश्य तमाम यन्त्रों का नाश करना नहीं, बल्कि उनकी हद बाँधने का है। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी कहते हैं कि- ऐसे यन्त्र नहीं होने चाहिए जो काम न रहने के कारण आदमी के अंगों को जड़ और बेकार बना दें। कुल मिलाकर महात्मा गाँधी मनुष्य की मुक्ति के पक्षधर हैं, उन्हें मनुष्य की शर्त पर न मशीनें चाहिए और न कारखाने। (बापू का था एक मूलमंत्र पश्चिमी सभ्यता से बचें और भारत की धर्मपरायण संस्कृति में भरोसा - https://www.jagran.com/news/national-mahatma-gandhi-main-credo-avoid-western-civilization-and-trust-in-the-religious-culture-of-india-jagran-special-20823293.html

[3] 'राष्ट्राय नमः'- मोरेश्वर गणेश तपस्वी, पृष्ठ संख्या- 457

[4] 'एकात्म मानव दर्शन'- पं.दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ संख्या- 68

4.2.5- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'स्वदेशी' की अवधारणा-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि स्वदेशी भावना की शुरुआत- 'स्वत्व' के जागरण से होती है। स्वत्व का जागरण तथा सभी क्षेत्रों में उसका सुयोग्य विनियोजन यही स्वदेशी का सार तत्व है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्बद्ध प्रकल्प 'स्वदेशी जागरण मंच' से जुड़े रवीन्द्र महाजन जी स्वदेशी के भाव के बारे में बताते हुए कहते हैं- "हमें यह समझना होगा कि 'स्वदेशी' के बिना 'स्वदेश' केवल एक प्राणहीन कलेवर रह जायेगा। शायद ऐसे ही भाव विहीनता की दशा में चीनियों की घुसपैठ के बारे में हमारे तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने कहा था कि चीनियों ने भारत-भू का कुछ हिस्सा हड़प लिया है तो क्या आकाश टूट पड़ा, क्योंकि वह निर्जन प्रदेश है और वहाँ घास का एक पत्ता भी नहीं उग पाता। स्वाभिमान और स्वावलंबन के आधार पर सामर्थ्य प्राप्त करके स्वदेश को वैभवसम्पन्न बनाना यही 'स्वदेशी' है। स्वाभिमान, स्वावलंबन, सामर्थ्य और संपन्नता यह हमारी (स्वदेशी की) चतु:सूत्री होगी। राष्ट्रभक्ति का भाव और उसकी व्यवहार में अभिव्यक्ति यही स्वदेशी है ।"[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि अर्थनीति का आधार 'स्वदेशी' होना चाहिए। क्योंकि अर्थनीति में अर्थ-सुरक्षा स्वावलंबन के आधार पर होती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का तो यहाँ तक मानना है कि जब तक हम स्वदेशी का अनुगमन नहीं करेंगे, तब तक वास्तविक विकास होगा ही नहीं। प्रश्न उठता है कि यह 'स्वदेशी' है क्या ? राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत संघ की 'स्वदेशी' की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि- "स्वदेशी यानी दुनिया से देश को बंद कर लेना नहीं है। 'आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:' तो जो मेरे घर में बन सकता है, वह मैं बाजार से नहीं लाऊंगा। मेरे गाँव के बाजार में जो मिलता है, उससे मेरे गाँव का रोजगार बनता है, मैं बाहर के गाँव से, बाजार से नहीं लाऊंगा। ऐसे क्रमशः जाते हैं, तो जो अपने देश में बनता है, वह बाहर से नहीं लाना। लेकिन अपने देश में बनता ही नहीं है, और जीवन के लिए आवश्यक है तो बाहर से भी लाऊंगा। ज्ञान की बात है, तकनीकी की बात है, हम पूरी दुनिया से लेंगे लेकिन लेने के बाद हमारे देश की प्रकृति और हमारे देश के भविष्य की आकांक्षा के अनुरूप उसको बदल कर लेंगे और हम प्रयास करेंगे कि सारा कुछ हमारे देश में बने। यह 'स्वदेशी' वृत्ति है। इस स्वदेशी वृत्ति के बिना कोई अर्थ-तंत्र अपने देश को सबल नहीं बना सकता।"[2]

---

[1] स्वदेशी प्रश्नोत्तरी- रवीन्द्र महाजन, पृष्ठ संख्या- 6

[2] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 99-100

उपरोक्त उद्धरण में हम यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्वदेशी के प्रति आग्रह तो है, मगर उसमें विदेशी वस्तुओं के प्रति विद्वेष नहीं है। जहाँ तक हो सके हमें स्थानीय स्तर पर उपलब्ध देसी वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिए, मगर जीवन के लिए अपरिहार्य वस्तुएं, जो देश के बाहर से आयातित की जाती हैं, उन्हें उपयोग करने की मनाही नहीं है। यही व्यावहारिक भी है। जहाँ तक तकनीकि आदि के विदेशों से आहरण का प्रश्न है तो संघ का मानना है कि इसमें कोई बेजा बात नहीं है। बस आयातित तकनीकि का अनुप्रयोग अपने देश की जरूरतों व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही किया जाये। उन तकनीकों पर आधारित वस्तुओं का उत्पादन भी अपने ही देश में किया जाना चाहिए, जिससे उत्पादित वस्तुओं की कीमत तो कम होती ही है, साथ ही देश में रोजगार का भी सृजन होता है। वर्तमान भारत सरकार के 'लोकल फॉर वोकल' व 'मेक इन इंडिया' जैसे कार्यक्रमों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'स्वदेशी' की अवधारणा का परिलक्षण देखा जा सकता है। वर्तमान में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा किये जा रहे 'स्वदेशी' के आग्रह की उसके आलोचकों द्वारा यह कहकर आलोचना की जाती है कि- स्वदेशी की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की परिकल्पना पुरानी हो चुकी है तथा उसकी वर्तमान में प्रासंगिकता भी संदिग्ध है। इन आक्षेपों का जवाब देते हुए 'स्वदेशी जागरण मंच' से जुड़े रवीन्द्र महाजन जी कहते हैं- "स्वदेशी की बात आज भी सामयिक है। स्वदेशी की परिकल्पना पुरानी कहने से क्या अभिप्रेत है ? अगर उससे स्वाभिमान, स्वावलंबन, आर्थिक विकेन्द्रीकरण इन भावों का जिक्र होता है तो स्पष्ट है कि इन भावों की आवश्यकता आज भी उतनी ही है जितनी पहले थी। कुछ साधन विशेष की बात जैसे- सूत कातना आदि अगर हमारे मन में है तो उसमें युगानुकूल परिवर्तन की आवश्यकता होगी। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि मंत्र वही रहेगा लेकिन तंत्र को देशकाल की अवस्था आवश्यकता के अनुसार उचित परिवर्तन के साथ उपयोग में लाना होगा।"[1] अब प्रश्न उठता है कि क्या स्वदेशी का आग्रही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 'उदारीकरण' तथा 'वैश्वीकरण' के खिलाफ है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए रवीन्द्र महाजन जी कहते हैं- "पहले हम यह समझ लें कि राष्ट्र का परमवैभव हमारा साध्य है। उदारीकरण या कोई भी पद्धति इस साध्य को पाने के लिए साधन है। साध्य-साधन विवेक करने से यह हम निश्चित कर पाते हैं कि किसी भी साधन का उपयोग उतना ही है जहाँ तक वह साध्य प्राप्त करने में उपयुक्त है। उदारीकरण के अनेक पहलू स्वदेशी अर्थव्यवस्था के लिए उपयुक्त हो सकते हैं इसलिए हम उदारीकरण के खिलाफ नहीं हैं। लाइसेंस, कोटा, परमिट पद्धति से अर्थव्यवस्था की जो घुटन

---

[1] स्वदेशी प्रश्नोत्तरी- रवीन्द्र महाजन, पृष्ठ संख्या- 03

होती है उसे तुरन्त दूर कर देना चाहिए। जहाँ तक बात वैश्वीकरण के सम्बन्ध में है तो यहाँ भी वही साध्य-साधन की बात लागू होती है। वैश्वीकरण एक साधन है और जहाँ तक राष्ट्रहित में है केवल उतना ही होना चाहिए । वैश्वीकरण के लिए वैश्वीकरण ठीक नहीं है। विदेशी लालच या दबाव में वैश्वीकरण न हो। देशहित में जितना आवश्यक हो, उतना ही करें, बाकी अपने विकास के लिए आन्तरिक अर्थव्यवस्था सक्षम है।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े स्वदेशी जागरण मंच द्वारा स्वदेशी के स्वीकरण की बात और आवश्यकता तो उचित है परन्तु स्वदेशी के आलोचकों द्वारा उसकी यह कहकर आलोचना की जाती है कि- स्वदेशी वाले स्वदेशी अर्थव्यवस्था की बस बात ही करते हैं उसका कोई 'ब्ल्यूप्रिंट' क्यों नहीं देते ? इस सम्बन्ध में स्वदेशी प्रकल्प से जुड़े रवीन्द्र महाजन जी कहते हैं- "हम यह मानते हैं कि ऐसा 'ब्ल्यूप्रिंट' देना उचित नहीं है। पहली बात तो यह है कि 'ब्ल्यूप्रिंट' कर देने से हम भविष्य में होने वाले सुधारों पर एक तरह से रोक लगाते हैं जो उचित नहीं है। क्योंकि राष्ट्र एक जीवमान सतत वर्यिष्णु इकाई है, जिसके जीवन प्रवाह में व्यवस्था को मिश्रित रूप देना (Freeze करना) ठीक नहीं होगा। अर्थव्यवस्था का स्वरूप तो सतत विकसित होता रहेगा।.....धीरे-धीरे आम सहमति से आगे बढ़ना ज्यादा लाभकारी रहेगा। अपना तो विचार है स्वदेशी अर्थव्यवस्था पर पूरे देश में व्यापक चर्चा हो, उसके बारे में राष्ट्रीय चिंतनधारा के आधार पर कुछ राष्ट्रीय सहमति हो, सारे पहलू सामने आयें और फिर उसमें से राष्ट्रीय कार्यक्रम उभरे।.....अर्थव्यवस्था का विषय केवल वित्तीय सलाहकारों का या अर्थशास्त्रियों का न होकर राष्ट्रजीवन को समन्वित रूप से देखने वाले सभी चिंतकों का है और ऐसे व्यापक प्रयास के फलस्वरूप ही ब्ल्यूप्रिंट का ढांचा तैयार हो यही अपेक्षा है।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ स्वत्व के जागरण के आधार पर स्वदेशी रचना की अवधारणा की बात करता है। वह स्वदेशी अर्थव्यवस्था का ब्ल्यूप्रिंट भले ही न प्रस्तुत करता हो, लेकिन स्वदेशी अर्थव्यवस्था के मार्गदर्शक सूत्रों को अवश्य निर्देशित करता है। ऐसे कुछ महत्वपूर्ण मार्गदर्शक सूत्र- आर्थिक निर्णय स्वातंत्र्य, राष्ट्रीय संस्कृति के अनुकूल विकास, स्वावलंबन, मूल्याधारित मुक्त स्पर्धा, विकेन्द्रीकरण, सुयोग्य

[1] स्वदेशी प्रश्नोत्तरी- रवीन्द्र महाजन, पृष्ठ संख्या- 08-09
[2] स्वदेशी प्रश्नोत्तरी- रवीन्द्र महाजन, पृष्ठ संख्या- 21-22

प्रौद्योगिकी, प्राकृतिक सन्तुलन, स्थानीय-तत्व का समायोजन तथा अंत्योदय हैं, जिनके अनुपालन के माध्यम से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय अर्थनीति के चालन की बात करता है।

4.2.4- कृषि-

हम सब जानते हैं कि भारत की लगभग 70% से अधिक आबादी गाँवों में निवास करती है और हमारी अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान है। देश की आर्थिक प्रगति और समृद्धि सामान्य जन की क्रय-शक्ति पर निर्भर है और क्रय-शक्ति कृषि उपज पर आधारित है । इस प्रकार कृषि हमारे देश की आर्थिक उन्नति का महत्वपूर्ण आधार व अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। देश में हरित क्रांति के दौरान उत्पादन को बढ़ाने के लिए कृषकों को उर्वरकों, कृत्रिम (संकर) बीजों, कीटनाशकों के अधिकाधिक अनुप्रयोग हेतु सरकारी स्तर पर प्रोत्साहित किया गया। कृषक भी अधिक उपज प्राप्त करने के लालच में इनका अन्धाधुन्ध उपयोग करता रहा। प्रारम्भ में किसानों को यह भान ही नहीं हुआ कि इनके अनुप्रयोग से न केवल भूमि की उर्वरा शक्ति का क्षरण हो रहा है, बल्कि भूमि बंजर भी हो रही है । दूसरी ओर रासायनिक खादों व कीटनाशकों पर उनकी निर्भरता भी बढ़ रही है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे खेती का काम अलाभकारी होता जा रहा है तथा भूमि में उर्वरकों, कीटनाशकों का जहर घुलने के परिणामस्वरूप पर्यावरण व जन-स्वास्थ्य पर भी विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। इन्हीं सब दुष्प्रभावों के निवारणार्थ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कृषि की परम्परागत भारतीय पद्धति का हिमायती है । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कृषि-कर्म की लागत को कम करने के लिए-उर्वरकों, कीटनाशकों आदि के अनुप्रयोग को बंद करने का आग्रही है। इसके स्थान पर वह खेतों में जैविक खादों के व कीट-नियन्त्रण के परम्परागत उपायों का प्रयोग का पक्षधर है । आज भारत के लगभग 65% किसान लघु अथवा सीमान्त जोत के किसान हैं। उनके लिए कृषि-कार्य हेतु मशीनों का प्रयोग लाभप्रद नहीं है।

कृषि-सम्बन्धी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उक्त दृष्टिकोण को उसके विरोधी 'प्रतिगामी विचार' कहकर आलोचना करते हैं। वे तर्क देते हैं कि देश के आजादी के पूर्व देश में जैसा संघ कहता है, वैसी ही कृषि-पद्धति प्रचलित थी। परन्तु देश में खाद्यान्न तक उपलब्ध नहीं था। जनता भूखों मर रही थी। जब हरित क्रांति के बाद कृत्रिम (संकर) बीज, उर्वरकों, कीटनाशकों का प्रयोग कृषि में किया जाने लगा तभी उत्पादन में वृद्धि हुई। उनका कहना सही है कि हरित क्रांति के बाद देश में अन्नोत्पादन बढ़ा, मगर उस अन्धाधुन्ध उर्वरकों, कीटनाशकों व कृत्रिम बीजों के

अनुप्रयोग के कारण शनैः-शनैः देश की माटी अनुर्वर होने लगी। कृषि में उत्पादन अधिक प्राप्त करने हेतु उर्वरकों का अधिक मात्रा में अनुप्रयोग मजबूरी हो गया। इन्हीं सब कारणों से धीरे-धीरे कृषि-कर्म की लागत बेतहाशा बढ़ती गयी और बड़े काश्तकारों की बात छोड़ दें तो देश के अधिकतर किसानों (लघु व सीमान्त) के लिए कृषि घाटे का काम बनती जा रही है। नई पीढ़ी कृषि-कर्म से विलग होकर शहरों की ओर रोजगार हेतु पलायन कर रही है। उसे अपने खेतों में कृषि-कर्म करने के बनिस्बत शहरों में जाकर मजदूरी करना लाभप्रद लगता है। इन सब समस्याओं के निदान हेतु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश की परम्परागत कृषि व्यवस्था का आधुनिकता के साथ तालमेल बिठाते हुए अनुप्रयोग का पक्षधर है। संघ से प्रेरित देश की कृषि-व्यवस्था में सुधार हेतु अनेक प्रकल्प कार्यरत हैं। संघ ने कृषि योग्य भूमि की उर्वरा शक्ति में आई कमी को दूर करने के लिए 'भूमि सुपोषण अभियान'[1] (13 अप्रैल 2021 को) की शुरुआत की है। संघ ने इस अभियान को आगे बढ़ाने हेतु इस क्षेत्र में कार्य करने वाले अन्य अनुषंगी संगठनों व संस्थानों के साथ कार्य करने का निर्णय लिया है।

वर्तमान समय में कृषि क्षेत्र को लेकर सबसे बड़ा सवाल यह है कि- कैसे इस क्षेत्र को लाभ का क्षेत्र बना कर कृषकों की स्थिति को मजबूत किया जाये ताकि वे आर्थिक संकट की वजह से आत्महत्या जैसे कदम उठाने को विवश न हों। साथ ही कैसे धरती माता को अनुर्वर होने से बचाया जा सके। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसको लेकर विभिन्न स्तरों पर जन-जागरण करते हुए लोगों को परम्परागत कृषि-व्यवस्था के आधुनिक प्रयोग को प्रोत्साहित कर रहा है।

प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राजनीति व अर्थनीति से सम्बन्धित चिन्तन को प्रस्तुत किया गया है। एक समाजाधारित संगठन होने के नाते राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का राजनीति से सम्बन्ध तो है, मगर वह कैसे सक्रिय राजनीति से निर्लिप्त है, इसका विवेचन किया गया है। इस अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अर्थनीति से सम्बन्धित विविध अवधारणाओं, यथा- अर्थायाम, यन्त्रों के प्रभुत्व का विरोध, प्रकृति का दोहन, न कि शोषण, स्वदेशी की अवधारणा, जैविक कृषि आदि, को प्रस्तुत करते हुए उसके अर्थ-सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

[1] भूमि की उर्वरा शक्ति को संवर्धित करने के अतिरिक्त इस अभियान का उद्देश्य- किसानों को जैविक खेती की तरफ प्रेरित करना, पशुधन को कृषि में पुनर्स्थापित करना, गाँवों में कृषि प्रसंस्करण उद्योगों का नेटवर्क खड़ा करना, किसानों को बाजार की भावी चुनौतियों और अवसरों से अवगत कराना तथा किसानों को साझा खेती व अन्य योजनाओं से जोड़ना है।

पञ्चम-अध्याय

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सांस्कृतिक चिन्तन

- **5.1 संस्कृति : अर्थ एवं परिभाषा**
- **5.2 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'हिन्दू' की अवधारणा**
- **5.3 'हिन्दू-संस्कृति' ही 'भारतीय-संस्कृति'**
- **5.4 हिन्दू-संस्कृति की आत्मा**
- **5.5 हिन्दू-संस्कृति- 'सेवा-भाव'**
- **5.6 'राष्ट्र' की चिरकालिक भारतीय कल्पना**
- **5.7 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'राष्ट्र' (हिन्दू-राष्ट्र) की अवधारणा**
- **5.8 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का 'धर्म' को लेकर दृष्टिकोण**
    - **5.8.1 धर्म, रिलिजन नहीं**
- **5.9 सामाजिक उत्सवों को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण**
- **5.10 'खानपान' और 'वेशभूषा' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण**
- **5.11 संगीत और कला को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिन्तन**
- **5.12 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा**

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सांस्कृतिक-चिन्तन

समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य की सभी उपलब्धियाँ उसकी संस्कृति से प्रेरित मानी जा सकती हैं। संस्कृति की सहायता से ही उसने निरन्तर प्रगति की है और विकास के विभिन्न आयामों को स्पर्श किया है। इस धरा-धाम के सम्पूर्ण जीवधारियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसमें संस्कृति का निर्माण करने और उसको परम्परागत रूप से सजीव रखने की क्षमता होती है। समाज-जीवन में घटने वाली घटनाओं के विश्लेषण में व्यक्ति, समाज और संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन है। देश की संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सतत प्रयत्नशील है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी के शब्दों में कहें तो- "प्राचीन जीवन प्रवाह को आसेतु हिमाचल प्रवाहित होने वाली इस भारतीय जीवन-धारा, जिसे 'संस्कृति' कहते हैं, के अधिष्ठान को जगाना और उस आधार पर हिन्दू-समाज को सर्वभेदों से मुक्त कर, एकसूत्र में गूँथने का हमारा व्यावहारिक निश्चय रहा है। यही हमारे कार्य (संघ-कार्य) का आधार रहा है, अधिष्ठान रहा है।"[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के इसी कार्य-आधार के चिन्तन को स्पष्ट करने, विवेचित करने का प्रयास प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

5.1- संस्कृति : अर्थ एवं परिभाषा-

'संस्कृति' शब्द का अर्थ- 'अच्छा बनना', 'अच्छा व्यवहार करना' और 'अच्छे विचारों का प्रादुर्भाव होना' है। हम 'जैसे हैं, वैसे ही रहें', उसी अनुरूप व्यवहार करें तो वह 'प्रकृति' कहलाती है। और यदि उससे निकृष्ट व्यवहार करें तो वह 'विकृति' होती है। परन्तु मानव का जन्म इसलिए हुआ है कि वह प्रकृति से ऊपर उठे, उन्नत बने और अधिक परिष्कृत हो। इस दिशा में उसके द्वारा कृत प्रयत्न ही 'संस्कृति' कहलाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि हम जैसे हैं- उस स्थिति से ऊपर उठने की आवश्यकता ही क्या है ? आखिर जैसे हैं- उस स्थिति में बने रहने में क्या हर्ज है ? तो हम कह सकते हैं कि यदि हम जैसे हैं, वैसे ही बने रहते हैं तो फिर मानव और पशु में अन्तर ही क्या रहेगा। वैसे देखा जाये तो मनुष्य और पशु में अनेक समानताएँ हैं। दोनों में आहार, निद्रा,

[1] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड -2, पृष्ठ संख्या- 69

भय, मैथुन आदि बातें एक समान होती हैं। यही नहीं, इंद्रियों की पसन्द या तिरस्कार के विषय भी लगभग निश्चित होते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में भी कहा गया है –

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ" (3/34)

यह सब स्वाभाविक होता है, प्रकृति के अनुरूप होता है। पशु इसी प्रकृति के अनुरूप चलते हैं। मानव को यदि पशु-जीवन से उन्नत जीवन-यापन करना है तो उसे प्रकृति से ऊपर उठना होगा, संस्कृति का धुरा पकड़ना होगा। मानव इस मामले में सौभाग्यशाली है कि उसके पास प्रकृति से ऊपर उठने की क्षमता है। यदि उसे भूख लगी हो तो भी वह स्वयं भूखा रहकर दूसरों को खिला सकता है। मानव की इसी विशिष्टता को रेखांकित करते हुए 'संस्कृति-विषयक' चर्चा के समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारक अक्सर- 'धर्मराज युधिष्ठिर और नेवले के संवाद' की कथा का वर्णन करते हैं। उस कथा का सार यही है कि- मनुष्य अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दूसरों को जीवन-दान दे सकता है।[1] इसी को 'संस्कृति' कहते हैं।

'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति की बात करें तो- 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में 'सुट्' का आगम करके (पाणिनि का सूत्र है- 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे'- जिसके अनुसार 'सुट्' का आगम होता है।) 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से 'संस्कृति' शब्द बनता है। संस्कृति शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से- 'संस्कार की हुई स्थिति' या 'सुधरी हुई दशा' का बोधक है। ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य रहे श्री ब्रह्मानंद सरस्वती जी कल्याण पत्रिका में प्रकाशित अपने 'हिन्दू-संस्कृति' शीर्षक आलेख में संस्कृति शब्द की मीमाँसा करते हुए लिखते हैं- "संस्कृति का अर्थ होता है- भूषणभूत सम्यक् कृति। इसलिए भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही 'संस्कृति' कही जा सकती है।"[2] वे आगे लिखते हैं- "पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भोग योनियों में जीव की चेष्टायें स्वाभाविक ही हुआ करती हैं। उसमें सम्यक्-असम्यक् का भेद नहीं किया जा सकता। मनुष्य योनि में ही जीव कर्म करने में स्वतंत्र माना गया है। मनुष्य सम्यक्-असम्यक् दोनों प्रकार की चेष्टाएँ करने में समर्थ होता है। इसलिए सम्यक् चेष्टा या कृति- 'संस्कृति' का प्रयोग मनुष्य के सम्बन्ध में ही किया जा सकता है। इसलिए मनुष्य की भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या कृति (जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करे, वे चेष्टाएँ ही उसके लिए भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ कही जा सकती हैं।) ही

---

[1] अपनी संस्कृति- माधव गोविन्द वैद्य, पृष्ठ संख्या- 12-13

[2] कल्याण 'हिन्दू-संस्कृति-अंक' (चौबीसवें वर्ष का विशेषांक), गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ संख्या- 24

'संस्कृति' है ।"[1] महाराज श्री की बातों को साररूप में कहें तो- मनुष्य के लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही 'संस्कृति' है।

संस्कृति शब्द के लिए अंग्रेजी भाषा में 'कल्चर' (Culture) शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'कल्चर' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'कल्ट' या 'कल्ट्स' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है- जोतना, उत्पादन, विकसित करना या परिष्कृत करना। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- "'कल्चर' शब्द को अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक बेकन ने 'मानसिक खेती' के अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था ।"[2] आचार्य नरेंद्र देव ने भी संस्कृति को 'चित्त की खेती' कहा है ।[3] रेमण्ड विलियम्स अपनी पुस्तक 'कल्चर' में, कल्चर (संस्कृति) शब्द की विकास यात्रा के सम्बन्ध में लिखते हैं – "कल्चर (संस्कृति) की अवधारणा सबसे पहले एक प्रक्रिया के रूप में शुरू हुई, जैसे- 'फसलों की खेती' या 'जानवरों का पालन' और बाद में उसका विस्तार करके 'मानव-मस्तिष्क के परिष्कार' तक को 'संस्कृति' माना गया। मगर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संस्कृति शब्द किसी स्थान विशेष के लोगों की 'पूर्ण जीवन शैली' (Whole Way Of Life) को सूचित करने वाले 'साधारणीकरण' (Generalization) या समाकृति (Configuration) के भाव की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होने लगा। अठारहवीं शताब्दी में जे.जी. हार्डर ने पहली बार 'कल्चर' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त किया, जो एक रेखीय सभ्यता शब्द से हिगराया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में तुलनात्मक मानव-शास्त्र में संस्कृति को एक पूर्ण एवं विशिष्ट जीवन-शैली के रूप में बहुवचन में प्रयोग किया जाने लगा ।"[4]

संस्कृति के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि- किसी वस्तु को उस सीमा तक संस्कारित और परिष्कृत करना कि उसका अन्तिम उत्पाद सम्मानीय या प्रशंसनीय हो। संस्कृति का सम्बन्ध संस्कारों से होता है अर्थात् अच्छे संस्कारों के परिणाम और भाव को हम 'संस्कृति' कह सकते हैं।

'संस्कृति' शब्द की परिभाषा की बात करें तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारकों का मानना है कि संस्कृति एक अपरिभाषिक शब्द है, उसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती है। हाँ, उसे अनुभव अवश्य किया जा सकता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी के अनुसार- "लोग कभी-कभी कहते हैं-

---

[1] कल्याण 'हिन्दू-संस्कृति-अंक', गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ संख्या- 24

[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली,भाग-9,संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या- 196

[3] भारतीय संस्कृति का स्वरूप- अमित कुमार शर्मा, पृष्ठ संख्या-21

[4] उद्धरित, 'संस्कृति और समाज'- सुभाष शर्मा, पृष्ठ संख्या- 55

'आप हिन्दू-संस्कृति की परिभाषा बताइए' । हाँ, यद्यपि उसकी परिभाषा नहीं कर सकते, पर हम उसे अनुभव करते हैं ।" वे आगे कहते हैं- "हमारी संस्कृति जो परिभाषा के क्षेत्र में नहीं आती, ने हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है ।......सभी अभिव्यक्तियों में संस्कृति के तत्वों को पहचान सकते हैं ।"[1] संस्कृति शब्द को परिभाषित करने में इसी कठिनता का बोध आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को भी हुआ था । वे अपने एक निबन्ध 'भारतीय संस्कृति की देन' में लिखते हैं- "यह, संस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है, तथापि इसे अस्पष्ट रूप में ही समझा जाता है । इसकी कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं बन सकी है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है ।......इसकी अस्पष्टता का कारण यही है कि अब भी मनुष्य इसके सम्पूर्ण और व्यापक रूप को देख नहीं सका है । संसार के सभी महान तत्व इसी प्रकार मानव-चित्त में अस्पष्ट रूप से आभासित होते हैं । उनका आभासित होना ही उनकी सत्ता का प्रमाण है ।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव की श्रेष्ठतम मान्यतायें जैसे- संस्कृति- केवल अनुभूत होकर ही अपनी महिमा सूचित करती है, उसको स्पष्ट और सुव्यवस्थित परिभाषा में बाँधना दुरूह है । सरसंघचालक श्री गुरुजी भी यही बात कह रहे हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- "अपनी चरम सत्यानुभूति को प्रकट करते समय कबीरदास ने भी इसी प्रकार की विवशता का अनुभव करते हुए कहा था- 'ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कहों अनूठा लो ।' मानव की सामान्य संस्कृति भी बहुत-कुछ ऐसी ही अनूठी वस्तु है ।"[3]

हालाँकि संस्कृति शब्द को परिभाषित करना दुरूह है, फिर भी ऐसा नहीं है कि यह शब्द एकदम अस्पष्ट ही है । स्वयं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- "इसको (संस्कृति को) एकदम अस्पष्ट भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि- 'मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है' ।"[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि एक तरफ आचार्यवर संस्कृति की स्पष्ट परिभाषा असम्भव बताते हैं, तो दूसरी तरफ वह संस्कृति शब्द को परिभाषित करने का प्रयास भी करते हैं । इसी प्रकार अनेक विद्वानों ने भी 'संस्कृति' शब्द की अस्पष्टता को स्पष्ट करने के क्रम में कुछ

---

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 36

[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली,भाग-9,संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या-200

[3] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली,भाग-9,संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या-200

[4] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली,भाग-9,संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या-200

प्रयास किये हैं, जिससे इस शब्द की अस्पष्टता एकदम समाप्त तो नहीं, लेकिन कुछ कम जरूर हुई है। विद्वानों द्वारा 'संस्कृति' को परिभाषित करने के कुछ प्रयासों का उल्लेख यहाँ समीचीन होगा-

पण्डित जवाहरलाल नेहरू अपने मित्र रामधारी सिंह दिनकर की पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' की प्रस्तावना लिखने के क्रम में, संस्कृति को परिभाषित करने के विविध विद्वानों के प्रयासों का हवाला देते हुए लिखते हैं- "एक बड़े लेखक का कहना है कि संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानीं या कही गयीं हैं, उनसे अपने आप को परिचित कराना ही संस्कृति है। एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि- 'संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।' यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठाना है।''[1] इन सभी कथनों के आधार पर पण्डित नेहरू अपना मत देते हुए कहते हैं- "इस अर्थ में संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तरराष्ट्रीय है। फिर भी, संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं।"[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे माधवराव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य 'श्री गुरुजी' के अनुसार- "इस देश में अनादि काल से जो समाज-जीवन रहा उसमें अनेक महान व्यक्तियों के विचार, गुण, तत्व समाज-रचना के सिद्धान्त तथा जीवन के छोटे-छोटे सामान्य अनुभवों से जो जीवन-विषयक एक स्वयंस्फूर्त स्वाभाविक दृष्टिकोण निर्माण होता है, वही सर्वसाधारण दृष्टिकोण संस्कृति है।"[3] एक अन्य व्याख्यान में वे संस्कृति को परिभाषित करने का प्रयास करते हुए कहते हैं- "समाज की एकात्मता जिन संस्कारों पर आधारित हो, उन्हीं संस्कारों का समुच्चय संस्कृति है।"[4]

प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, 'संस्कृति' को परिभाषित करने का प्रयास करते हुए लिखते हैं- "संस्कृति की प्रक्रिया एक साथ ही आदर्श को वास्तविक और वास्तविक को आदर्श बनाने की प्रक्रिया है।......सभ्यता मूलतः सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से साधनों का संयोजन है, जबकि संस्कृति- स्वतंत्रता का अनुसंधान है।"[5]

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या- 11
[2] संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या- 11
[3] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड -2, पृष्ठ संख्या- 11
[4] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड -2, पृष्ठ संख्या- 66
[5] अज्ञेय प्रवर्तित हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यानमाला (भाग-1)- सम्पादक- कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ संख्या- 31

साहित्य-कला व दर्शन के मर्मज्ञ डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल संस्कृति के बारे में लिखते हैं कि- "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविधि रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।"[1] राष्ट्र-हेतु संस्कृति की महत्ता के सम्बन्ध में वे लिखते हैं- "राष्ट्र-संवर्धन का सबसे प्रबल कार्य संस्कृति की साधना है। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन ऐतिहासिक हलचल का लोक-हितकारी तत्व उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। जिन मनुष्यों के सामने संस्कृति का आदर्श ओझल हो जाता है, उनकी प्रेरणा के स्रोत भी मंद पड़ जाते हैं।"[2]

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के अनुसार- "हमारे रहन-सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था होती है, जो मानसिक प्रकृति है, जिसका उद्देश्य हमारे जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है, वही संस्कृति है।"[3]

श्री अरविंद के अनुसार- "संस्कृति से हमारा मतलब मनोमय जीवन का स्वयं अपने लिए ही अनुशीलन करना होता है।"[4]

डॉ. देवराज भारतीय संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखते हैं- "संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, मनोवृतियों (एटीट्यूड) से है। संक्षेप में सांस्कृतिक विशेषताएं मनुष्य की बुद्धि एवं स्वभाव की विशेषताएं होती हैं। इन विशेषताओं का अनिवार्य सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से होता है। ये विशेषताएं या तो स्वयं में मूल्यवान होती हैं अथवा मूल्यों के उत्पादन का साधन।"[5]

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय अपनी पुस्तक 'सांस्कृतिक भारत' में संस्कृति के बारे में लिखते हैं-"संस्कृति धीरे-धीरे विकसित होती हुई एक कृत्रिम, पर अनिवार्य स्थिति है, जो प्राकृतिक न होकर भी धीरे-धीरे निरन्तर विकसित होती

[1] कला और संस्कृति- वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 09
[2] कला और संस्कृति- वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 03
[3] उद्धरित, भारत का सांस्कृतिक इतिहास- डॉ. राजेंद्र पाण्डेय, पृष्ठ संख्या- 02-03
[4] मानव चक्र- श्री अरविन्द, पृष्ठ संख्या-78
[5] भारतीय संस्कृति- डॉ. देवराज, पृष्ठ संख्या-21

परिस्थितियों के प्रति प्रकृत (स्वाभाविक) हो जाती है ।......तात्पर्य यह है कि जो प्रकृतसिद्ध नहीं मानव-निर्मित है और जिसे मनुष्य अपनी कायिक-मानसिक आवश्यकताओं के लिए बनाता या विकसित करता है, वही संस्कृति है ।"[1]

अनेक पाश्चात्य मनीषियों ने भी संस्कृति को परिभाषित करने का प्रयास किया है जिनमें से कुछ प्रयास निम्नलिखित हैं-

पश्चात्य विद्वान टायलर अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' में संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखते हैं- "संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें- ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा- ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है । अर्थात् संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत है, जिसे मनुष्य जन्म लेने के बाद प्राप्त करता है और समाज की सदस्यता की स्थिति में सीखता है ।"[2] इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति का तात्पर्य उन सारी बातों से है जिसे मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समाज के नाते प्राप्त करता है । इस प्रकार मानव स्वयं पूर्णरूप में संस्कृति की उपज है और दूसरी ओर संस्कृति मानव की कृति है ।

एक अन्य विद्वान रैल्फ़ पिडिंगटन का मत है कि- "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है, जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणि-शास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है ।"[3] इस परिभाषा के अनुसार मानवीय संस्कृति में दो प्रकार की घटनाओं का समावेश होता है, पहली- भौतिक वस्तुएँ, जिन्हें मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त उत्पादित करता है; दूसरी- ज्ञान, परम्परा, मूल्य-बोध आदि अमूर्त घटनाओं का भी समावेश संस्कृति में होता है । संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा परस्पर पूरक होते हैं ।

बिडनी ने लिखा है कि- "संस्कृति कृषि सम्बन्धी प्राविधिक, सामाजिक तथा मानसिक तथ्यों की उपज है ।"[4] इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति में कृषि, प्रौद्योगिकी, समाज, भाषा, धर्म, कला इत्यादि का समावेशन होता है ।

---

[1] सांस्कृतिक भारत- भगवत शरण उपाध्याय, पृष्ठ संख्या- 09

[2] उद्धरित, भारतीय संस्कृति- इकाई-1, डॉ. किरन त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या- 02

[3] उद्धरित, भारतीय संस्कृति- इकाई-1, डॉ. किरन त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या- 02

[4] उद्धरित, भारतीय संस्कृति- इकाई-1, डॉ. किरन त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या- 03

सुप्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री टेलर के अनुसार- "संस्कृति वह समष्टि है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिक गुण, कानून, रिवाज और सामाजिक सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा उपलब्ध अन्य सामर्थ्य व आदतें आती हैं ।"[1]

मैथ्यू अर्नाल्ड के अनुसार- "किसी समाज, राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति है।"[2]

उपरोक्त इन सभी परिभाषाओं के आधार पर हम साररूप में कह सकते हैं कि- संस्कृति एक ऐसा रिक्थ है, जो हमें परम्परा से प्राप्त होता है। समाज का संस्कृति से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। संस्कृति व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया एक सुदीर्घ बौद्धिक प्रयास है। मानव विभिन्न स्थानों पर निवास करते हुए विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिष्ट संस्कृति का सृजन करता है। अगर हम यह कहें की संस्कृति ही हमारे विवेक को चालित करने वाला शक्तिपुंज है तो यह अतिशयोक्ति न होगी। संक्षेप में कहें तो संस्कृति वह पुष्प है जो मानव-विचार रूपी बिरवे पर पुष्पित होता है।

हालाँकि इस व्यक्ति-विवेक को संचालित करने वाले शक्तिपुंज (संस्कृति) को ही देश में विभिन्न स्वार्थी तत्वों द्वारा निर्मूलित करने के प्रयास चलते रहते हैं। संस्कृति को निर्मूलित करने के ऐसे प्रयासों को ही लक्षित करके सुप्रसिद्ध साहित्यकार सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय अपने निबन्ध-संग्रह 'युग संधियों पर' में संकलित एक निबन्ध 'संस्कृति: यहाँ, वहाँ या कब्र में ?' में लिखते हैं-"..... बिना सोचे-समझे और एक झूठे तथा विकृत जनवाद के नाम पर यह स्वीकार कर लिया गया है कि संस्कृति तो एक बुर्जुआ चीज है, बुर्जुआ है इसलिए प्रगति-विरोधी है, अर्थात् अगर समाज को बदलना है, अगर प्रगति में गत्यात्मकता लानी है तो संस्कृति को मिटाना होगा।"[3]

सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायन अज्ञेय, संस्कृति को सम्पूर्ण समाज की थाती, जीवनदायिनी और गौरव की वस्तु मानते हुए बताते हैं कि संस्कृति का धुरा पकड़े बिना प्रगति के सुपथ पर अग्रसरित होना सम्भव नहीं है। वे लिखते हैं- "संस्कृति न तो केवल बुर्जुआ है, न प्रगति-विरोधी है; वह समाज को स्थायित्व देती है तो इसका अर्थ यह

---

[1] भारतीय संस्कृति की रूपरेखा- पृथ्वीकुमार अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 04

[2] उद्धरित, भारत का सांस्कृतिक इतिहास- डॉ. राजेंद्र पाण्डेय, पृष्ठ संख्या- 03

[3] अज्ञेय रचनावली (खण्ड-11)- सम्पादक- कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ संख्या- 233

नहीं है कि वह उसे स्थितिशील बनाती है। संस्कृति एक कब्र नहीं है, वह तो जमीन है, जिस पर पैर टेके बिना प्रगति हो ही नहीं सकती।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि हमारी संस्कृति की भावना का उत्कट नवतारुण्य (रिजुविनेशन) ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सही दृष्टि हमें प्रदान कर सकता है तथा वर्तमान में राष्ट्र के समक्ष आसन्न अनगिनत विपदाओं के समाधान में हमारे सभी प्रयत्नों का सफल दिशा-निर्देश भी कर सकता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आलोचकों द्वारा उसकी इस 'संस्कृति के नवतारुण्य' की अवधारणा को 'प्रतिक्रियात्मक' कहकर आलोचना की जाती है। ऐसे आलोचकों को जवाब देने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी का एक वक्तव्य मौजूँ है, जिसमें वे कहते हैं- "प्राचीन पूर्वाग्रहों, मूढ़ विश्वासों अथवा समाज-विरोधी नीतियों का पुनरुज्जीवन प्रतिक्रियात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि इसका परिणाम समाज का पाषाणीकरण (फॉसिलाइजेशन) हो सकता है, किन्तु शाश्वत एवं उत्कर्षकारी जीवन मूल्यों का नवतारुण्य कभी प्रतिक्रियात्मक नहीं हो सकता। इसे केवल प्राचीन होने के कारण ही प्रतिक्रियात्मक नाम दे देना बौद्धिक दिवालियापन प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अपनी संस्कृति के नवतारुण्य से हमारा आशय उन शाश्वत जीवनादर्शों को पुनः जीवन में उतारने से है, जिन्होंने इन सहस्त्रों वर्षों तक हमारे राष्ट्र-जीवन को पोषित किया और अमरता प्रदान की।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने कार्य का आधार संस्कृति को मानता है। समाज में उसकी ख्याति भी सांस्कृतिक-संगठन के रूप में है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के इस कार्य-आधार या अधिष्ठान को 'सांस्कृतिक' कहने का क्या कारण है ? इसको श्री गुरुजी स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "विशुद्ध संस्कृति को सामने रखकर, उसे अधिक से अधिक तेजस्वी कर, शुद्ध कर, भिन्न-भिन्न भ्रमात्मक विचार हटाकर, शुद्ध राष्ट्र कल्पना के आधार पर विशुद्ध राष्ट्र-जीवन उत्पन्न करने का अपना सांस्कृतिक कार्य है। इसलिए प्रतिज्ञा (संघ की प्रतिज्ञा) में 'हिन्दू-संस्कृति' शब्द आया है। संस्कृति के उत्थान का, जीवन के विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समाज और राष्ट्र के उत्थान का कार्य जो हमने लिया है, उसे इसीलिए 'सांस्कृतिक' कहा है।"[3]

---

[1] अज्ञेय रचनावली (खण्ड-11)- सम्पादक- कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ संख्या- 233

[2] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 35

[3] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड -2, पृष्ठ संख्या- 67

उपरोक्त उद्धरण में 'हिन्दू-संस्कृति' शब्द आया है। वास्तव में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जहाँ भी संस्कृति की बात करता है वह- 'हिन्दू-संस्कृति' शब्द का प्रयोग करता है। क्योंकि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि 'राष्ट्रीय', 'भारतीय' आदि शब्द 'हिन्दू' के ही पर्याय हैं। इसीलिए वह 'राष्ट्रीय संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति' के स्थान पर 'हिन्दू-संस्कृति' शब्द का प्रयोग सर्वत्र करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारक जब 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह विशिष्ट अर्थों से गर्भित होता है। आगे के लेखन में हम बार-बार इस शब्द का अनुप्रयोग करने वाले हैं, इसलिए इस शब्द को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिंतन को स्पष्ट कर देना उचित होगा।

5.2- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'हिन्दू' की अवधारणा-

'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति की बात करें तो एक प्रचलित अवधारणा है, जिसके अनुसार- 'हिन्दू' शब्द, ईरानी लोगों द्वारा दिया गया शब्द है। इसके पीछे तर्क दिया जाता है कि चूँकि ईरानी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, अतएव 'सिन्ध' को उन्होंने 'हिन्द' कहा और वहाँ निवास करने वाली जातियों को 'हिन्दू' कहा। इसी प्रकार लोग 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तान' शब्दों की भी उत्पत्ति बताते हैं। इन शब्दों की 'ईरानी उत्पत्ति' की अवधारणा से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की असहमति है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी के अनुसार- "यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है कि 'हिन्दू' नाम नूतन है अथवा विदेशियों द्वारा हमें दिया गया है।......संस्कृत का 'स' वर्ण कभी-कभी हमारी कुछ प्राकृत भाषाओं में तथा कुछ यूरोपीय भाषाओं में 'ह' में परिवर्तित हो जाता है।.....इसलिए 'हिन्दू' हमारा अपना गौरवशाली नाम है।"[1]

हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार डॉ. रामविलास शर्मा का भी यही मत है। डॉ. रामविलास शर्मा 'हिन्दी' शब्द कैसे बना ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए बताते हैं कि- "ऐसे तमाम शब्द हैं (साल, सादगी, सरगना, सरकार, साजीदन, सुरूर, सख्त आदि) जिनमें ईरानियों ने 'स' के स्थान पर 'ह' का उच्चारण करना आवश्यक नहीं समझा।[2] इसके सिवा 'श' से आरम्भ होने वाले या 'स-श' से युक्त सैकड़ों ऐसे शब्द फ़ारसी में हैं जिनके समानांतर भारतीय भाषाओं के

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 100

[2] डॉ. रामविलास शर्मा बताते हैं कि फ़ारसी में- साल, सादगी, साज़, साग़र, सामान, सब्ज़ा, सिपारिश, सिपाही, सितार, सितम, सर, सर्दी, सरकार आदि- अनेक शब्द हैं जिनमें ईरानियों को 'स' का उच्चारण करने में कोई दिक्कत नहीं होती थी। यही नहीं, वे बताते हैं कि उनके क्रिया-वाचक शब्द भी ऐसे बहुत से हैं, जो 'स' से शुरू होते हैं। जैसे- साज़ीदन (बनाना), सिपुर्दन (सिपुर्द करना), साईदन (पीसना), सबारीदन (हल जोतना), सितादन (खड़े होना) इत्यादि। फ़ारसी में अरबी से बहुत से शब्द आए हैं जो 'स' से शुरू होते हैं, जैसे- साहिल, साअत (सायत), साकिन, सान, सहर, सराय, सफ़र, सिफ़र आदि। इनमें ईरानियों ने 'स' के स्थान पर 'ह' का उच्चारण करना आवश्यक नहीं समझा।(भाषा और समाज- डॉ.रामविलास शर्मा,पृष्ठ संख्या-78)

शब्दों ने 'स-श' का स्थान 'ह' को दे दिया है।[1] इसलिए 'स' या अन्य वर्णों के स्थान में 'ह' का प्रयोग न तो किसी विदेशी भाषा का प्रभाव सूचित करता है, न वह तालव्य ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण करने वाली भाषाओं की ही विशेषता है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि यह प्रवृत्ति संस्कृत शब्दों में ही अपना असर दिखने लगी थी; और वह भी लौकिक संस्कृत में ही नहीं वरन् वैदिक भाषा में भी ।[2] इससे सिद्ध होता है कि 'हिन्द' और 'हिन्दी' शब्दों का निर्माण (इसी आधार पर 'हिन्दू' शब्द का भी) भारत में ही हुआ था।"[3]

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि 'हिन्दू' शब्द किसी विदेशी भाषा का आगत शब्द नहीं है, अपितु भारतीय भाषाओं की कोख से उद्भूत शब्द है।

'हिन्दू' शब्द के सम्बंध में कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीय वाङ्मय में इस भूमि पर निवास करने वाले जन के वाच्यार्थ के रूप में इस शब्द का प्रयोग आठवीं शताब्दी के बाद के ग्रन्थों में मिलता है इसके पूर्व नहीं। हिन्दू शब्द का इसके पूर्व के भारतीय वाङ्मय में उल्लेख न मिलने का कारण हिंदुत्व के चिन्तन की वह दृष्टि रही होगी जिसने- व्यष्टि अर्थात् व्यक्ति, समष्टि अर्थात् समाज, सृष्टि अर्थात् अखिल चराचर जगत तथा इन सबको चालित करने वाली सत्ता परमेष्ठी का समग्र चिन्तन करते हुए सम्पूर्ण जगत के हित का विचार किया। इसलिए किसी एक प्रदेश या देश में रहने वाले मानव समूह को, जिसमें रहकर उन्होंने कार्य प्रारम्भ किया उसे अन्य समूहों से अलग मानकर उसके परिचय के लिए उसका नामकरण करने का विचार उनके मन में न आया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इस सम्बन्ध में संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे 'श्री गुरुजी' कहते हैं- "हिन्दुओं का अस्तित्व उस काल से है जब उनको किसी नाम की आवश्यकता ही नहीं थी। संभव है उस समय शेष मानवता द्विपाद पशु रही हो। इसलिए हमें कोई अलग से नाम नहीं

---

[1] सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने कश्मीरी भाषा में 'ह' ध्वनि की अधिकता पर ध्यान दिया था। वहाँ शरद् हरुद् है, शाक हाख है, श्वसुर हिहुर है, कृष्ण कृहनु है, शलभ हालव है, श्याम होमु है, शमन हमुन है, शत हथ है इत्यादि। डॉ. रामविलास शर्मा सुप्रसिद्ध भाषाविद् सुनीति कुमार चाटुर्ज्या को उद्धरित करते हुए लिखते हैं- "'राजस्थानी भाषा' नाम से संकलित अपने भाषणों में श्री चाटुर्ज्या ने कहा है कि राजस्थान की कुछ बोलियों में च्, छ्, ज्, झ् - इन तालव्य ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण सुनाई देता है। जिन बोलियों में ऐसा दन्त्य उच्चारण आता है, उनमें साथ ही साथ 'स' की ध्वनि 'ह' हो जाती है।...ऐसा उच्चारण और 'स' का 'ह' भाव पूर्व बंग की बांग्ला भाषा में तथा आसामी में मिलते हैं। दन्त्य उच्चारण नेपाली (गोरखाली) तथा कुछ अन्य हिमाली बोलियों में भी पाया जाता है। राजस्थानी से सम्बन्धित गुजराती की कुछ उपभाषा या प्रान्तिक रूप (जैसे- सूरती गुजराती) में भी दन्त्य उच्चारण तथा 'स'- का 'ह'- भाव आता है।....पूर्वी बोलियों में 'मस्जिद' का 'महजिद' रूप प्रचलित है, जो एक आन्तरिक ध्वनि प्रवृत्ति का द्योतक है। (भाषा और समाज- डॉ. रामविलास शर्मा, पृ.सं.- 79-80)

[2] सर्वनाम 'अहम्', 'अस्मद्' का एक रूप है। जब तक 'स्' 'ह्' मैं परिवर्तित न हो, तब तक 'अस्मद्' से 'अहम्' का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।.....वैदिक भाषा में एक धातु है- 'ग्रभ्'। ऋग्वेद के उन सूक्तों में, जिन्हें प्राचीन माना जाता है, 'ऋ' के बाद आने वाले 'भ्' का 'ह्' रूप होता है, जैसे- 'हस्तगृह्य' में। 'हस्तग्राभ' में यह परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु दसवें मण्डल में प्राचीन रूप 'जग्राभ' का स्थान 'जग्राह' ले लेता है। आज्ञा मध्यम पुरुष एकवचन का 'धि' चिन्ह बाद के मण्डलों में 'हि' रूप धारण करता दिखाई देता है। वैदिक भाषा में 'दद्धि और देहि', 'नद्ध और नह्' , 'भवामसि और भवामहे' जैसे रूप इस सत्य को प्रकट करते हैं।(भाषा और समाज- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या- 80-81)

[3] भाषा और समाज- डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ संख्या- 78-81

दिया गया था। जब कुछ समय बीतने पर विदेशों में भिन्न सभ्यताओं का उदय हुआ और वे हमारे सम्पर्क में आ गयीं तब उनको हमारे लिये नामकरण की आवश्यकता का अनुभव हुआ।"[1]

'हिन्दू' शब्द का सबसे पहला जिक्र विशालाक्ष शिव द्वारा लिखित 'बार्हस्पत्य शास्त्र' में मिलता है। इसके अलावा वाराहमिहिर द्वारा लिखित 'वृहत्संहिता' में भी इसका उल्लेख किया गया है, तथा बृहस्पति आगम में भी इस शब्द का उल्लेख है।[2] 'हिन्दू' शब्द की मीमाँसा अनेक ग्रन्थों में की गयी है-

शब्द-कल्पद्रुम-कोश के अनुसार-

"हीनं दूषयति इति हिन्दूः।"[3] अर्थात् जो हीनता को स्वीकार न करे, वह हिन्दू है।

रामकोष नामक ग्रन्थ में हिन्दुओं की विशेषता बताते हुए लिखा गया है कि-

"हिन्दू: दुष्टो न भवति नानार्यो न विदूषकः।
सद्धर्मपालको विद्वान् श्रौतधर्मपरायण: ॥"[4]

अर्थात् हिन्दू न तो दुष्ट होता है, न विदूषक, न अनार्य। वह सद्धर्म पालक, वैदिक धर्म को मानने वाला विद्वान होता है।

अद्भुत-कोश में 'हिन्दू' की वीरता-व्यंजक परिभाषा दी गयी है-

"हिन्दुर्हिन्दूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां विधर्षणे।"[5]

अर्थात् हिन्दु और हिन्दू ये दोनों शब्द दुष्टों को विधर्षित करने वाले अर्थ में प्रसिद्ध हैं।

स्वातंत्र्य वीर सावरकर के अनुसार- वे सभी लोग हिन्दू हैं जो सिंधु नदी से लेकर आसमुद्र विस्तृत भू-भाग में बसते हैं एवं जो भारत को अपनी पितृ-भूमि तथा तीर्थ मानते हैं-

"आसिन्धुसिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिकाः।

---

[1] हिन्दू राष्ट्र श्री -भ्रम और सत्य :राम साठे, पृष्ठ संख्या -24-25

[2] कैसे हुई हिन्दू शब्द की उत्पत्ति ? सिन्धु से सम्बन्ध नहीं,यहाँ हुआ सबसे पहले जिक्र- https://zeenews.india.com/hindi/india/how-did-the-word-hindu-originate-know-history-facts/1433826

[3] उद्धरित, संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या- 83

[4] उद्धरित, संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या- 83

[5] उद्धरित, संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या- 83

पितृभू: पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरितिस्मृतः ।।"

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी 'हिन्दू' शब्द की परिभाषा के लिए बृहस्पति आगम के एक श्लोक को उद्धरित करते हैं, जिसके अनुसार- 'हिन्दु' शब्द का 'हि' हिमालय से तथा 'न्दु' इन्दु सरोवर (दक्षिण सागर) से लिया गया है। इस प्रकार यह शब्द हमारी मातृभूमि के सम्पूर्ण विस्तार को सम्प्रेषित करता है-

"हिमालयं समारभ्य यावत् इन्दु सरोवरम्।

तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थान प्रचक्ष्यते ।।"[1]

अर्थात् देवताओं द्वारा निर्मित वह देश जो हिमालय से प्रारम्भ होकर इन्दु सरोवर अर्थात् दक्षिण सागर तक फैला हुआ है- 'हिन्दुस्तान' कहलाता है।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि- हिमालय के दक्षिण और हिन्द महासागर के उत्तर के मध्य अवस्थित विशाल भू-भाग पर निवास करने वाली जनता 'हिन्दू' है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जब 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग करता है तो उसका अर्थ समाज में प्रचलित 'हिन्दू' (धर्म विशेष के अनुयायी) शब्द से तनिक भिन्न होता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के अनुसार- "जो हिन्दुस्तान में रहते हैं, हिन्दुस्तान को भारत माता मानकर उसकी भक्ति करते हैं, जो इस देश की परम्परा रही है- विविधता में एकता की- उस पर चलने का आग्रह रखते हैं और जो इसके पूर्वजों का गौरव मन में लेकर चलते हैं, वे सारे के सारे हिन्दू हैं। भले ही वे पूजा किसी भगवान की करें या न करें।"[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक अन्य विचारक मोरेश्वर गणेश तपस्वी के अनुसार- "यह मेरा राष्ट्र है कहते ही- इस राष्ट्र का समूचा इतिहास, सारी परम्परा, सभी महापुरुष मेरे हैं- इस गर्व से जिसका सीना फूल जाता है, वह हर व्यक्ति हिन्दू है। भले ही वह किसी भी देवता को मानता हो या न मानता हो, पूजता हो या न पूजता हो; अपने देवता की आराधना वह हाथ जोड़कर करता है अथवा आकाश की दिशा में अपने दोनों हाथों की खुली अंजलि में बाँधकर करता है, इसका कोई महत्व नहीं है। वह साष्टांग नमस्कार करता है या घुटनों के बल बैठकर अपने प्रभु की प्रार्थना

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 100

[2] यशस्वी भारत- मोहन भागवत, पृष्ठ संख्या- 31

करता है, सगुण का उपासक है या निर्गुण का, वह ईश्वरवादी है या अनीश्वरवादी- इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत प्रत्येक व्यक्ति हिन्दू ही है।"[1]

स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का 'हिन्दू' शब्द से तात्पर्य केवल 'हिन्दू धर्म' को मानने वालों तक ही सीमित नहीं है, अपितु हिन्दू धर्म से इतर भी विभिन्न- मत, पन्थ, सम्प्रदायों के अनुयायियों को भी 'हिन्दू' माना गया है, बशर्ते वे इस देश की संस्कृति, यहाँ के आदर्शों और मातृभूमि के प्रति निष्ठा रखते हों।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा निरन्तर 'हिन्दू' शब्द पर बल देने के कारण उसके दृष्टिकोण पर संकीर्ण और साम्प्रदायिक होने के आरोप लगते हैं। एक बार जब पण्डित नेहरू, श्री गुरुजी से मिले तो उन्होंने भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर यही आरोप लगाया था।[2] हालाँकि जब श्री गुरुजी ने पण्डित नेहरू के इस आरोप का जवाब दिया तो वे पूरी तरह संतुष्ट हो गये और श्री गुरुजी के मत से अपनी सम्मति जताई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि 'हिन्दू' शब्द अपने साथ भारत-भूमि के समस्त महान जीवनों, उनके कार्यों और आकांक्षाओं की मधुर गंध समेटे हुए है। इस प्रकार यह एक ऐसा शब्द बन जाता है, जो संघ-रूप से राष्ट्र की एकात्मता, औदात्य और विशेष रूप से हमारे जन-समाज को व्यंजित करता है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि हिन्दू-समाज को संगठित करना वास्तव में राष्ट्र-कार्य है, क्योंकि हिन्दुत्व केवल हिन्दुस्तान में ही राष्ट्रीयत्व है।[3] इस मान्यता के कारण स्वाभाविक रूप से हिन्दू-समाज के परिवर्धन के

[1] राष्ट्राय नमः- मोरेश्वर गणेश तपस्वी, पृष्ठ संख्या- 43

[2] जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी, पंडित नेहरू से मिले तो, पंडित नेहरू ने श्री गुरुजी से कहा- 'आप लोग बार-बार हिन्दू-हिन्दू का राग क्यों अलापते रहते हो ? ऐसा करके आप स्वयं को केवल अपनी ही चारदीवारी में बंद कर लेते हो और बाह्य विश्व की ताजा हवा के झकोरों को अन्दर आने से रोक देते हो। बाह्य विश्व से हमें अलग कर देने वाली कोई भी दीवार अभीष्ट नहीं है। हमें इस प्रकार के सभी समय-बाह्य व्यवधानों को ध्वस्त कर देना चाहिए। श्री गुरुजी कहते हैं पंडित नेहरू एक महान पुरुष थे और महान भावनाओं से आविष्ट होकर बोला करते थे। मैंने शान्ति के साथ उत्तर दिया- 'मैं आपकी इस बात से पूर्ण सहमति व्यक्त करता हूँ कि हमें सभी दिशाओं से आने वाली ताजी वायु का स्वागत करना चाहिए। हमें अनेक देशों में चल रही विभिन्न विचारधाराओं के सम्पर्क में आना चाहिए और उनको समझना चाहिए, उनका सूक्ष्म परीक्षण करके उसमें से जो कुछ हमारे लिए लाभदायक है, उसे आत्मसात् करना चाहिए, परन्तु ऐसा करने के लिए क्या यह आवश्यक है कि हम अपने घर की दीवारों को ध्वस्त कर लें और अपनी छत को अपने सिर पर गिरा लें ? इसके विपरीत क्या ऐसा करना बुद्धिमत्ता न होगी कि हम अपने भवन को अक्षुण्ण रखें और बाहर की वायु आने के लिए अपने द्वार और खिड़कियाँ खोल दें ? मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि उदार-हृदयता को यदि व्यावहारिक सीमा से अधिक तूल दिया जाएगा, तो वह हमारी राष्ट्रीय-अस्मिता को समाप्त कर देगी। मेरा निवेदन यह है कि हमारा यह तथाकथित संकीर्ण दृष्टिकोण हमारे राष्ट्र को वह सामर्थ्य प्रदान करेगा जिससे हम बाह्य विश्व के दृष्टिकोण में जो कुछ हमारे लिए अभीष्ट है, उसे पचा सकें। इस पर पंडित नेहरू ने कहा- 'ठीक है, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि किसी भी उद्देश्य-प्राप्ति के लिए संकल्पित प्रयत्नों को करने के लिए इसी प्रकार का दृढ़ निश्चय आवश्यक है। श्री गुरुजी कहते हैं- 'मैंने उनका इस बात के लिए धन्यवाद किया कि उन्होंने कम से कम इतना तो स्वीकार किया। ('विचार नवनीत'- माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 100-101)

[3] राष्ट्राय नमः- मोरेश्वर गणेश तपस्वी, पृष्ठ संख्या- 43

लिए किया जाने वाला प्रत्येक कार्य राष्ट्रीय कार्य हो जाता है। 'हिन्दुत्व राष्ट्रीयत्व है'- यह धारणा डॉ. हेडगेवार द्वारा स्थापित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का वैचारिक अधिष्ठान है। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नामकरण के समय उसे 'हिन्दू स्वयंसेवक संघ' या 'भारतीय स्वयंसेवक संघ' नाम न देकर उसे 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' का नाम दिया गया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विभिन्न विचारकों का मानना है कि- "अपने देश में राष्ट्रीयता हेतु सभी आवश्यक तत्वों की पूर्ति 'हिन्दू-समाज' के जीवन में हो जाती है, अतः हिन्दू-समाज का जीवन 'राष्ट्रीय जीवन' है। संघ का यह भी मानना है कि व्यावहारिक रूप से 'राष्ट्रीय', 'भारतीय' तथा 'हिन्दू' शब्द पर्यायवाची हैं।"[1]

वर्ष 1938 ई. में जलगाँव में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने वहाँ की स्थानीय पत्रिका 'प्रगति' के संपादक 'श्री जोशी' द्वारा पूछे गये एक प्रश्न का उत्तर देने के क्रम में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा व्यवहृत 'हिन्दू' शब्द का मंतव्य विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया था। डॉ. हेडगेवार के अनुसार- "हिन्दू किसी विशिष्ट पूजा-पद्धति का नाम नहीं है। वह किसी सम्प्रदाय विशेष का भी नाम नहीं है। हिन्दू को उसके परिधान से पहचाना नहीं जा सकता। हिन्दू का कोई खास परिधान भी नहीं है। अतः अमुक एक पद्धति से परिधान धारण करने वाला हिन्दू है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उसी प्रकार खान-पान से, भाषा से भी हिन्दू को परिभाषित नहीं किया जा सकता है। हिन्दुओं का अपना कोई खास बाह्य लक्षण नहीं है। चंदन-टीका लगाने वाला या न लगाने वाला, शिखा रखने वाला या न रखने वाला; सब कोई हिन्दू है। हिन्दू किसी जाति या सम्प्रदाय का नाम नहीं, यहाँ की राष्ट्रीय जीवन-पद्धति का नाम है।"[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जिस 'हिन्दू' की बात करता है, वह विशिष्ट अर्थों से युक्त होता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा प्रयुक्त इस 'हिन्दू' शब्द के सम्बन्ध में उसके आलोचकों द्वारा अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न करने के प्रयास किये जाते हैं। उनके द्वारा- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा प्रयुक्त इस शब्द (हिन्दू) को भारत-भूमि पर निवास करने वाले विभिन्न मत, पंथ, सम्प्रदायों के अनुयायियों मसलन- मुस्लिम, ईसाई, सिख, जैन, पारसी आदि- का विरोधी बताया जाता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि इस प्रकार की बात कहने वाले ऐसा नहीं है कि उन्होंने धर्म, संस्कृति, इतिहास का अध्ययन कर ऐसी बात कही हो, अपितु वे जानकारी के अभाव में ऐसी बातें

---

[1] विषय बिन्दु- पृष्ठ संख्या- 15

[2] राष्ट्राय नमः- मोरेश्वर गणेश तपस्वी, पृष्ठ संख्या- 44

करते हैं। इसमें उनके कुछ राजनीतिक स्वार्थ निहित होते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी, संघ पर लगाए जा रहे इस प्रकार के आक्षेपों का जवाब 29 अक्टूबर 1972 ई. के एक बौद्धिक-व्याख्यान में देते हुए कहते हैं- "हिन्दू विचारधारा और जीवन-पद्धति इस देश में उसे समय से विद्यमान है, जब इस्लाम और ईसाई सम्प्रदाय दुनिया में थे ही नहीं। तब उनसे (इस प्रकार के आक्षेप लगाने वालों से) कोई पूछे कि 'हिन्दू' का अर्थ इन सम्प्रदायों का विरोधी कैसे हो गया ? उसी प्रकार सिख और जैन आदि मत तो 'हिन्दू' के अंतर्गत ही आते हैं। 'हिन्दू' कहने से इनका विरोध करने की भावना का अर्थ तो अपने ही हाथ-पैर काट लेने जैसी बात है। तब 'हिन्दू' का अर्थ इनके विरोध का कैसे हो गया ? नि:संदेह ये सब आक्षेप क्षुद्र मनोवृति से उत्पन्न होने वाले भ्रमों के परिणाम हैं। इनमें सत्यता कदापि नहीं। ये सब गलत बातें हैं। 'हिन्दू' किसी का विरोधी नहीं। यह पूर्ण रीति से भावात्मक विचारधारा है, निषेधात्मक कदापि नहीं।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा 'हिन्दू' शब्द-प्रयोग करने पर, उसके विरोधियों द्वारा उस पर विविध आक्षेप लगाए जाने से हिन्दू समाज के ही कुछ लोग व्यथित होकर राष्ट्र-जीवन के पर्यायी इस शब्द को किसी अन्य पर्यायी-शब्द से बदल देने की बात करते हैं। यही सुझाव 'R.S.S. : Myth And Reality' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक के लेखक दीनानाथ मिश्रा भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को देते हैं। वे लिखते हैं - "However,I feel that the moment the word 'Hindu' is replaced by the word 'Indian', non-Hindus would immediately accept the Sangh or at least the opposition may lose its severity so some extent."[2]

इस प्रकार के सुझावों के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी कहते हैं- "इस राष्ट्र-जीवन को किसी अन्य पर्यायी शब्द से बोलने के लिए लोग सलाह देते हैं, परन्तु क्या पर्याय बदल देने से मूल अर्थ बदलेगा ? जैसे हमारे आर्यसमाजी बन्धु कहते हैं कि 'आर्य' कहो। 'आर्य' का भी मतलब वही निकालेगा। कुछ लोग 'भारतीय' शब्द का प्रयोग करने की बात कहते हैं। 'भारत' को कितना ही तोड़-मरोड़ कर कहा जाये तो भी

[1] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड -2, पृष्ठ संख्या- 282
[2] R.S.S. : Myth And Reality-Dina Nath Mishra, Peg.No.- 201

उसमें अन्य कोई अर्थ नहीं निकल सकता। अर्थ केवल एक ही निकलेगा- 'हिन्दू'। तब क्यों न 'हिन्दू' शब्द का ही असंदिग्ध प्रयोग करें। सीधा-साधा प्रचलित शब्द 'हिन्दू' है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ- 'हिन्दू' शब्द को भारतीय, राष्ट्रीय आदि शब्दों के पर्यायी रूप में यहाँ पर निवास करने वाली सम्पूर्ण जनता के वाचक के रूप में करता है।

5.3- 'हिन्दू-संस्कृति' ही 'भारतीय-संस्कृति'-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि, चूँकि 'हिन्दू', 'भारतीय' तथा 'राष्ट्रीय' शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं, इसलिए वह भारत देश की संस्कृति को 'हिन्दू-संस्कृति' के नाम से अभिहित करने का पक्षधर है। जैसा कि पूर्व में भी यह उल्लिखित किया जा चुका है कि- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों को दिलायी जाने वाली 'प्रतिज्ञा' में वह स्वयंसेवक 'हिन्दू-संस्कृति' के संरक्षण का संकल्प लेता है। सिर्फ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ही नहीं अपितु कई अन्य विद्वान भी 'भारतीय-संस्कृति' को 'हिन्दू-संस्कृति' कहे जाने के पक्षधर हैं।

सी. राजगोपालाचारी के अनुसार- "हिन्दू-संस्कृति, भारतीय-संस्कृति है और भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण जगत की संस्कृति है। किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है। विचार, वाणी एवं क्रिया के जिस आदर्श को हिन्दू-संस्कृति के नाम से पुकारा जा सकता है, उसका स्वरूप है उपनिषदों एवं इतिहासों में दिये हुए उपदेशों के अनुकूल जीवन बनाना।"[2]

उपरोक्त उद्धरण में सी. राजगोपालाचारी जी हिन्दू-संस्कृति के जिस रूप की बात कर रहे हैं, उसको निर्मित करने हेतु जिन आदर्शों एवं शिक्षाओं (उपदेशों) का अनुकरण करने की बात कर रहे हैं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी उन्हीं जीवनदायी लक्षणों के अवगाहन की बात करता है।

भारत भूमि पर निवास करने वालों में हिन्दुओं की संख्या सर्वाधिक है। इसी भू-भाग पर वैदिक और पौराणिक काल से लेकर वर्तमान काल तक विभिन्न महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनायें घटित हुई साथ ही अनेक महनीय व्यक्तित्वों का कार्य-क्षेत्र भी यही भू-भाग रहा। यहाँ निवास करने वालों को अनेक समान अनुभूतियों का अनुभव करना पड़ा है।

---

[1] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड -2, पृष्ठ संख्या- 282

[2] कल्याण 'हिन्दू-संस्कृति-अंक', गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ संख्या- 84

इन अनुभवों से जो संस्कार बने हैं, लोगों के विचार जैसे साँचों में ढले हैं, उनका द्योतन यहाँ की संस्कृति में होता है। प्रादेशिक भाषाएँ भी एक ही प्रकार के भाव से स्फूर्ति पा रही हैं- इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि तुलसी, मीरा, कबीर, नरसी मेहता, रामदास, तुकाराम, रामानंद, प्रेमचंद, रवींद्रनाथ ठाकुर आदि को सारा देश अपना मानता है। इन सब की वाणी में प्रत्येक भारतीय अपने हृदय-स्पंदन की प्रतिध्वनि का अनुभव करता है।

इस भारत भूमि पर हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य मत-पंथावलम्बी (मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि) भी निवास करते हैं। ये लोग यहीं के मूलत: निवास करने वाले हैं, परन्तु विभिन्न ऐतिहासिक वजहों से इन्हें अन्य मत-पंथों (उन मत-पंथों में जिनका जन्म भारत-भूमि से बाहर हुआ था) में मतांतरित होना पड़ा। इनके धार्मिक मत व विचार भारत-भूमि के बाहर अन्य देशों से आये हैं और दीर्घ काल तक उन विचारों को अपनाने के कारण उन देशों की छाप उनके अनुयायियों पर पड़े बिना नहीं रह सकती। लेकिन चूँकि उनके पूर्वज 'हिन्दू' थे और वे हिन्दुओं के बीच में रहते हैं- इसलिए बहुत सी ऐसी बातें हैं जिसमें हिन्दुओं से उनकी समता है। साथ ही उनका कुछ प्रभाव उनके पड़ोसी हिन्दुओं पर भी पड़ा है। इस प्रकार सैकड़ों वर्षों में एक मिली-जुली संस्कृति बन गयी, पर इसकी प्रधान धारा वही है जो, आर्य जीवन के आदि-पुरुषों, वेद के शब्दों में- 'न: पूर्वे पितरः', प्राचीन ऋषियों और मुनियों के समय से चली आती है। बीच-बीच में जब यह धारा मंद पड़ने लगी तो महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, शंकराचार्य, स्वामी चैतन्य, गुरु नानक, तुलसीदास, सूरदास, विवेकानंद, दयानंद आदि महापुरुषों ने इसके प्रवाह को प्रबल किया। संस्कृति के इस अजस्र प्रवाह में कई सहायक छोटी-छोटी धारायें मिली हैं। जिनका उत्स भारत-भूमि से बाहर है, परन्तु मुख्यधारा तो एक ही है, जो भारत-भूमि से उद्गमित है। यह धारा हिन्दू-संस्कृति की धारा है। इसी भाव को डॉ. संपूर्णानंद ने अपने एक आलेख में व्यक्त किया है, वे लिखते हैं- "इस (भारत-भूमि की) मिली-जुली संस्कृति को 'भारतीय संस्कृति' कहना सर्वथा उपयुक्त होगा, परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका ताना वही है जिसे 'आर्य' या 'हिन्दू' नाम से उपलक्षित किया जा सकता है। बाने के सूत इधर-उधर से आये हैं, पर वे सब ताने पर आश्रित हैं। गंगा में बहुत-सी छोटी-बड़ी नदियाँ मिली हैं; परन्तु मिलने पर जो पयस्विनी बनती है, वह गंगा ही कही जाती है। इस न्याय से- 'भारतीय संस्कृति' को 'हिन्दू-संस्कृति' भी कह सकते हैं। भारत के बाहर जब लोग भारतीय संस्कृति का नाम लेते हैं तो निश्चय ही उनका

संकेत इस संस्कृति की मुख्यधारा की ओर ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार भारतीय दर्शन की चर्चा करने वाले के सामने सांख्य, योग, वेदांत आदि हिन्दू-दर्शन होते हैं।"[1]

श्री दीनानाथ मिश्रा का भी यही मानना है; वे लिखते हैं- "When one uses the expression 'Indian Culture' one generally means 'Hindu Culture'. The composite Indian culture which is the subject of debate is no other than the mainly Hindu culture".[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा यह कहना कि 'हिन्दू-संस्कृति' ही 'भारतीय संस्कृति' है कोई बेजा बात नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी कहते हैं – "अगर कोई 'मुस्लिम राष्ट्रीय मंच'(राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का अनुसांगिक संगठन) है तो वहाँ भारत माता की आरती होगी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यह बिलकुल स्वाभाविक बात है। क्योंकि इबादत से मुसलमान होंगे, राष्ट्रीयता से तो हिन्दू हैं, भारत माता के पुत्र हैं। इसीलिए हम हिन्दू समाज हैं।"[3] स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत-भूमि पर निवास करने वाले प्रत्येक निवासी को- भले ही वह किसी भी मत, पंथ का अनुयायी क्यों न हो- हिन्दू मानते हुए (बशर्ते उनकी इस मातृभूमि, यहाँ के पुरखों व आदर्शों के प्रति निष्ठा हो) उनके द्वारा व्यवहृत संस्कृति को विराट 'हिन्दू-संस्कृति' का ही अंग मानता है।

5.4- हिन्दू-संस्कृति की आत्मा-

स्वामी विवेकानंद के अनुसार- चिर-महान हिन्दू-संस्कृति अजर-अमर है, क्योंकि उसका अधिष्ठान शाश्वत है, अमर है, और उसका यह अधिष्ठान 'आध्यात्मिकता' है।[4] हिन्दू देहात्मवादी नहीं है। वह अध्यात्मवादी है। उसकी

---

[1] कल्याण 'हिन्दू-संस्कृति-अंक', गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ संख्या- 92

[2] R.S.S. : Myth And Reality-Dina Nath Miahra, Peg.No.- 200

[3] यशस्वी भारत- मोहन भागवत, पृष्ठ संख्या- 31

[4] वे लिखते हैं- "वे (हिन्दू लोग) जानते हैं कि इस भौतिक सृष्टि के मूल में वह सत्य और दिव्य आत्म-तत्व निहित है, जिसे कोई पाप कलुषित नहीं कर सकता, कोई दुर्वासना गंदा नहीं कर सकती।...... उनकी दृष्टि में मनुष्य की यह परा-प्रकृति-आत्मा उतना ही सत्य है जितना की एक पाश्चात्य व्यक्ति की इंद्रियों के लिए कोई भौतिक पदार्थ। इसी विचारधारा में वह शक्ति निहित है, जिसने उनको शताब्दियों के उत्पीड़न और वैदेशिक आक्रमण या अत्याचार के बीच अजेय रखा है। आज भी राष्ट्र जीवित है और उस राष्ट्र में भयंकर से भयंकर विपत्ति के दिनों में भी आध्यात्मिक महापुरुष कभी उत्पन्न होने से नहीं चूके हैं। सैकड़ों वर्षों तक लहरों-पर-लहरें प्रत्येक वस्तु को तोड़ती-फोड़ती हुई देश को आप्लावित करती रही हैं; तलवार चली है और अल्लाह-हू-अकबर के गगनभेदी नारे लगे हैं; किन्तु वे बाढ़ें चली गईं और राष्ट्रीय आदर्शों में परिवर्तन न कर सकीं। हजार वर्षों के असंख्य कष्ट और संघर्षों में यह हिन्दू जाति मर क्यों न गई ? यदि हमारे आचार-विचार इतने अधिक खराब हैं तो क्योंकर हम लोग अब तक पृथ्वी पर से मिट न गए ? क्या भिन्न-भिन्न वैदेशिक आक्रांताओं ने हमें कुचल डालने में किसी बात की कमी रखी ? तब क्यों न हिन्दू बहुत से अन्य देशों की (जातियों की) भांति समूल नष्ट हो गए ? भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता। अमर है वह और

दृष्टि में देहाध्यास, अज्ञानमूलक होता है। अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा संस्कार आदि के कारण 'हिन्दू' इस बात का हार्दिक विश्वास रखता है कि- 'इस दृश्यमान स्थूल जगत के मूल में, इसके प्रत्येक कण-कण में, एक अद्वितीय, पूर्ण, अनादि और अनंत, नित्य, अविनाशी आत्मा है और वही मैं हूँ-

"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" (यजुर्वेद, 40/26)

हिन्दू-संस्कृति का दृष्टिकोण समन्वय-प्रधान है। 'समन्वय' हिन्दुत्व की सबसे बड़ी विशेषता है। विभिन्नता में एकता की पहचान हिन्दू-संस्कृति का प्रयत्न रहा है। एकत्व का आग्रह बहुत्व का नाश करके- हिन्दू-संस्कृति को ईष्ट नहीं है। बहुलता से ही 'एकत्व' को महिमा प्राप्त होती है, ऐसा हिन्दू-संस्कृति का मानना रहा है-

"एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।" (ऋग्वेद, 1/164/46)

अर्थात्- 'सत्य एक है, विद्वान उसका विविध प्रकार से बखान करते हैं।' इस सुन्दर भाव को व्यक्त करने के लिए सामान्यतया 'सहिष्णुता' शब्द का प्रयोग (लोगों द्वारा) किया जाता है। परन्तु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी इस शब्द (सहिष्णुता) के प्रयोग को उचित नहीं मानते। उनके अनुसार उक्त श्लोक के भाव को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त यह शब्द ('सहिष्णुता') अत्यन्त हल्का है, यह तो सहन करने मात्र का भाव व्यक्त करने के लिए एक शब्द है। वे लिखते हैं- " इस शब्द में 'अहं' का भाव है, जिसमें दूसरों के दृष्टिकोण को मात्र सहन करना है, किन्तु उनके लिए कोई प्रेम अथवा सम्मान का भाव नहीं है। परन्तु हमारी शिक्षा- अन्य विश्वासों एवं दृष्टिकोण को इस रूप में सम्मान करने तथा स्वीकार करने की रही है कि- वे सब एक ही सत्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि प्रत्येक सत्यान्वेषी व्यक्ति, जिसके पास अपना सत्य है, जो यद्यपि अपूर्ण है, परन्तु वे सभी अपूर्ण सत्य समष्टिगत रूप में उपस्थित होकर एक सर्वांगपूर्ण समाज का निर्माण कर सकते हैं। अतएव व्यक्ति की अपूर्णताओं से उत्पन्न विषमतायें केवल उस एक महान सत्य अर्थात् समाज की नानाविधि अभिव्यक्तियाँ ही हैं। श्री गुरुजी के अनुसार- "प्रत्येक व्यक्ति में दिव्यता का बोध हमारे राष्ट्रीय जीवन के विविध घटक अंशों तथा धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हो चुका है तथा उन्हें ऐसे अविरोध प्रतिमान के

उस वक्त तक अमर रहेगा जब तक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप में रहेगी, जब तक कि उसके लोग आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ेंगे।"(उद्धरित, कल्याण 'हिन्दू-संस्कृति-अंक', गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ संख्या- 229)

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 39-40

रूप में घटित कर दिया है, जिसमें एक-दूसरे के प्रति सद्भाव एवं सम्मान बना रहे। आत्मा की यह सार्वलौकिकता विश्व के चिन्तन क्षेत्र में हमारी संस्कृति की एक नितांत अनोखी देन है।"[1]

5.5- हिन्दू-संस्कृति- 'सेवा-भाव'-

महर्षि वेदव्यास सम्पूर्ण पुराणों का सार एक श्लोक में अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं-

"अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।"(विष्णुपुराण)

अर्थात् महर्षि व्यास के अनुसार- 'सम्पूर्ण पुराणों की सीख का निचोड़ दो ही वाक्यों में है- परोपकार (दूसरों की भलाई करने) से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है और दूसरों को कष्ट देने (परपीड़न) से बढ़कर कोई पाप कर्म नहीं है।'

यही हिन्दू-संस्कृति की सीख है। दूसरों की सेवा, समाज के सभी प्राणियों के प्रति सद्भाव, हिन्दू-संस्कृति की विशिष्ट पहचान है। 'नर में नारायण' और 'जनता में जनार्दन' को देखने की विशिष्ट दृष्टि हिन्दू-संस्कृति से ही अद्भूत हुई है, जिसने हिन्दू चिन्तन को परिव्याप्त कर उसके सांस्कृतिक-दाय की विविध अनुपम कल्पनाओं को जन्म दिया है। यह दृष्टि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को 'परमात्मा' के एक अंश के रूप में देखने की प्रेरणा देती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि जब हमारी संस्कृति ही 'नर में नारायण दर्शन' की बात करती है, तो इस आधार पर समाज के सभी जन समान भाव से पवित्र, पूज्य एवं हमारी सेवा के योग्य हैं। अतएव उनके बीच भेदभाव का कोई भी विचार निन्दनीय है। इस प्रकार समाज-सेवा की भावना को हमारी संस्कृति में ईश्वर की पूजा का पवित्र रूप दे दिया गया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी के अनुसार- "यदि एक बार सच्ची सेवा-भावना हमारे जीवन में प्रवेश कर जाती है, तब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि हमारी व्यक्तिगत और पारिवारिक सम्पत्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो वास्तव में हमारी नहीं है। यह तो समाज देवता की पूजा के लिए उपकरण मात्र है। तब हमारा सम्पूर्ण जीवन समाज की सेवा के लिए एक उपहार हो जायेगा ।"[2] यह सीख हिन्दू-संस्कृति की ही देन है। वर्तमान

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 40
[2] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 38

समय में जब दुनिया सिर्फ और सिर्फ अपने ही बारे में सोच रही है, तब हिन्दू-संस्कृति का यह उद्घोष अत्यन्त प्रासंगिक है-

"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥" (यजुर्वेद, 40/1)

अर्थात् हे मानव ! इस विशाल परिवर्तनशील विश्व में जो कुछ गति-विधि है, उस सब पर परमेश्वर का नियन्त्रण है।(यह जगत उस परमपिता का अपूर्व वरदान है।) इस वरदान का तू उपभोग कर, (इस वरदान पर सभी का समान अधिकार है, अतः) किसी अन्य के भाग को भोगने का लोभ न रख।

दूसरों की हक़मारी न करने का संदेश देने के साथ ही हिन्दू-संस्कृति का यह भी आग्रह है कि अपने द्वारा अर्जित धन का समाजरूपी ईश्वर के अर्चन में यथासम्भव उपयोग करें। स्वयं द्वारा संग्रहीत संपत्ति में से हमें अपने लिए मात्र उतना ही उपभोग करना चाहिए, जितना करना अत्यावश्यक हो। उससे अधिक अपने पर व्यय करना निश्चय ही समाज की चोरी का कार्य है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

"यावत् भ्रियेत जठरं तावत् सत्वं हि देहीनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥"(श्रीमद्भागवत, 7/18/8)

अर्थात् शरीर की स्थिति के लिए जितना अत्यन्त आवश्यक है, उतने पर ही मनुष्य का अधिकार है। जो अधिक ग्रहण करता है, वह चोर है तथा दण्ड का भागीदार है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भी यही विचार है। उसका मानना है कि हमारे द्वारा अर्जित जो कुछ भी है, वह सब कुछ समाज की अर्चना का ही उपकरण है। श्री गुरुजी के शब्दों में कहें तो- "हम समाज की संपत्ति के संरक्षक (ट्रस्टी) मात्र हैं। हम उत्तम रीति से समाज-सेवा तभी कर सकते हैं, जब सच्चे रूप में उसकी धरोहर के संरक्षक हो जाते हैं।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय संस्कृति के बीज मंत्र- "समाज-सेवा" को अपने विचार व कृत रूप में स्वयं में आह्वानित करके- 'राष्ट्राय स्वाहा, इदं राष्ट्राय, इदं न मम्' के भाव से राष्ट्र-सेवा, समाज-सेवा के लिए सतत कटिबद्ध है।

---

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 39

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी कहते हैं- ''बाह्य आडंबर से रहित- 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।' श्लोक में अभिव्यक्त यह आध्यात्मिक भूमिका ही हमारी समाज रचना के लिए उपयुक्त है। जो साम्य को तो देखते नहीं, वे भला साम्यवाद कैसे ला सकेंगे ? चैतन्य तत्व का दर्शन न करते हुए केवल विषमता ही देखने से साम्यभाव उत्पन्न नहीं हो सकता है। हिन्दू-संस्कृति सच्ची समता का, एक में ही सब कुछ का दर्शन कराती है। संघ भी इसी चित्र को लेकर काम कर रहा है। राष्ट्र की एकात्मता का अनुभव कराते हुए प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दु:ख की अनुभूति की शक्ति उसके बन्धुओं में उत्पन्न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति धर्मशील बने, इसका अपने कार्य से प्रबंध करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ऐसी शक्ति के लिए प्रयत्नशील है, जिससे हम पूर्णता के आधार पर ऐहिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार का सुख प्राप्त कर सकें। इस कार्य के लिए एकाध पक्ष-निर्माण कर विद्वेष फैलाने की आवश्यकता नहीं है। अन्य लोगों के कार्य का आधार घृणा होगा, किन्तु हमारे कार्य का आधार तो प्रेम ही है। हम तो धर्म के आधार पर, एकात्मता के आधार पर- न कि पशुबल और भौतिकता के आधार पर- इस सत्य चित्र को वैचारिक अधिष्ठान पर आत्मानुभूति के द्वारा प्रकट करें। विश्व की शान्ति प्रस्थापित करने योग्य मनुष्य का अन्तिम एवं अनुभवगम्य चित्र हिन्दू-संस्कृति ने रखा है। हमारी कार्य-प्रणाली से उस चित्र की अनुभूति सम्भव है। अतः हम उसी आधार पर अपने हृदय को विशाल बनाते हुए आसेतु हिमालय भारत-भूमि की एकता का साक्षात्कार करते हुए हिन्दू-राष्ट्र को वैभव से खड़ा होता हुआ देखेंगे, इसी निश्चय से काम करेंगे।''[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू-संस्कृति, इस सृष्टि के सम्पूर्ण जड़-चेतन में उपस्थित 'दिव्य-परमात्मा' के अस्तित्व का अवबोध कराती है। यह संस्कृति सत्यान्वेषकों के मत, पंथ भिन्नता को पूर्ण सम्मान के साथ स्वीकारती है। विश्व में एकमात्र भारत देश की हिन्दू-संस्कृति ही ऐसी दुर्लभ विशेषता से युक्त है, जो भिन्नताओं में अपना सिंगार देखती है। बाह्य रूप से दिखने वाले विविध भेद तो ऊपरी एवं सतही हैं। इनका मूल तो एक ही है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा का भी स्पष्ट मत है कि- ''जीवन के हर क्षेत्र में विद्यमान विविधता, जहाँ जगत का सौन्दर्य है वहीं उस विविधता के पीछे विद्यमान एकता का साक्षात्कार करना भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च काम्य है

[1] श्री गुरुजी समग्र- खण्ड -2, पृष्ठ संख्या-102-103

।"[1] हिन्दू-संस्कृति की- भिन्नताओं के स्वीकार एवं एकता की भावना- व्यापक रूप में 'वसुधैव कुटुंबकम्' के रूप में प्रकट हुई है। यही कारण है कि हिन्दू-संस्कृति अपने-पराये की संकीर्ण मानसिकता से ऊपर है। यह संस्कृति मानव और प्रकृति के बीच अटूट सम्बन्धों की बात करती है, जिसमें मनुष्य, नदियाँ, पहाड़, मैदान, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि सब कुछ जो दृश्यमान जगत में उपस्थित है। यही कारण है कि हिन्दू-संस्कृति में प्रकृति-पूजा विविध रूपों में समाविष्ट है। मानव-प्रकृति के इन सम्बन्धों के दायरे में एक-दूसरे की सहायता, चिन्ता और कर्तव्य की भावना का विकास होता है। श्री सुनील आंबेकर के अनुसार- "हिन्दू-संस्कृति में आत्मीय परिजनों से लेकर समस्त ग्राम, ग्राम से ग्राम-समूह, अपने देश से विश्व, अपनी आस्था से सबकी आस्थाओं तक मूल्य की एक गहरी और क्रमिक शृंखला बन जाती है और इस प्रकार सह-अस्तित्व एक सुगठित व जीवंत परिणाम हो उठता है।"[2]

हिन्दू-संस्कृति के मूल में ही सबके सहभाग का भाव है। वह हमेशा सबको साथ लेकर अग्रसरित होने की बात करती है। ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में हिन्दू-संस्कृति का यह भाव स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है।[3] साररूप में अगर हम कहें तो हिन्दू-संस्कृति का मुख्य गुण विषमता, प्रतिस्पर्धा और अशान्ति को दूर कर समता, बन्धुता और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना है। यही उसका गौरव और उसकी उपयोगिता है। अपनी इसी महिमा से मण्डित होकर वर्तमान विश्व में मची उथल-पुथल, अशान्ति, पर्यावरणीय संकट आदि समस्याओं के एक त्राता के तौर पर हिन्दू-संस्कृति विश्व की अन्य संस्कृतियों की ओर निहार सकती है और निहारती रहेगी। अर्नाल्ड टॉयनबी के अनुसार- "यदि विश्व अपनी अवश्यंभावी विनाश से बचना चाहता है तो वह भारत की शरण में चला जाये।"[4] अपने इस कथन में टॉयनबी भारत की संस्कृति को ही स्वीकार करने का आग्रह विश्व से कर रहा है।

[1] अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा-(प्रस्ताव)-2019 : 'भारतीय परिवार व्यवस्था-मानवता के लिए अनुपम देन'- आरएसएस आर्काइव

[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या- 113

[3] (1) संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागां यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ (ऋग्वेद 10/191/2) {अर्थात्- हे मनुष्यों !मिल-जुलकर प्रगति करो; मिल-जुलकर बातचीत करो, मिल-जुलकर विचार करो। तुम्हारे पूर्वज विद्वान मिल-जुलकर विचार करते हुए ही अपने-अपने अधिकार के अनुसार सदा आचरण करते आए हैं।}

(2) समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ (ऋग्वेद 10/191/3) { अर्थात्- तुम सबके विचार, संगठन, मन और चित्त समान हों। मैं (ईश्वर) तुम सबको यही समान उपदेश देता हूँ और समान भोगाधिकार से युक्त करता हूँ।}

(3) समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति ॥ (ऋग्वेद 10/194/4) { अर्थात्- तुम्हारा सबका अभिप्राय समान हो, हृदय समान हों, मन समान हों, जिससे तुम सब अच्छी प्रकार से साथ-साथ रह सको।}

[4] हमारा सांस्कृतिक चिंतन- सुरेश 'भय्याजी' जोशी, पृष्ठ संख्या- 11-12

5.6- 'राष्ट्र' की चिरकालिक भारतीय कल्पना-

भारतीय 'राष्ट्र' की अवधारणा का मूल तत्व 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' व 'वसुधैव कुटुंबकम्' के दर्शन में निहित है। पुरातन काल से ही भारत दुनिया के वैविध्य-पूर्ण समाजों में से एक है। दुनिया के विभिन्न भागों की साम्राज्यवादी सत्ताओं के अनुभवों से गुजरता हुआ भारत अपने भू-सांस्कृतिक, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के मूल-तत्व को सतत परिमार्जित करता रहा है। वेदों, वेदांगों, पुराणों, उपनिषदों, स्मृतियों, पिटकों एवं गुरुग्रन्थ साहिब में भारतीय 'राष्ट्र' की अवधारणा अपने सतत उन्नयन की ओर अग्रसरित है। 'भक्ति आन्दोलन एवं सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोलन भारतीय समाज की राष्ट्रीयता की अवधारणा के सुदृढ़ीकरण की अभिव्यक्ति हैं।'[1]

राष्ट्र-राज्य की आधुनिक पाश्चात्य अवधारणा भले ही वेस्टफालिया संधि[2] के पश्चात मूर्तरूप लेती हो, मगर डॉ. दिलीप कुमार झा के शब्दों में कहें तो- "भारत में मगध, गुप्त एवं मुगल साम्राज्यों के मूल में भारतीय कानून संहिता का केंद्रीय महत्व तथा प्रजा की भलाई से राजसत्ता की वैधता का भाव हमेशा देखा जा सकता है। भारतीय इतिहास के जिस किसी भी कालखंड में इस निमित्त हस्तक्षेप व व्यवधान आया, वहाँ- चाणक्य, चंद्रगुप्त, अशोक, महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, सरदार पटेल जैसे महानायक राष्ट्र की संकल्पना को नूतन अभिव्यक्ति प्रदान करने को प्रस्तुत थे।"[3]

पाश्चात्य इतिहासकार अक्सर यह कहते और लिखते रहे हैं कि- भारत कभी एक राष्ट्र नहीं रहा, बल्कि अनेक जातियों का निवास स्थान रहा, जिसका सम्बन्ध अनेक नस्लों, कबीलों, भाषा-भाषियों और धर्म के मानने वालों से रहा है। उनकी इसी विचारधारा का अनुगमन करने वाले अनेक राजनीतिक चिंतक भी यही राग अलापते रहे हैं कि- भारत अलग-अलग रजवाड़ों, बादशाहों, नवाबों की छोटी-छोटी रियासतों में विभक्त था तथा वह राजनीतिक व प्रशासनिक दृष्टि से कभी एक नहीं रहा तो वह एक राष्ट्र कैसे हो सकता है ? उनके विचार में राष्ट्र की अवधारणा ही पश्चिम की देन है।[4] उनके अनुसार भारत को 'राष्ट्र' की संज्ञा से अभिहित करने वाले ब्रिटिश उपनिवेशवादी थे। ऐसे

---

[1] 'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पादक- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या- 02

[2] वेस्टफ़ालिया संधि- मई और अक्टूबर 1648 ई. के बीच ओसनाब्रुक और मन्स्टर के वेस्टफेलियन शहरों में हस्ताक्षर किए गए शान्ति-संधि की एक शृंखला थी, जिसके कारण यूरोपीय धर्म-युद्धों का समापन हुआ था।

[3] 'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पा.- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या-2

[4] यहाँ डॉ. दिलीप कुमार झा का वह मत उद्धरित करना ठीक होगा जिसमें वे कहते हैं- "भारतीय राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की अवधारणा किसी भी संदर्भ में प्रदत्त तथा व्युत्पन्न अवधारणा नहीं है, जैसा की एल्मोसियस, पेरी एंडर्सन, विलियम डेलरिम्पल सरीखे पाश्चात्य विचारकों एवं पार्थ चटर्जी व अन्य वामपंथी भारतीय विचारकों का तर्क है।" ('राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पादक- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या- 02)

विद्वानों के मतों का प्रतिकार करते हुए डॉ. दिलीप कुमार झा लिखते हैं- "यह एक भ्रान्त धारणा है कि भारत को 'राष्ट्र' के रूप में संगठित करने और राष्ट्रीयता के उदय का कारण यहाँ पर रही अंग्रेजी हुकूमत थी। ऐसी धारणा का आधार राष्ट्र सम्बन्धी विदेशी मानदण्ड हैं।...... किसी देश के निवासियों को राष्ट्र के रूप में संगठित करने में राजनीतिक और प्रशासनिक एकता की विशेष भूमिका होती है, पर एकमात्र यही आधार नहीं है, जिस पर देश के निवासी राष्ट्र के रूप में संगठित होते हैं। सांस्कृतिक आधार इन सब आधारों से प्रबल होता है। इसका प्रमाण 'भारत' और 'भारत के लोग' हैं।"[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भी 'राष्ट्र' को लेकर यही मंतव्य है। उसका मानना है कि 'राष्ट्र' एक सांस्कृतिक अवधारणा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत कहते हैं- "हमारा सांस्कृतिक राष्ट्र है।"[2]

'राष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति की बात करें तो- 'राष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'राज्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ- चमकना होता है। इस धातु ('राज्') में औणादिक 'राष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़ा गया है। इस प्रकार 'राष्ट्र' शब्द की उत्पत्ति हुई; जिसका अर्थ है- 'राजते दीप्यते प्रकाशते शोभते इति राष्ट्रम्' अर्थात् जो स्वयं देदीप्यमान होने वाला है, वह 'राष्ट्र' कहलाता है। अथवा विविध वैभवों से सुशोभित देश 'राष्ट्र' होता है। संस्कृत के वृहत्कोश वाचस्पत्यम् में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ- 'जनपद' बताया गया है। संस्कृत के ही दूसरे वृहत्-शब्दकोश शब्दकल्पद्रुम में इसका अर्थ- 'विषय' बताया गया है।[3] शब्द-कल्पद्रुम में इस अर्थ की पुष्टि के लिए मनुस्मृति का एक श्लोक उद्धरित किया गया है-

"अशासंस्तस्करान् बलिं गृहणाति पार्थिवः।

तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥" (मनुस्मृति 9/254)

अर्थात् जो राजा तस्करों को नियंत्रित नहीं करता और प्रजा से कर वसूलता रहता है, वह राष्ट्र बुरी तरह क्षुभित होता है और वह राजा स्वर्ग से भी वंचित हो जाता है। इस श्लोक का तात्पर्यार्थ यही है कि एक सु-व्यवस्थित, सु-शासित राज्य को ही 'राष्ट्र' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। मोनियर विलियम्स ने अपनी 'ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' (1899) में 'राष्ट्र' शब्द के कई अर्थ दिये हैं- Kingdom, Realm, Empire, Dominion, District,

[1] 'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पा.-अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या-3-4

[2] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 49

[3] उद्धरित,'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पादक- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या- 05

Country आदि। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि 'राष्ट्र' शब्द कोश-ग्रन्थों में एक व्यापक अर्थ में स्वीकार हुआ है। कभी इसे विषय, जनपद, देश, क्षेत्र आदि तो कभी इस नाम से उसमें बसने वाले बाशिंदों का तात्पर्य ग्रहण किया गया है।

'राष्ट्र' शब्द के लिए अंग्रेजी भाषा में 'नेशन' (Nation) शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द (नेशन) मूलत: लैटिन भाषा के नेट्स (Natus) शब्द से उद्भूत है, जिसका अर्थ- ऐसी जाति का जन्म होता है जिसमें प्रजाति (Race) सम्बन्धी समानता पाई जाती है।[1] 'राष्ट्र' शब्द की अर्थगत व्यापकता व जटिलता के कारण बहुत से विद्वानों ने इसे एक पारिभाषिक शब्द मानते हुए परिभाषित करने का प्रयास किया है-

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में 'राष्ट्र' शब्द को परिभाषित करते हुए बताया गया है कि- "एक पूर्वज की सन्तान, जिसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परायें एक हों, जो एक विशेष भू-भाग में निवास करती हो तथा जो सुशासन द्वारा संचालित होती हो, राष्ट्र के अंतर्गत आती है।"[2]

पाश्चात्य विद्वान बर्गेस के अनुसार- "राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बंधी हुई वह जनता है, जो अखण्ड-भौगोलिक प्रदेश में निवास करती है।"[3]

जे. डब्ल्यू. गार्नर के अनुसार- "एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का सामाजिक समूह है, जो अपने मानसिक जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में सम्पूर्ण चेतन और दृढ़ निश्चयी है।"[4]

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार- "भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति- इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।"[5]

आचार्य नन्द दुलारे बाजपेई के अनुसार- "राष्ट्र केवल सीमाओं और जनसंख्या के समुच्चय का नाम नहीं है, उसके साथ परिस्थितियों के एक विशिष्ट आयात और एक विशिष्ट इतिहास का भी योग होता है। राष्ट्र एक व्यक्ति के सदृश ही है।"[1]

---

[1] उद्धरित,'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पा.- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या- 05

[2] उद्धरित,'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पा.- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या- 21

[3] उद्धरित,'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पा.- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या- 21

[4] उद्धरित,'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पा.- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या- 21

[5] उद्धरित,'राष्ट्र का स्वरुप' (निबन्ध)- वासुदेव शरण अग्रवाल, संकलित- उ.प्र. बोर्ड- हिन्दी पाठ्यक्रम-कक्षा-12, पृष्ठ संख्या- 42

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'राष्ट्र' शब्द की परिभाषा के सम्बन्ध में अलग-अलग विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। सबने 'राष्ट्र'के विशेष घटकों पर बल देते हुए अपने-अपने ढंग से उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। इन सभी विद्वानों के मतों को देखते हुए 'राष्ट्र' के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि- 'राष्ट्र' एक निश्चित भू-भाग पर बसने वाले जन का, ऐसा समूह होता है- जो अपनी सभ्यता और संस्कृति तथा एकात्मता की प्रेमिल डोर से पगा होता है।

भारत के प्राचीन वाङ्मय- वेद, वैसे तो मुख्यतः तत्कालीन सामाजिक जीवन के परिचायक हैं, किन्तु अनेक वैदिक मंत्रों से यह स्पष्ट भान होता है कि वैदिक ऋषियों ने 'राष्ट्र' के स्वरूप और उसके तत्वों की स्पष्ट कल्पना की थी। ऋग्वेद संहिता में- 'राष्ट्रं क्षत्रियस्य' (4/42/1) 'राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य' (10/109/3) और यजुर्वेद में- 'वृषसेनोअसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि, राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि' (10/2,3) के संदर्भों से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय द्वारा शासित भू-भाग को तत्समय में 'राष्ट्र' कहा जाता था।

अथर्ववेद के प्रसिद्ध 'भूमि-सूक्त' या 'पृथ्वी-सूक्त' (ध्यातव्य है- अथर्ववेद के बारहवें अध्याय का प्रथम सूक्त 'भूमि-सूक्त' कहलाता है।) में भूमि से प्रार्थना की गयी है कि- वह हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज और बल स्थापित करे।(अथर्ववेद 12/1/8) स्पष्ट ही इन सब प्रार्थनाओं में 'राष्ट्र' से वह भू-भाग अपेक्षित है, जिसकी व्यवस्था किसी एक सूत्र से बंधी हुई है। इन सभी विवरणों एवं संदर्भों के आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों यथा- 'कीथ एवं मैकडॉनल ने अपने वैदिक इंडक्शन में लिखा है कि- ऋग्वेद में वर्णित 'राष्ट्र' बाद में राज्य अथवा गणराज्य का द्योतक हुआ।'[2]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी 'राष्ट्र' शब्द की विविध व्याख्यायें की गयीं हैं, जैसे- 'राष्ट्र जन समूह है' ('राष्ट्राणि वै विशः'-ऐतरेय ब्राह्मण,8/26),'राष्ट्र शक्ति है'('क्षत्रहिराष्ट्रम्'-ऐतरेय ब्राह्मण,7/22), 'राष्ट्र सविता है' ('सविता राष्ट्रम् राष्ट्रपति:'-शतपथ ब्राह्मण,11/4/3/1),'राष्ट्र श्री है' ('श्री: वै राष्ट्रम्'-शतपथ ब्राह्मण,6/7/3/7)। इन सबसे यह भाव अभिव्यक्त होता है कि एक राष्ट्र में सुरक्षित और समृद्ध जन-समुदाय की प्रतीति होती है। राजा, राष्ट्र की रक्षा करता था। विष्णु पुराण के एक श्लोक में तो भारतवर्ष की चर्चा राष्ट्रीय इकाई के रूप में देखने को मिलती है, जो रागात्मक आत्मीयता तथा सांस्कृतिक एकता का परिचायक है-

---

[1] 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध'- डॉ. नन्ददुलारे बाजपेई, पृष्ठ संख्या- 02

[2] उद्धरित,'राष्ट्रवाद का भारतनामा : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'- सम्पा.- अभयप्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या- 06

उत्तरं यत्समुद्रस्यहिमाद्रेश्च दक्षिणं ।

वर्षं तद्भारतम् नाम भारती यत्र संततिः ।। (विष्णुपुराण 2/3/1)

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों के समक्ष प्राचीन काल से ही 'राष्ट्र' की अवधारणा स्पष्ट थी, जिसका प्रमाण हमें प्राचीन वाङ्मय से लेकर अर्वाचीन विविध कृतियों में मिलता है।

5.7- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'राष्ट्र' (हिन्दू-राष्ट्र) की अवधारणा-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि 'राष्ट्र' संस्कृति का एक व्यावहारिक स्वरूप है। वह संस्कारों का समुच्चय है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार, जो बाल्यकाल से ही मातृभूमि की भक्ति व मुक्ति हेतु चल रहे विविध अभियानों के सहभागी रहे, को विविध स्वाधीनता अभियानों में सहभाग करते हुए यह भान हुआ कि इन सभी अभियानों के अंतर्गत केवल ब्रिटिश हुकूमत को देश से बाहर करने की ही भावना है, और वही भावना 'राष्ट्रीयता' के समानार्थी समझी जाती है। उस समय के अधिकतम विद्वानों के लिए अंग्रेज विरोध तथा राष्ट्रीयता पर्यायवाची शब्द थे, लेकिन डॉ. हेडगेवार इस विचार से सहमत नहीं थे। उनका स्पष्ट मानना था कि- 'राष्ट्र' की कल्पना एक भावनात्मक कल्पना है। वह किसी अन्य के विरोध पर निर्भर नहीं होती है। उनका यह भी मानना था कि- "राष्ट्र के लक्ष्य की प्रारंभिक कल्पना की स्वल्प-सी विकृति हमारे उद्देश्य के श्रेष्ठतम होते हुए भी ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों की दिशा में ले जायेगी, जहाँ से हम लौट नहीं सकेंगे। हमारा भाग्य उस व्यक्ति के समान होगा, जिसने विनायक की प्रतिमा बनाना आरम्भ किया, किन्तु समाप्ति पर बंदर की प्रतिमा बनी-

"विनायकं प्रकुर्वाणोरचयामास वानरम् ।।"[1]

इन सभी विषयों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के बाद डॉ. हेडगेवार ने राष्ट्रत्व की वास्तविक, भावात्मक एवं चिरकालिक कल्पना के आधार पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बीजवपन किया।

'राष्ट्र' शब्द को परिभाषित करने के क्रम में विद्वानों ने मोटे तौर पर तीन अधिष्ठान- भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति निर्धारित किये हैं। अर्थात् किसी राष्ट्र के लिए प्रथम अपरिहार्य वस्तु एक निश्चित भूखण्ड है,

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 112

जो यथासम्भव किन्हीं प्राकृतिक सीमाओं से आबद्ध तथा एक राष्ट्र के रहने और वृद्धि एवं समृद्धि के लिए आधार रूप में काम दे। द्वितीय आवश्यकता है- इस विशिष्ट भू-प्रदेश में रहने वाला जन-समुदाय, जो उसके प्रति मातृभूमि के रूप में पूज्य भाव विकसित करता है तथा अपने पोषण, सुरक्षा और समृद्धि के स्थान के रूप में उसे ग्रहण करता है। तृतीय- यह जन-समुदाय/समाज केवल मनुष्यों की एक जुटान मात्र ही नहीं होना चाहिए अपितु उसकी जीवन सम्बन्धी एक विशिष्ट पद्धति- जिसको जीवन के आदर्श, संस्कृति, अनुभूतियों, भावनाओं, विश्वास एवं परम्पराओं के सम्मिलन के द्वारा एक स्वरूप दिया गया हो- होनी चाहिए। इस प्रकार एक 'राष्ट्र' का अधिष्ठान निर्मित होता है। इन राष्ट्र-अधिष्ठान निर्मिती के तत्वों के आलोक में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'हिन्दू-राष्ट्र' की अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी लिखते हैं- "हमारा महान देश, उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में महासागर तक तथा उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में फैली हुई हिमालय की शाखाओं एवं इनके अंतर्गत भू-प्रदेशों से युक्त तथा अपने दक्षिण महासागर स्थित द्वीप-समूह के साथ एक महान नैसर्गिक इकाई है। हमारा सुविकसित समाज यहाँ इस भूमि की सन्तान के रूप में सहस्त्रों वर्षों से निवास कर रहा है। यह समाज- विशेषतया आधुनिक काल में- 'हिन्दू समाज' के नाम से जाना गया, क्योंकि वे हिन्दू समाज के ही पूर्वज थे, जिन्होंने मातृ-भू के लिए प्रेम तथा भक्ति के आदर्श एवं परम्परायें निश्चित कीं। जिन्होंने मातृ-भू की सजीव एवं अखण्ड प्रतिमा को समाज के मस्तिष्क में सदैव उज्जवल बनाये रखने हेतु तथा उसकी दिव्य सत्ता के प्रति भक्ति जागृत रखने हेतु विविध कर्तव्यों और कृत्यों को भी निर्दिष्ट किया। वे ही थे, जिन्होंने इस मातृ-भू अखण्डता एवं पावित्र्य की रक्षा के लिए अपने रक्त को बहाया। यह सब कुछ केवल हिन्दू-समाज द्वारा ही किया गया। इस तथ्य का साक्षी हमारा सहस्त्रों वर्षों का इतिहास है। इसका अर्थ है कि केवल 'हिन्दू' ही इस भूमि की सन्तान के रूप में यहाँ रहता आया है।..... मातृ-भू की इस संयुक्त उपासना ने हमारे सम्पूर्ण समाज में कश्मीर से कन्याकुमारी तक एवं वनवासी से नगरवासी तक एक-दूसरे के प्रति एक रक्त-सम्बन्ध स्थापित किया है। ये सभी जातियाँ, ईश्वर की उपासना के विविध मार्ग तथा विविध भाषाएँ, एक महान सजातीय ठोस हिन्दू समाज की अभिव्यक्तियाँ हैं, जो इस मातृभूमि की सन्तानें हैं।.... अस्तु एक पूर्ण राष्ट्र के निर्माण के लिए सभी आवश्यक तत्वों की पूर्ति इस महान हिन्दू-समाज के जीवन में हो जाती है। इसलिए हम कहते हैं कि हमारे इस भारत देश में हिन्दू-समाज का जीवन ही राष्ट्र-जीवन है। संक्षेप में यह कि यह (राष्ट्र) 'हिन्दू-राष्ट्र' है।"[1]

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 124

ध्यातव्य है- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा व्यवहृत 'हिन्दू-राष्ट्र' शब्द या 'हिन्दू-राष्ट्र का सिद्धान्त' संघ की कोई नई खोज नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार व अन्य संघ विचारकों ने वही विचार प्रकट किया जो भारतीय चिन्तन परम्परा के मनीषियों- स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद, लोकमान्य तिलक, वीर सावरकर आदि- ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विचार के नाते सहज प्रकट किया था।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि इस सुजल-सुफला, शस्य-श्यामला भारत-भूमि पर प्राचीन काल से ही बसने वाला जन 'हिन्दू' है और उसके द्वारा व्यवहृत उसकी अपनी अक्षत सनातन संस्कृति भी है। इस हिन्दू की अपनी मातृभूमि के प्रति पूज्य निष्ठा है तथा वह समय-समय पर इस मातृभूमि की रक्षा के लिए अपने को बलिदान भी करता आया है। अतः इस भूमि, इस पर बसने वाले जन व उनकी विशिष्ट संस्कृति को दृष्टिगत रखते हुए, इसी अधिष्ठान पर निर्मित हुए राष्ट्र को 'हिन्दू-राष्ट्र' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इस भारत-भूमि को 'हिन्दू-राष्ट्र' कहता है, तब यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि- क्या इस भारत-भूमि पर रहने वाले अन्य मत-पंथावलंबियों के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मन में निरसन का भाव है ? क्या वे इस भूमि पर पैदा नहीं हुए, उनका लालन-पालन यहाँ नहीं हुआ ? मात्र मत-पंथ के परिवर्तन से ही वे परकीय कैसे हो गये ? इस सम्बन्ध में श्री गुरुजी लिखते हैं- "हम इतने क्षुद्र नहीं कि यह कहने लगें कि केवल पूजा का प्रकार बदल जाने से कोई व्यक्ति इस भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में कोई आपत्ति नहीं है। हम संघ के लोग पूर्णरूपेण हिन्दू हैं, इसलिए हममें प्रत्येक पंथ और सभी धार्मिक विश्वासों के प्रति सम्मान का भाव है। जो अन्य पंथों के प्रति असहिष्णु है, वह कभी भी हिन्दू नहीं हो सकता।"[2]

यही बात प्रकारान्तर से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वर्तमान सरसंघचालक मोहन भागवत जी भी दोहराते हैं। वे कहते हैं- "हमारा राष्ट्र, 'हिन्दू-राष्ट्र' है। इसका मतलब इसमें मुसलमान नहीं होना चाहिए, ऐसा बिल्कुल नहीं होता है। जिस दिन यह कहा जायेगा कि मुसलमान नहीं चाहिए, उस दिन वह 'हिन्दुत्व' नहीं रहेगा।"[3] (संघ प्रमुख के उक्त वक्तव्य में मुसलमान का तात्पर्य सिर्फ मुसलमान ही नहीं बल्कि भारत-भूमि में रहने वाले अन्य सभी मत-पंथावलंबियों

[1] दीनदयाल विचार दर्शन- खण्ड-5 (राष्ट्र की अवधारणा), पृष्ठ संख्या- 11

[2] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 127

[3] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 57

से भी है ।) इस प्रकार यह आशंका कि- 'हिन्दू-राष्ट्र' की कल्पना अहिन्दू नागरिकों के अस्तित्व के लिए चुनौती है, वे इस देश से निष्कासित कर दिये जायेंगे, आदि आदि- इसके सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रारम्भ से ही यह मत रहा है कि- हमारी राष्ट्रीय भावना के लिए इससे अधिक मूर्खतापूर्ण अथवा घातक और कुछ नहीं हो सकता । यह तो हमारे महान एवं सर्वग्राही सांस्कृतिक दाय का अपमान है । श्री गुरुजी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के इस विचार को उदाहरण के साथ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि- "हमारे सामने अति स्पष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य तथा सहस्त्रों वर्षों की राष्ट्रीय परम्परायें होते हुए भी यह कहना कितना विचित्र है कि यदि 'हिन्दू-राष्ट्र' अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गया तो हिन्दुओं के लिए संकट उत्पन्न हो जायेगा ।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'हिन्दू-राष्ट्र' की अवधारणा को लेकर लोगों के मन में जो आशंका (कि यदि हिन्दू-राष्ट्र स्थापित हो गया तो अहिन्दुओं का जीवन संकटापन्न हो जायेगा) है, उसको मिथ्या और भ्रान्त बताते हुए श्री गुरुजी लिखते हैं- "यह भय यदि है, तो वह इस मिथ्या धारणा के कारण है की 'हिन्दू-राष्ट्र' अन्य धर्म-समूहों (मतावलंबियों) के साथ वैसा ही व्यवहार करेगा, जैसा सामी मजहबों ने किया ।[2] सामी मजहबों के मापदण्ड से 'हिन्दू-राष्ट्र' को मापने पर ही यह भय उपजता है कि 'हिन्दू-राष्ट्र' दूसरे धर्म-समूहों के जीवन को संकटग्रस्त करेगा । इसी से यह कल्पना जन्म लेती है कि जिस तरह सामी राज्य अपनी धार्मिक कट्टरता और उत्पीड़न के लिए बदनाम थे, वही सब 'हिन्दू-राष्ट्र' में भी होगा ।"[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज में बन्धु-भाव के लिए काम करता है । उसका मानना है कि समाज के इस भ्रातृ-भाव के लिए एक ही आधार है- 'विविधता में एकता' । भारतीय समाज में परम्परा से चलते आये इस चिन्तन को ही दुनिया हिन्दुत्व की संज्ञा से अभिहित करती है । यह जो चिन्तन-धारा है- वह तो सम्पूर्ण पृथ्वी को ही एक परिवार मानती है । इसलिए यह आग्रह कि देश में सिर्फ वेद की ही एकमात्र सत्ता रहेगी, अन्य (वेद को न मानने वालों) की सत्ता का नकार होगा, यह भाव ही 'हिन्दुत्व' की सत्ता को विलोपित करने वाला होगा । सरसंघचालक डॉ.

---

[1] श्री गुरुजी उदाहरण देते हुए कहते हैं- क्या हम शिवाजी के नेतृत्व में हुए सबसे अंतिम शक्तिशाली हिन्दू-पुनरुत्थान के विषय में नहीं जानते कि उनकी सेना के अधिकारियों में एक रणादुल्ला खाँ था ? उसके भी बाद के समय में सन 1761 ई. के पानीपत के युद्ध, (जो अहमदशाह अब्दाली व मराठा सेनापति सदाशिव राव भाऊ के बीच 14 जनवरी 1761 ई. को हुआ था ।) जो हिन्दू-स्वराज के उत्थान के लिए जीवन-मरण का संघर्ष था, में तोपखाने का प्रमुख इब्राहिम गार्दी था । ('विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 133)

[2] यहूदियों ने अपनी मजहबी असहिष्णुता के कारण ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा दिया । बाद में ईसाई मजहब का उदय हुआ, वह भी यहूदियों की ही राह चला । ईसाइयों ने यहूदियों को ईसा का हत्यारा घोषित कर उन पर हर प्रकार के अत्याचार किये । हिटलर का व्यवहार अपवाद नहीं था, बल्कि ईसाइयों द्वारा दो हजार वर्ष से यहूदियों पर ढाये जा रहे अत्याचारों की चरम परिणति था । इसके बाद इस्लाम का उदय हुआ । यह तलवार और कुरान की दीर्घ कथा है, जिसे मानव-अश्रुओं तथा शोणित से लिखा गया है ।('विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 161-162)

[3] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 161-162

मोहन भागवत जी कहते हैं- "हमारे देश में सत्य की सतत खोज चली है और उसके क्रम में अनेक दर्शन उत्पन्न हुए हैं। सबकी मान्यता है, वो सब सत्य हैं, ऐसी सबकी श्रद्धा है, होनी चाहिए। हम इसी हिन्दुत्व को लेकर चलते हैं क्योंकि इस बंधुभाव को वैचारिक आधार देने वाला वही एकमात्र विचार है।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि हिन्दुत्व का विचार कभी किसी अन्य भिन्न विचार की प्रतिक्रिया से उद्भूत नहीं है, अपितु वह तो- 'सर्वेषाम् अविरोधेन' है। सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी का आग्रह है कि हिन्दुत्व के इस भाव को वास्तव में धारण करके चलने की योग्यता हमारे अन्दर होनी चाहिए। वे कहते हैं- "हमने बीच के काल में इस योग्यता को खो दिया है इसलिए बहुत सारी अवांछनीय बातें हुई हैं। यह बात 1881 ई. की जनगणना तक हम सभी जानते थे।[2] धीरे-धीरे उसे हमने अपने जेहन से निकाल दिया, उसे वापस लाना होगा। आप उसे 'हिन्दू' नहीं कहना चाहते, मत कहो, चलेगा; आप उसे 'भारतीय' कहो। हम आपके कहने का सम्मान करते हैं। हम जिस संस्कार का निर्माण करना चाहते हैं, उसके लिए हमें एकमात्र उपयुक्त शब्द 'हिन्दू' लगता है, इसलिए उसको लेकर हम चल रहे हैं। उसके नुकसान भी होते हैं तो हम सहन करके चल रहे हैं; क्योंकि हमारा विश्वास है कि इस शब्द के रहने से भारत का यह स्वभाव कभी भी लुप्त नहीं होगा। भारत के लोग सबको साथ लेकर आगे बढ़ेंगे, यही संघ का विचार है।"[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'हिन्दू-राष्ट्र' की जो अवधारणा है उसमें अहिन्दुओं के लिए किसी भी प्रकार के दोयम दर्जे वाली बात नहीं है। उसमें अहिन्दुओं के किसी भी प्रकार के निरसन या हेय भाव का रत्ती भर भी स्थान नहीं है। सब समान हैं। चूँकि यह जो भारत-भूमि है इस पर 'हिन्दू' जन प्रारम्भ से ही निवास करते आये हैं, उनकी एक संस्कृति भी शाश्वत प्रवहमान है, इसी अधिष्ठान पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इस भारत-भूमि को 'हिन्दू-राष्ट्र' की संज्ञा प्रदान करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का यह स्पष्ट मत है कि समाज में जाति, पंथ, मत, क्षेत्र अथवा आर्थिक-स्तर आदि के आधार पर किसी भी प्रकार का पक्षपात एवं भेदभाव कदापि नहीं होना चाहिए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, समाज की विविधता को हिन्दू-संस्कृति का सिंगार मानता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के

---

[1] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 58

[2] अपनी बात कहने के क्रम में सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत, सर सैय्यद अहमद खाँ के लाहौर के भाषण का दृष्टांत देते हैं। वे कहते हैं- "जब सर सैय्यद अहमद बैरिस्टर बनकर लौटे,तो लाहौर के आर्य प्रतिनिधि समाज ने उनका सत्कार किया और (मंच पर) उनका परिचय देते हुए परिचय-दाता ने कहा कि हिन्दुओं में तो बहुत बैरिस्टर बने हैं, लेकिन मुसलमान में ये पहले हैं, इसलिए हम उनका अभिनंदन कर रहे हैं। सर सैय्यद अहमद ने अपने भाषण में इसका उत्तर देते हुए कहा कि- मुझे बड़ा दुःख हुआ कि आपने हमको अपने में शुमार नहीं किया। क्या हम भारत माता के पुत्र नहीं है ? इतिहास में हमारी पूजा-पद्धति बदल गई और क्या बदला है ? ('भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत,पृष्ठ संख्या- 58)

[3] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या- 58

अखिल भारतीय प्रचार प्रमुख सुनील आंबेकर के अनुसार- "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ लौकिक व्यवहार में सहयोग, एक-दूसरे के प्रति आदर तथा शान्ति का संदेश संप्रेषित करना चाहता है। इसी आधारभूत दिशा-बोध से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'हिन्दू-राष्ट्र' की संकल्पना निर्मित तथा सरल रूप में व्याख्यायित हुई है।"[1]

5.8- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का 'धर्म' को लेकर दृष्टिकोण-

'धर्म', संस्कृति का एक महत्वपूर्ण घटक है। 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति की बात करें तो यह शब्द व्याकरण की रीति से 'धृञ् धारणे' धातु से पाणिनि व्याकरण के उणादि सूत्र ('अर्तिस्तुसुहुसृ धृभिक्षु माया- वापदियक्षिनीभ्यो मन्') से 'मन्' प्रत्यय का योग करने पर बनता है। विद्वानों ने इसी धात्वार्थ को ध्यान में रखकर इसकी व्युत्पत्ति की है[2]-

(अ) ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः- जिससे लोक धारण किया जाये वह धर्म है।

(आ) धरति धारयति वा लोकं इति धर्मः- जो लोक को धारण करे वह धर्म है।

(इ) ध्रियते यः स धर्मः- जो दूसरों से धारण किया जाये वह धर्म है।

मनुस्मृति में 'धर्म' का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि- 'यस्तर्केणानुसन्धते सः धर्मं वेद नेतरः' (मनुस्मृति 12/106) अर्थात् जो तर्क एवं सत्य पर अनुसंधानित व सिद्ध हो अथवा किया जा सके तथा इसके गुण, कर्म, संस्कार, स्वभाव, नियम आदि वास्तव में श्रेष्ठ व वेद-सम्मत हों, उसे धर्म कहते हैं।

अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त में एक वर्णन आता है, जिसमें पृथ्वी को 'धर्मणा धृता' अर्थात् 'धर्म से धारण की हुई' कहा गया है। निश्चय ही यहाँ 'धर्म' शब्द का वही अर्थ लिया गया है जिसका सम्बन्ध 'धृ' धातु (धृ- धारण करना) से है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार- "जिस समय अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त की रचना हुई उस समय तक धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं के लिए भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग प्रचलन में आने लगा था। पृथ्वी पर रहने वाले अनेक भाँति के जन का वर्णन करते हुए इसी पृथ्वी-सूक्त में कहा गया है कि- वे नाना धर्मों के मानने वाले हैं, जो

[1] 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र, सुनील आंबेकर, पृष्ठ संख्या-65

[2] कल्याण 'हिन्दू-संस्कृति-अंक', गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ संख्या- 423

कि हमारे देश की एक पुरानी सचाई है। वस्तुतः साम्प्रदायिक मत के लिए 'धर्म' शब्द का प्रयोग यहीं से आरम्भ होता है।"[1]

गृह्य-सूत्रों में 'धर्म' शब्द रीति-रिवाजों के लिए भी प्रयुक्त किया गया है । इस प्रकार के रीति-रिवाज सामयाचारिक धर्म अर्थात् पुराने समय से आये हुए सामाजिक आचार या शिष्टाचार कहे गये हैं। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं कि- "सामयाचारिक धर्म, समाज और राज्य दोनों के लिए मानने लायक होते हैं, और वही पंचायत या अदालतों में कानून का रूप ग्रहण कर लेते हैं। धर्मसूत्रों में इस तरह के सामाजिक नियमों का संग्रह 'धर्म' शब्द के अंतर्गत किया गया है। इस दृष्टि से आईन या कानून के लिए भारतवर्ष का पुराना शब्द 'धर्म' है, और इस अर्थ में 'धर्म' जैसे छोटे और सुन्दर शब्द का प्रयोग बहुत दिनों तक इस देश में चालू रहा। अदालत के लिए 'धर्मासवन' और न्याय करने वाले अधिकारी के लिए 'धर्मस्थ' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होते थे।"[2] इस तरह के रीति-रिवाज, जो सामाजिक या राजकीय कानून की हैसियत रखते हैं, बहुत तरह के हो सकते हैं, जिन्हें देश-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म कहा गया है। इन सब अर्थों के अतिरिक्त 'धर्म' शब्द का एक अन्य विशिष्ट अर्थ है, जिसके अनुसार- 'धर्म' शब्द व्यक्तिगत जीवन के लिए, सामाजिक जीवन धारण करने वाले नियमों के लिए और सारे संसार के नियमों को धारण करने वाले नियमों के लिए प्रयुक्त हुआ है । डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार- "वस्तुत: लोगों को साफ दिखायी पड़ता था कि मनुष्य, समाज और सृष्टि तीनों की नींव या जड़ में एक ही सत्य पिरोया हुआ है, जिसे उन्होंने धर्म कहा। जीवन के जो नीति-सम्बन्धी नैतिक नियम है, वे इसी 'धर्म' शब्द के अंतर्गत आते हैं।"[3]

मनु ने जीवन के नैतिक दृष्टिकोण को दृष्टिगत रखते हुए- सत्य, संयम, अक्रोध आदि गुणों को धर्म के दस लक्षणों में माना है- "धृतिक्षमाः दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥"(मनुस्मृति 6/92) अर्थात् धैर्य, क्षमा, मानस-नियन्त्रण, चौर्य कर्म से रहित, मन-वचन-कर्म में शुचिता, इंद्रियों पर अंकुश, शास्त्र-ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, सच बोलना तथा क्रोधित न होना- यही धर्म के दस लक्षण हैं।

[1] कला और संस्कृति- वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 114
[2] कला और संस्कृति- वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 114
[3] कला और संस्कृति- वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 114

ऋषि वेदव्यास 'धर्म' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं- "नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः। यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः ।।"[1] अर्थात् उस महान 'धर्म' को प्रणाम है, जो सब मनुष्यों को धारण करता है। सबको धारण करने वाले जो नियम हैं, वे धर्म हैं।

इस प्रकार सार रूप में हम कह सकते हैं कि सृष्टि और स्वयं के उत्थान के निमित्त किये जाने वाले वे सभी कर्म, जिनका कोई प्रतिकूल प्रभाव किसी प्राणी पर नहीं पड़ता हो, 'धर्म' के अंतर्गत समाहित किये जा सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास 'धर्म' की अत्यन्त सरल व्याख्या करते हुए श्रीरामचरित मानस में लिखते हैं- "परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई ।।" (उत्तरकाण्ड)

धर्म के विषय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिन्तन के बारे में बताते हुए द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी लिखते हैं- "हमारे 'धर्म' की परिभाषा दुहरी है। प्रथम तो मनुष्य के मस्तिष्क का उचित पुनर्वासन तथा द्वितीय है सामंजस्यपूर्ण सांघिक अस्तित्व के लिए विविध प्रकार के व्यक्तियों का परस्पर अनुकूल बनना अर्थात् समाज-धारणा के लिए एक उत्तम समाज-व्यवस्था ।"[2] यदि हम इस परिभाषा के प्रथम पहलू को लें कि आखिर- मस्तिष्क के पुनर्वासन का क्या रूप है ? इसको स्पष्ट करने के क्रम में श्री गुरुजी लिखते हैं- "मनुष्य का व्यक्तित्व, उसके मन का प्रक्षेपण मात्र होता है। किन्तु मन एक ऐसे पशु के समान है, जो कितनी ही वस्तुओं के पीछे भागता है तथा उसकी रचना कुछ इस प्रकार की है कि सभी वस्तुओं के साथ वह एक हो जाता है। साधारणतः मनुष्य का मन, यह विचार करने के लिए नहीं रुकता कि क्या ठीक है और क्या गलत है ? वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी भी स्तर तक नीचे झुक सकता है। इस प्रकार के मन के साथ मनुष्य का साधारण पशु के स्तर से ऊँचा उठने की सम्भावना नहीं रहती है, अतएव मन को आत्म-संयम एवं कुछ अन्य महान गुणों से संस्कारित करना है। अच्छे आचरण के वे लक्षण श्रीमद्भगवद् गीता एवं हमारे अन्य पवित्र ग्रन्थों में विविध सन्दर्भों में उल्लिखित हैं।"[3] परिभाषा का दूसरा पहलू सामाजिक है। मनुष्य को सम्पूर्ण समाज के व्यापक हितों के साथ तालमेल बैठाना चाहिए। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

---

[1] उद्धरित, कला और संस्कृति- वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 115

[2] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 45

[3] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 45-46

श्री गुरुजी द्वारा बताये गये 'धर्म' के प्रथम पहलू की परिभाषा के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ऋषि कणाद के वैशेषिक दर्शन के इस सूत्र का प्रयोग करता है- "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः ।" (वैशेषिक दर्शन,1/2) जिसका अर्थ है कि 'धर्म' एक प्रकार की व्यवस्था है, जो मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर संयम रखने को प्रोत्साहित करती है और संपन्न भौतिक जीवन का उपभोग करते हुए भी दैवी तत्व अथवा शाश्वत सत्य की अनुभूति के लिए क्षमता का निर्माण करती है। 'धर्म' की यह व्याख्या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रार्थना की 'समुत्कर्ष नि:श्रेयस' वाली एक पंक्ति में आ जाती है, अर्थात् 'धर्मात् अर्थश्च' और इस धर्म के परिपालन का अन्तिम श्रेष्ठ पूर्ण फल 'नि:श्रेयस'- ऐसी सारांश रूप व्याख्या संघ प्रार्थना में निहित है।

श्री गुरुजी द्वारा बताये गये 'धर्म' के द्वितीय पहलू को व्यक्त करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ महाभारत के एक श्लोक का प्रयोग करता है- "धारणात् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयते प्रजाः ।" (कर्ण0 69/58) इसका आशय यह है कि- वह शक्ति जो व्यक्ति को एकत्रित करती है और उसे समाज के रूप में धारण करती है, धर्म है।

धर्म विषयक उक्त दोनों परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि धर्म की स्थापना का अर्थ ऐसे सुसंगठित समाज का निर्माण करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने ऐक्य की अनुभूति करता है तथा दूसरे के भौतिक जीवन को अधिक संपन्न, अधिक सुखमय बनाने के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होता है एवं उस आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है, जो उसे चरम सत्य की अनुभूति की दिशा में ले जाता है।

धर्म की रक्षा एवं उसके कायाकल्प के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संकल्प का आशय कर्मकाण्ड का बाह्य स्वरूप एवं औपचारिकताओं से नहीं है। श्री गुरुजी लिखते हैं- "हमारे देश में कुछ लोग पवित्र सूत्र यज्ञोपवीत धारण करते हैं, जबकि कुछ लोग नहीं करते; कुछ चोटी रखते हैं, कुछ नहीं; कुछ मूर्ति-पूजा करते हैं, कुछ नहीं। ये वस्तुएँ उनके लिए अर्थ रखती हैं जो उन्हें मानते हैं। ये हमारे सर्वव्यापी धर्म के छोटे-छोटे बाह्य लक्षण मात्र हैं। उन्हीं को धर्म मान लेने का भ्रम नहीं होना चाहिए।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'धर्म-विषयक' अवधारणा कर्मकाण्ड या बाह्य औपचारिकताओं से कहीं आगे समाज-संगठन व मानव-कल्याण की श्रेष्ठ भावना से अनुस्यूत है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक

[1] 'विचार नवनीत' - माधवराव सदाशिव गोलवलकर, पृष्ठ संख्या- 45

संघ की प्रार्थना में भी कहा गया है- 'विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्' अर्थात् धर्म का परिपालन करते हुए, परमवैभव की कामना राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ करता है। इसके बिना (धर्म के बिना) वैभव और स्वतंत्रता निरर्थक है। सब प्रकार के वैभव की प्राप्ति में यह बात पूर्वशर्त के रूप में उपस्थित है।

5.8.1- धर्म, रिलिजन नहीं-

सामान्यतया लोग 'रिलिजन' अथवा 'मजहब' के लिए 'धर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि रिलिजन या मजहब, धर्म का पर्याय नहीं हो सकता। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के अनुसार- "धम्म या धर्म शब्द भारत की देन है। भारत के बाहर यह शब्द नहीं मिलता है। इससे थोड़ा मिलता-जुलता शब्द, क्योंकि 'धर्म' के साथ कर्मकाण्ड भी आता है- तो विशेष प्रकार का कर्मकाण्ड, विशेष प्रकार की पूजा, विशेष प्रकार के ग्रन्थ, विशेष प्रकार के मसीहा- ऐसा जो बनता है उसको 'रिलिजन' कहते हैं। इसलिए अपनी भाषा को छोड़कर जब हम विदेशी भाषा में बोलने लगते हैं तो 'रिलिजन' कहते हैं और 'रिलिजन' का अनुवाद 'धर्म' करते हैं। इससे गलतफहमी पैदा होती है।"[1]

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' भी भारत के 'धर्म' और पाश्चात्य 'रिलिजन' को एक मानने के पक्षधर नहीं है। वे अपने निबन्ध-संग्रह 'स्रोत और सेतु' में संकलित एक निबन्ध 'व्यक्ति और व्यवस्था : व्यक्ति और समाज' में विस्तार से इस पर लिखते हैं- "भारत का 'धर्म' और पश्चिम का 'रिलिजन' न तत्वतः एक चीज है, न एक ही दृष्टि का या एक ही जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्बन करते हैं। 'धर्म'- धारण करता है, 'रिलिजन'- बाँधता है। दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति ही इस भेद को स्पष्ट कर देती है।"[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्ठ विचारक एम.जी. वैद्य का मानना है कि- "धर्म केवल रिलिजन या मजहब नहीं है। रिलिजन या मजहब तो धर्म का एक अंग है, सम्पूर्ण धर्म नहीं। रिलिजन और मजहब दोनों पारमार्थिक या मृत्यु

[1] 'भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण'- डॉ.मोहन राव भागवत, पृष्ठ संख्या-48-49

[2] अज्ञेय अपनी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "धर्म-दृष्टि विश्वमात्र की गति को धर्मदण्ड के आसपास घूमने वाला मानती हुई मत, सम्प्रदाय और विश्वासों के बारे में पूरी छूट देती है; इसलिए इस देश में संस्कृति का धार्मिक होना हमारे लौकिक जीवन के लिए बाधा या प्रतिबन्ध न होकर सुरक्षा का आधार बन जाता था और बना रहा। दूसरी ओर पश्चिम के रिलिजन की दृष्टि सबसे पहले मत-विश्वास को बाँधती थी, क्रेडो (Credo) उसकी आधारशिला थी; इसलिए आरम्भ से ही उसमें धार्मिक और लौकिक के बीच विरोध का सम्बन्ध बन जाता था। भारतीय दृष्टि से संस्कृति के क्षेत्र में 'धार्मिक बनाम लौकिक' जैसा कोई विरोध-सम्बन्ध बनता ही नहीं था, उसका सार्थक होना तो दूर की बात। दूसरी ओर पश्चिम के चिन्तन में आरम्भ से ही रिलीजियस बनाम सेकुलर अथवा सेक्रेड बनाम प्रोफ़ेन का बुनियादी द्वन्द्व रहा है।" (अज्ञेय रचनावली (खण्ड-11)- सम्पादक- कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ संख्या- 197)

के पश्चात कल्याण का मार्ग दिखाते हैं। हमारी संस्कृति का कहना है कि धर्म का सम्बन्ध पारमार्थिकता से तो है ही, ऐहिकता से भी है। जिस प्रक्रिया की साधना से ऐहिक वैभव तथा पारमार्थिक कल्याण या मोक्ष दोनों मिलते हों वही 'धर्म' है।"[1] 'धृ' धातु का अर्थ- 'धारण करना' तो होता ही है, परन्तु उसका एक अर्थ- 'जोड़ना' भी होता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि- 'जो जोड़ता है, वह 'धर्म' है। व्यक्ति स्वयं के लिए कितना भी विशाल भवन बनाये वह 'धर्म' नहीं होता। जब हम औरों के लिए भवन स्थापित करते हैं, तब 'धर्मशाला' खड़ी होती है। धर्मशाला के माध्यम से व्यक्ति स्वयं को समाज से जोड़ लेता है। हमारे यहाँ 'पितृ-धर्म', 'पुत्र-धर्म', 'राज-धर्म' आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं। इन सारे शब्दों का तात्पर्य एक को दूसरे से जोड़ने का ही है। जिन कर्तव्यों से एक पिता स्वयं को अपने पुत्रों से जोड़ लेता है, वह 'पितृ-धर्म' हुआ और एक पुत्र जिन कर्तव्यों द्वारा स्वयं को अपने माता-पिता से जोड़ता है वह 'पुत्र-धर्म' है। राजा को अपनी प्रजा से जोड़ने वाले जो कर्तव्य हैं, वे 'राज-धर्म' कहलाते हैं। इसी प्रकार मानव को समाज से जोड़ने वाले कर्तव्यों को मानव-धर्म की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार 'धर्म' व्यक्ति को व्यापक अस्तित्व के साथ जोड़ने का साधन है।

महाभारत में कहा गया है- "धारणात् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयते प्रजाः।" अर्थात् जो धारण यानी पोषण करता है, उसे धर्म कहते हैं और धर्म प्रजा की धारणा करता है। यहाँ प्रजा का मतलब केवल मानव नहीं, प्रजा में पशु-पक्षियों सहित सम्पूर्ण सृष्टि सम्मिलित है। इनको जोड़ने की जो व्यवस्था है, उसे 'सृष्टि-धर्म' की संज्ञा दी गयी है। संघ विचारक एम.जी. वैद्य के अनुसार- "हिन्दू समाज के लिए केवल 'मानव धर्म' पर्याप्त नहीं है। पशु और पक्षियों में भी भगवान का अस्तित्व है, ऐसी उनकी मान्यता है। 'गौ' गोमाता बनती है। इसी तरह 'गंगा' केवल पानी का प्रवाह नहीं रहती, वह 'गंगा मैया' बनती है। हिमालय को महाकवि कालिदास ने 'देवात्मा' कहा है। इस प्रकार हिन्दू धर्म सम्पूर्ण सृष्टि को जोड़ता है। व्यक्ति, समष्टि यानी मानव-समाज और सृष्टि अर्थात् मानवेत्तर अस्तित्व, इनके साथ-साथ हिन्दू धर्म परमेष्ठी तत्व के साथ भी जोड़ता है।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति, समाज, सृष्टि और परमात्मा (शास्त्रीय भाषा में इन चार अस्तित्वों को क्रमशः व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि कहते हैं।) को जोड़ने वाला जो सूत्र है, वही 'धर्म' है, पर यह सेतु एकमेव हो

[1] अपनी संस्कृति- माधव गोविन्द वैद्य, पृष्ठ संख्या- 29
[2] यशस्वी भारत - मोहन भागवत, पृष्ठ संख्या- 07

ऐसा आग्रह भारतीय धर्म में नहीं है, इसी कारण विभिन्न प्रकार के मतों, श्रद्धाओं, उपासना-पद्धतियों तथा सम्प्रदायों के अस्तित्व को वह मान्यता देता है। इसीलिए हम देखते हैं कि 'हिन्दू' संकल्पना में वेदों का प्रामाण्य न मानने वाले जैन और बौद्ध, मूर्ति-पूजा का विरोध करने वाले आर्यसमाजी आदि सबका अन्तर्भाव है। हमारे देश का संविधान भी बताता है कि हिन्दुओं पर जो विधि लागू है, वह- जैनों,बौद्धों तथा सिखों पर भी लागू है। संघ विचारक एम.जी. वैद्य के शब्दों में कहें तो- "ये सब (बौद्ध, जैन, सिख, आर्य समाज आदि) रिलिजन कहिए, मजहब कहिए, सम्प्रदाय कहिए- मानने वाले लोग अपने रिलिजन का अभिमान तो धारण करते हैं, किन्तु- अन्य भी पंथ, सम्प्रदाय रह सकते हैं, उनको भी अस्तित्व का अधिकार है- ऐसी उनकी मान्यता है। इस प्रकार की मान्यता यदि ईसाई व इस्लामी मत वाले भी देंगे तो वे भी 'हिन्दू धर्म' की व्यापक परिधि में आ जायेंगे।"[1]

इस प्रकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्पष्ट मानना है कि भारतीय 'धर्म' की अवधारणा 'रिलिजन' से पृथक है तथा यह शब्द (रिलिजन) 'धर्म' की पूर्ण अर्थाभिव्यक्ति करने में अक्षम है।

5.9- सामाजिक उत्सवों को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण-

भारतीय समाज, उत्सवधर्मी समाज है। यहाँ वर्षपर्यंत अनेक उत्सव अत्यन्त धूमधाम से मनाये जाते हैं। इन उत्सवों के माध्यम से किसी व्यक्ति, जाति और समाज के उल्लास की अभिव्यक्ति होती है। यह उल्लास किसी के जन्म पर हो सकता है, किसी के मिलन पर हो सकता है, किसी विजय या उपलब्धि पर हो सकता है या अन्य किसी सुखद अवसर पर हो सकता है। उत्सव अतीत की घटनाओं की स्मृति में ही नहीं, वर्तमान उपलब्धियों और भविष्य की आकांक्षाओं के लिए भी मनाये जाते हैं। दीपावली अतीत की सुखद घटना की याद में मनाया जाता है। कुछ उत्सव भविष्य में होने वाली सुखद सम्भावनाओं के लिए मनाये जाते हैं, जैसे- महाराष्ट्र में गणेशोत्सव के आयोजन का आरम्भ हिन्दू समाज में चेतना का संचार करने के लिए किया गया था। वर्तमान में उत्सव प्रायः हमारे सामाजिक-जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धियों पर मनाये जाते हैं, जैसे- भारत जिस दिन अंग्रेजों के शासन से मुक्त हुआ तो पूरा भारत उत्सवमय हो गया।

[1] यशस्वी भारत - मोहन भागवत, पृष्ठ संख्या- 07

समाज में उत्सव मनाने का प्रमुख कारण है- ‘संस्कार’। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सामाजिक उत्सवों को इसी नजरिए से देखता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के अनुसार- “समाज में चलने वाले अनेक उपक्रम, पर्व-त्योहार, अभियान इत्यादि का प्रारम्भ समाज प्रबोधन व संस्कारों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर हुआ।”[1] जब कोई मनुष्य या जाति या समाज किसी संस्कार को अपने लिए महत्वपूर्ण मान लेता है, तो उस गुण को अपनी भावी पीढ़ियों में भी प्रसरित होते देखना चाहता है। यही कारण है कि सभी समाज अपने-अपने जीवन-मूल्यों के अनुसार विविध प्रकार के उत्सवों की रचना करते हैं। स्वतंत्र भारत की बात करें तो हमारे लिए सबसे बड़ा जीवन-मूल्य है- ‘स्वतंत्रता’ और ‘स्वराज’, इसीलिए प्रतिवर्ष 15 अगस्त और 26 जनवरी को पूरा देश स्वतंत्रता और स्वराज का उत्सव मनाता है। उत्सवों के सम्बन्ध में डॉ. अशोक बत्रा अपने एक आलेख में लिखते हैं- “उत्सवों में होने वाले बाह्य आचार और कर्म प्रायः प्रतीकात्मक होते हैं। ये प्रतीक लोक-चर्चा के द्वारा स्वयं एक-दूसरे के साथ संवाद स्थापित करते हैं। जब होलिका का दहन होता है तो उसके कारण और परिणामों की चर्चा स्वयमेव होती है। जैसा पात्र होता है, वैसी ही चर्चाएँ और संवाद होते हैं, किन्तु मूल विचार और संस्कार अपना पथ अपने आप बनाते हुए लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। अनपढ़ समाज भी उत्सवों के मूल मर्म को गहराई से समझ लेता है। इसके लिए धुआँधार भाषणों की आवश्यकता नहीं होती।”[2]

विविध संस्थायें/संगठन अपने उद्देश्यों के प्रसार के निमित्त विविध प्रकार के उत्सवों का आयोजन करते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी संगठन के स्तर पर छह उत्सवों (वर्ष प्रतिपदा, गुरु पूर्णिमा, रक्षाबंधन, हिन्दू साम्राज्य दिवस, विजयदशमी और मकर संक्रांति) को मानता है। यहाँ पर ध्यान देने वाली बात है कि- ऐसा नहीं है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इन छह उत्सवों के अतिरिक्त अन्य उत्सवों को नहीं मनाता। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक समाज के साथ मिलकर समाज में प्रचलित सभी प्रकार के उत्सवों में सहभाग करते हैं। परन्तु संगठन के स्तर पर समाज के सभी उत्सवों का आयोजन करना सम्भव नहीं है, इसलिए संघ समाज में ही प्रचलित उत्सवों में से छह उत्सवों को चुनकर उन्हें संगठन के स्तर पर मुख्यरूप से मनाता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मुख्य ध्येय है- सम्पूर्ण हिन्दू-समाज का संगठन करके, देश को परमवैभव पर ले जाना। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्पष्ट मानना है कि भारत-भूमि, हिन्दू-

---

[1] यशस्वी भारत- मोहन भागवत, पृष्ठ संख्या- 114

[2] ‘सामाजिक संवाद के वाहक संघ के छह उत्सव’ (आलेख)- डॉ. अशोक बत्रा, मीडिया नवचिंतन पत्रिका, अंक- अक्टूबर-दिसम्बर-2017, पृष्ठ संख्या- 13

भूमि है। यहाँ की संस्कृति हिन्दू-संस्कृति है, जिसे विस्मृत कर देने से इसका गौरव मलिन हुआ है; इसलिए उस संस्कृति को सुदृढ़ करके ही भारत को परमवैभव पर ले जाया जा सकता है। अपने इसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसने समाज में प्रचलित छह उत्सवों को मुख्य रूप से चुना है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उत्सवों को समाज-प्रबोधन का एक माध्यम मानता है। उसका मानना है कि- प्रत्येक उत्सव का एक विशिष्ट प्रयोजन होता है, अगर उस प्रयोजन का विस्मरण हुआ तो, उत्सव तो चलता रहता है, परन्तु वह रूप बदलकर कभी-कभी भद्दा, निरर्थक बन सकता है। इसलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रत्येक पर्व/उत्सव को उसके मूल प्रयोजन को स्मृत रखते हुए मनाने का आग्रही है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के अनुसार- "प्रयोजन ध्यान में रखकर इन पर्वों के सामाजिक स्तर पर आयोजन का काल सुसंगत रूप गढ़ना चाहिए तो वह समाज-प्रबोधन का अच्छा साधन बन सकते हैं।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज में परम्परागत रूप से प्रचलित भारतीय संस्कृति के विविध उत्सवों को तो पूरी उत्सवधर्मिता से मनाने का आग्रही है ही, साथ ही सामाजिक उन्नयन के विविध उपक्रमों को भी उत्सव-रूप में कारित करने का भी उसका आग्रह रहा है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत कहते हैं- "वृक्षारोपण, स्वच्छ भारत अभियान, योग दिवस आदि उपक्रमों का उत्सव समाज में सामूहिकता, स्वावलंबन, सामाजिक संवेदना आदि अन्य गुणों के निर्माण की दृष्टि से ध्यान में आ सकता है। इसी बात को मन में लेकर संघ के स्वयंसेवक भी इन उपक्रमों में, उत्सवों में समाज के साथ सहभागी होकर उनको अधिक सुव्यवस्थित, सुन्दर व प्रभावी बनाने में समाज का सहयोग कर रहे हैं।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक संगठन द्वारा निर्धारित छह उत्सवों को तो पूरी उत्सवधर्मिता के साथ मानते ही हैं साथ ही साथ समाज में प्रचलित विविध प्रकार के अन्य उत्सवों (धार्मिक, पांथिक व राष्ट्रीय सभी प्रकार के) में भी पूर्ण सहभागिता करते हैं, ताकि समाज में

[1] सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी कहते हैं- "महाराष्ट्र में सार्वजनिक गणेश मण्डलियों द्वारा अनेक स्थानों पर अच्छे प्रयोग किए गए हैं। वर्ष प्रतिपदा पर नववर्ष मनाने की अनेक उपयुक्त कल्पनाएं सामने आई हैं। समाज में ऐसे सुधारित उपक्रमों का प्रोत्साहन सहयोग तथा अनुकरण होने की आवश्यकता है।"(यशस्वी भारत- मोहन भागवत, पृष्ठ संख्या- 114-115)

[2] यशस्वी भारत- मोहन भागवत, पृष्ठ संख्या- 115

सामूहिकता, बंधुत्व व सामाजिक संवेदना का प्राचुर्य हो सके। उत्सवों को भारतीय संस्कृति का अभिज्ञान कराने वाले एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देखता है।

5.10- 'खानपान' और 'वेशभूषा' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण-

सांस्कृतिक चिन्तन के क्रम में भौतिक आवश्यकताओं की अवहेलना तो नहीं की जा सकती, पर उन्हें गौण स्थान दिया जा सकता है। खानपान के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि सुसंस्कृत व्यक्ति भोजन करता है, पर केवल इसलिए कि यह कार्य शरीर-यात्रा के लिए, जीवित रहने के लिए परमावश्यक है। इसलिए नहीं की खाने में जीभ का स्वाद है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का यह भी मानना है कि व्यक्ति के आहार का उसके विचार पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए वह तमोवृत्ति वर्धक भोज्य पदार्थों के सेवन से बचने का आग्रह करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी कहते हैं- "अगर आप गलत खाना खाते हैं, तो आपके मन में गलत विचार उत्पन्न होंगे फलतः आप गलत रास्ते पर जायेंगे, इसलिए तामसिक भोजन से बचें।"[1]

भोज्य पदार्थों की प्रकृति (शाकाहार या माँसाहार) को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्पष्ट मानना है कि- "भोज्य पदार्थों का विकल्प अन्य कारणों के अलावा स्थान विशेष की भौगोलिक बनावट और जलवायु परिस्थितियों पर आधारित होता है।"[2] यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ स्थानीय प्रकृति के अनुसार भोज्य पदार्थों के सेवन की बात करता है। माँसाहार की बात करें तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आलोचक उसे आँख मूँदकर शाकाहार का समर्थक तथा माँसाहार का विरोधी बताते हैं। जबकि उनका यह दावा सत्य से मीलों दूर है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में किसी भी भोज्य पदार्थ को लेकर प्रतिबन्ध जैसी कोई बात ही नहीं है। हाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आहार-संयम का आग्रही अवश्य है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत कहते हैं- "भारत में जो लोग माँस या मछली खाते हैं, वे भी नियम-संयम का पालन करते हैं। ऐसे लोग सावन के महीने में या सप्ताह में निर्धारित किसी दिन माँस नहीं खाते। वे खुद पर कुछ नियम-अनुशासन बनाते हैं, ताकि उनका मन एकाग्र हो सके।"[3]

---

[1] https://www.aajtak.in/india/news/story/rss-chief-mohan-bhagwat-advice-to-those-who-eat-meat-follow-discipline-ntc-1547098-2022-09-30

[2] https://www.hindustantimes.com/india-news/no-one-can-put-curbs-on-food-choices-rss-leader-101663178274168.html

[3] https://www.aajtak.in/india/news/story/rss-chief-mohan-bhagwat-advice-to-those-who-eat-meat-follow-discipline-ntc-1547098-2022-09-30

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राष्ट्र शक्ति के आराधन हेतु सक्षम शारीरिक और मानसिक सुपुष्टता को पोषित करने में सक्षम भोज्य पदार्थों के सेवन की बात करता है, भले ही उनकी प्रकृति कुछ भी हो।

परिधान के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दृष्टि- उपयोगितावादी है, फैशन की नहीं। कोई भी सुसंस्कृत व्यक्ति कपड़ा तो पहनेगा; पर इसमें उसका उद्देश्य केवल लज्जा निवारण या शरीर की सर्दी-गर्मी से रक्षा करना होगा, समाज में अपनी अमीरी की घोषणा करना या आदर-प्रतिष्ठा पाना नहीं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की वस्त्रों को लेकर दृष्टि- समाज में प्रचलित भारतीय दृष्टि ही है, इतर नहीं। वस्त्र साफ-सुथरे हों, पहनने वाले के लिए आरामदायक हों, यह महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रतिबिंबन का एक माध्यम उसका वस्त्र-विन्यास भी होता है, इसलिए अपने परिधान के प्रति थोड़ी सजगता आवश्यक है।

5.11- संगीत और कला को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिन्तन-

संगीत- एक जादुई शब्द, जिसकी अखिल ब्रह्मांड में परिव्याप्ति है। भारतीय परम्परा में माना जाता है कि मानव-सृष्टि के अस्तित्व में आने से पूर्व ही इस ब्रह्मांड में 'प्रकृति का संगीत' अस्तित्व में था। संगीत की उत्पत्ति का पता लगाना आसान नहीं है, लेकिन यह स्पष्ट है की प्रकृति ही सभी प्रकार के संगीत का स्रोत है।

संगीत के प्रति भारतीय दृष्टि, विश्व की अन्य दृष्टियों से थोड़ी विशिष्ट है। भारतीय परम्परा में संगीत को सत्य, करुणा और पवित्रता उत्पन्न करने वाला माना जाता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ संगीत को अत्यधिक महत्व प्रदान करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में संगीत की महत्ता के बारे में बताते हुए सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत कहते हैं- "संगीत की विशेषता के कारण ही संघ की स्थापना के दो-तीन साल में ही कार्य-पद्धति में संगीत को स्वीकार कर लिया गया था। इसके माध्यम से गाने वाले और सुनने वाले (गायक और श्रोता) दोनों संस्कारित होते हैं। सामूहिक स्वर में सबके साथ रहने से संस्कार पैदा होता है, समस्वरता से समरसता का भाव पैदा होता है। हम विविधता में एकता को देखें, इसलिए प्रांगणिक संगीत और वादन का चलन संघ में है।"[1]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना (1925 ई.) के समय स्वयंसेवक सिर्फ व्यायाम व चर्चा ही करते थे। धीरे-धीरे बड़े स्तर पर शारीरिक और बौद्धिक कार्यक्रम होने लगे। शारीरिक व्यायाम में शनैः शनैः समता और संचलन का

[1] https://www.rss.org/hindi/Encyc/2017/11/7/SwaraGovindam.html

अभ्यास आरम्भ हुआ। संचलन के समय संघ के शारीरिक-विभाग ने महसूस किया कि यदि संचलन के साथ घोष, वाद्य का प्रयोग किया जाये तो इसकी रोचकता, एकरूपता, सांघिकता व उत्साह में वृद्धि सम्भव है। परिणामस्वरूप वर्ष 1927 ई. में संघ के शारीरिक विभाग में 'घोष' को शामिल कर लिया गया। प्रारम्भ में संचलन में पाश्चात्य शैली के बैंड पर, उनके ही संगीत पर आधारित रचनाएं बजाई जाती थीं। शीघ्र ही संघ के स्वयंसेवकों को यह आभास हो गया कि यह घोष व्यवस्था (पाश्चात्य संगीत पर आधारित) उनके लक्ष्य-साधन में उपयुक्त नहीं है। अतः कुछ स्वयंसेवकों ने भारतीय नाद-परम्परा पर आधारित परम्परागत भारतीय वाद्यों के अनुकूल रचनाएं तैयार करने का उद्यम किया। इस प्रकार स्वयंसेवकों ने राग केदार, भूप, आशावरी आदि रागों में पगी हुई रचनाओं की सर्जना की। स्वयंसेवकों ने- "घोष-वाद्यों को देसी नाम प्रदान कर, उन्हें अपनी संगीत-परम्परा के अनुकूल बनाकर उनका भारतीयकरण किया। इस क्रम में साइड ड्रम को आनक, बॉस ड्रम को पणव, ट्रायंगल को त्रिभुज, विगुल को शंख आदि नाम दिये जो की ढोल, मृदंग आदि नाम की परम्परा में ही समाहित होते हैं।"[1] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की परम्परागत वाद्यों- शंख, आनक, वंशी से आरम्भ हुई घोष-यात्रा आज नागांग, स्वरद आदि अत्याधुनिक वाद्यों पर मौलिक रचनाओं के मधुर वादन तक पहुँच गयी है।[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने घोष-विभाग के माध्यम से जिन मूल्यों का विकास स्वयंसेवकों में करना चाहता है, उसके बारे में विस्तार से बताते हुए सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत कहते हैं- "संघ में घोष वादक को संगीत बजाने के लिए कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता। विभिन्न आयु वर्ग और अलग-अलग चाल-ढाल के ये वादक 'पेशेवर वादक' नहीं हैं।......ये वादक अपने मनोरंजन या प्रसिद्धि के लिए नहीं वरन् राष्ट्र सेवा के लिए संगीत रचना करते हैं। राष्ट्र हमें बहुत कुछ देता है, हमें भी कुछ देना चाहिए- यही इस घोष वादन का पहला संस्कार है। दूसरा संस्कार- दुनिया कहती थी हम महफिल में गा सकते हैं, सामूहिक वादन-गायन कर सकते हैं, लेकिन हमारा संगीत शौर्य, बल, वीर्य पैदा करने वाला नहीं है। ये बात हमें खलती थी कि प्रांगण में जमा होकर रण-संगीत गायन की परम्परा हमारे यहाँ नहीं है। हमारे पास संचलन के लिए संगीत नहीं था। हमने अंग्रेजों से रचनाएं उधार लीं। प्रांगणिक संगीत की सूक्ष्म बातें तैयार

---

[1] संघ में घोष की विकास यात्रा (आलेख)- डॉ. रामकिशोर उपाध्याय, पाञ्चजन्य पत्रिका

[2] अब तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का घोष-विभाग स्वयंसेवकों के परिश्रम से इस अवस्था में पहुँच गया है कि- भारतीय सेनाओं द्वारा, स्वयंसेवकों द्वारा तैयार धुनों का वादन किया जाता है। 1982 ई. में एशियाड के उद्घाटन समारोह में भारतीय नौसेना दल द्वारा स्वयंसेवकों द्वारा निर्मित रचना 'शिवराज' का वादन किया गया था। सेना द्वारा अब तक स्वयंसेवकों द्वारा निर्मित चालीस से अधिक रचनाओं का वादन विभिन्न अवसरों पर किया जा चुका है। (संघ में घोष की विकास यात्रा (आलेख)- डॉ. रामकिशोर उपाध्याय, पाञ्चजन्य पत्रिका)

कीं और फिर भारतीय रागों पर आधारित रचनाएं तैयार कीं। भारत विश्व में कहीं से भी सभी अच्छी बातों को स्वीकार करता है, लेकिन किसी पर निर्भर नहीं होता है। तीसरा संस्कार- आत्मसंयम है। जैसा निर्धारित किया जाता है, वैसे सामूहिक रूप से बजाया जाता है। वादक स्वयं की इच्छा से वादन नहीं कर सकता। हमें संयम रखते हुए सामूहिक रूप से संगीत तैयार करना होता है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज में समरसता, ऐक्य, आत्म-संयम आदि भावों के संस्कार हेतु संगीत की साधना संगठन स्तर पर करता है।

कला के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिन्तन का पता राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत के एक वक्तव्य से चलता है जिसमें वे कहते हैं- "कला केवल मनोरंजन के लिए नहीं, बल्कि उन्नयन के लिए भी होती है।"[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कला को विलास से विलग करने की पक्षधरता रखते हुए उसे जीवन को, समाज को, संसार को सुरुचिपूर्ण बनाने के माध्यम के रूप में देखने का आग्रही है। सुविख्यात कला मर्मज्ञ डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं- "कलात्मक रूपों का ही नाम संस्कृति है। कला के द्वारा जो रूप उत्पन्न होते हैं उससे संस्कृति का क्षेत्र भरता है और संस्कृति की काया पुष्ट होती है। कला कुतूहल या विलास मात्र नहीं है। यह वर्तमान और भावी जीवन की आवश्यकता है।"[3] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भांति डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल भी कला को विलास का साधन नहीं मानते। वे लिखते हैं- "कला विलास के लिए नहीं होनी चाहिए। विलास कला का पतन है। कालिदास के सामने यही समस्या थी। उन्होंने गुप्तकालीन नर-नारियों के कला-विषयक दृष्टिकोण को रखते हुए लिखा है- 'न रुपं पापवृत्तये' (कुमारसम्भव) अर्थात् हमें रूप तो चाहिए, किन्तु पाप की भावना नहीं।"[4]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि यदि कला की भली प्रकार से उपासना की जाये तो वह जीवन में चैतन्यता भरने के लिए ईश्वरीय प्रसाद से कम नहीं है। जीवन में (चाहे वह समाज जीवन हो या व्यक्ति जीवन) कला की

---

[1] https://www.rss.org/hindi/Encyc/2017/11/7/SwaraGovindam.html

[2] कला सिर्फ मनोरंजन नहीं,इससे उन्नयन भी होता है : मोहन भागवत, https://www.jagran.com/delhi/new-delhi-city-ncr-art-is-not-just-entertainment-it-also-enhances-says-rss-chief-mohan-bhagwat-22671539.html

[3] कला और संस्कृति- वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 145

[4] 'जिस समय गुप्तों के समान ही कभी यूनानियों का अभ्युदय था, कला की उपासना बढ़ी-चढ़ी थी, एथेंस के मार्गदर्शक पेरिक्लीस ने जनता को सावधान करते हुए संबोधन किया था- "हमें कला चाहिए विलास नहीं, हम विज्ञान की उपासना करते हैं लेकिन मानव का नाश नहीं चाहते।' (कला और संस्कृति- वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ संख्या- 145)

अपूर्व महत्ता को देखते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का एक प्रकल्प 'संस्कार भारती'[1] नाम से साहित्य, रंगमंच एवं कलाओं के क्षेत्र में कार्यरत है। इस प्रकल्प का उद्देश्य- कलाओं की सृजनात्मकता, सामाजिकता तथा शिक्षाप्रदता का संवर्धन करना और मानव को- सत्यम् शिवम् सुन्दरम्- के परमानंद की अनुभूति कराना है। कला हमें प्रेरित करती है और हमारे जीवन में उदात्तता का संचार करने में सहायक होती है। कला, करुणा तथा मानवीयता का योग हमारे सामाजिक जीवन को उदात्तता प्रदान करता है। संस्कार भारती की संकल्पना का उद्देश्य इस शाश्वत सिद्धान्त को पुनर्स्पष्ट करना और कला के प्रत्येक रूप को उसके वैभव के उच्च-सिंहासन पर विराजमान करना है। संघ विचारक दत्तोपंत ठेंगड़ी जी इस संस्था की स्थापना के उद्देश्य को बताते हुए लिखते हैं- "संस्कार भारती, कला अर्थात् 'हिन्दू कला' के माध्यम से 'संस्कार-रोपण' के अध्याय को पूरा करना चाहती है।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जिस परम वैभवी राष्ट्र के निर्माण के निमित्त अपनी सांस्कृतिक अवधारणा के आधार पर प्रयासरत है, उसमें कलाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि वह 'संस्कार भारती' जैसे अखिल भारतीय स्तर पर कार्यरत प्रकल्प के जरिए इस क्षेत्र में कार्यरत है।

5.12- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लिए 'राष्ट्रवाद' का सीधा-सा अर्थ है- राष्ट्र के प्रति अडिग निष्ठा रखते हुए, उसे परमवैभवी बनाने के निमित्त कटिबद्ध रहना। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राष्ट्रवाद का अधिष्ठान भारत-भूमि की संस्कृति है। भारतीय-संस्कृति या हिन्दू-संस्कृति के मूल्यों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्र-शक्ति का आराधन ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक

---

[1] **संस्कार भारती-** संस्कार भारती की स्थापना कला के क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना लाने के उद्देश्य को ध्यान में रखकर की गई थी। इसकी स्थापना की पृष्ठभूमि में भाऊराव देवरस, विख्यात पुरातत्वविद् पद्मश्री हरिभाऊ वाकणकर, नानाजी देशमुख और माधवराव देवल जैसे चिंतक स्वयंसेवकों का चिन्तन व परिश्रम था। संस्कार भारती की बीजरूप-संकल्पना 1954 ई. में प्रस्फुटित हुई थी। वर्ष 1981 ई. में लखनऊ में इसकी विधिवत स्थापना की गई। 'सा कला या विमुक्तये' (कला वह है जो उर के बन्धनों को काटकर मुक्ति प्रदान करती है।) के ध्येय वाक्य के साथ प्रारम्भ हुआ यह प्रकल्प आज अपनी लगभग डेढ़ हजार इकाइयों के साथ अखिल भारतीय स्तर पर कार्यरत है। संस्कार भारती, समाज के विभिन्न वर्गों में कला के द्वारा राष्ट्रभक्ति एवं योग्य संस्कार जगाने, विभिन्न कलाओं का प्रशिक्षण व नवोदित कलाकारों को प्रोत्साहन देने का कार्य कर रही है। संस्कार भारती 'कला साधक संगम' नाम से वार्षिक अधिवेशन भी आयोजित करती है, जिसमें संगीत, नाटक, चित्रकला, साहित्य और नृत्य आदि विधाओं के देशभर के नवोदित व स्थापित कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।

[1] हमारा सांस्कृतिक चिंतन- सुरेश 'भय्याजी' जोशी, पृष्ठ संख्या- 99-100

[2]'हिन्दू कला दृष्टि: संस्कार भारती क्यों ?'- दत्तोपंत ठेंगड़ी, ष्ठ संख्या-08

संघ का 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह रहे सुरेश सदाशिव जोशी उपाख्य 'भय्याजी' लिखते हैं- "यहाँ की (भारत-भू की) संस्कृति का मनन व चिन्तन, यही हमारा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है।"[1]

महर्षि अरविंद राष्ट्रवाद के लिए धर्म के अधिष्ठान को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। वे तो यहाँ तक लिखते हैं कि- "हम भारतीयों के लिए 'धर्म' ही राष्ट्रवाद है। धर्म के साथ यह राष्ट्र गति करता है।"[2]

जैसा कि पूर्व में ही लिखा गया है कि भारतीय-संस्कृति सम्बन्धी चिन्तन ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद का अधिष्ठान है, इसलिए दोहराव से बचने के लिए संक्षेप में ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक रहे श्री गुरुजी राष्ट्रवाद के बारे में चिन्तन करते हुए बताते हैं कि राष्ट्रवाद दो प्रकार का होता है- एक है 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' और दूसरा है 'राजनीतिक राष्ट्रवाद'। श्री गुरुजी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा के बारे में लिखते हैं- "जब हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की कल्पना करते हैं, जो विचार रखते हैं, वह सारी दुनिया के सामने मानवता का, मानवीयता का संदेश देने वाला विचार है। सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद शास्त्र के आधार पर, जीवन-मूल्यों के आधार पर, जीवन-शैली के आधार पर, श्रेष्ठता के आधार पर है और इसीलिए हम लोग ही कह सकते हैं की-'सर्वे भवंतु सुखिनः' हम लोग ही कह सकते हैं- 'वसुधैव कुटुंबकम्' और 'विश्व का कल्याण हो'- ऐसी उद्घोषणा हम ही कर सकते हैं।....यही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है।"[3]

स्पष्टरूप से हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा के पीछे की मूल भावना- सनातन धर्म व संस्कृति द्वारा कायम सार्वभौमिक और एकीकृत धर्म-केंद्रित वैश्विक दृष्टिकोण और जीवन दृष्टि है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि राष्ट्र को प्रगति के सुपथ पर अग्रसरित करने के लिए समाज को संगठित करते हुए, उसके अन्दर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चेतना को जागृत करना होगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह रहे सुरेश जोशी उपाख्य 'भय्याजी' कहते हैं- "हमारे समाज में इतने सारे देवी-देवता हैं, इसके बाद भी हम 'भारत माता

---

[1] हमारा सांस्कृतिक चिंतन- सुरेश 'भय्याजी' जोशी, पृष्ठ संख्या- 99-100

[2] हृदयनारायण दीक्षित, दैनिक जागरण समाचार पत्र, 4 जनवरी 2003

[3] श्री गुरुजी के अनुसार- 'राजनीतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा नकारात्मक है। वह विस्तारवाद का संदेश देता है, साम्राज्य के विस्तार की कल्पना करता है। यह दूसरों के अस्तित्व को समाप्त करके अपना प्रभुत्व स्थापित करने का विचार रखता है।' (उद्धरित, 'हमारा सांस्कृतिक चिंतन'- सुरेश 'भय्याजी' जोशी, पृष्ठ संख्या- 89)

की जय' और 'वंदे मातरम्' कहते हैं।.....यह जो भाव मन में जागृत होता है जिससे अनुप्राणित होकर हम 'भारत माता की जय' या 'वंदे मातरम्' कहते हैं- यही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का भाव है।" स्वामी विवेकानंद के शब्दों को उद्धरित करते हुए सुरेश जोशी जी आगे कहते हैं- "स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि आने वाले दो सौ, ढाई सौ, चार सौ वर्षों तक अपने सारे देवी-देवताओं को कपड़े में बाँधकर रख दो। एक ही देव का पूजन करो। वह देव हैं- 'भारत माता'। उनकी ही जय-जयकार करो। भारत माता की जय का यह भाव जितना पुष्ट होता जायेगा, उतना सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जागृत होगा और पुष्ट भी होगा।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, संस्कृति की मूलभूत बातों को आधार बनाकर 'वसुधैव कुटुंबकम्' और 'सर्वे भवंतु सुखिनः' के भाव से अनुप्राणित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की बात करता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की यह अवधारणा समाज को संगठित करने का एक अटूट और सशक्त माध्यम तो है ही, साथ ही साथ 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' की उदात्त भावना से अनुप्राणित भी है।

समाज में संस्कृति के प्रति गौरव-बोध को जागृत करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से और अधिक कार्य करने की अपेक्षा समाज को और समाज के प्रबुद्ध वर्ग को है। संस्कृति के प्रसार व उसके गौरव-बोध को जगाने के निमित्त सरकारी उदासीनता से क्षुब्ध सुविख्यात साहित्यकार अज्ञेय, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को इस निमित्त सक्षम जानकर उसकी ओर अपेक्षा भरी निगाह से देखते हैं कि वह समाज में संस्कृति के प्रति गौरव का भाव उत्पन्न करने के लिए प्रभावी प्रयत्न करे। अज्ञेय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से अपनी यह अपेक्षा शिकायती अंदाज में अपने एक निबन्ध में अभिव्यक्त भी करते हैं। वे लिखते हैं- "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी, जो स्वयं अपने दावे के अनुसार एक सांस्कृतिक संगठन है,(और जहाँ तक संगठन का प्रश्न है, उसके समर्थ होने में कोई संदेह नहीं है।) इस दिशा में (भारतीय संस्कृति के प्रति गौरव का भाव उत्पन्न करने की दिशा में) कुछ प्रयत्न किया हो तो उसका लक्षण कहीं नहीं दीखता। जो लक्षण दीखते हैं वे इस बात के कि उसने धर्म-संस्कार की रक्षा के मामले में एक आक्रामक नहीं तो संघर्षणशील प्रवृत्ति को तो उकसाया, लेकिन संस्कृति के प्रति गौरव का भाव उसने भी नहीं जगाया।"[2] अज्ञेय की अपेक्षा सही है, और जहाँ तक भारतीय संस्कृति के प्रति गौरव-बोध जगाने के प्रयास का प्रश्न है, तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक

---

[1] 'हमारा सांस्कृतिक चिंतन'- सुरेश 'भय्याजी' जोशी, पृष्ठ संख्या- 106

[2] अज्ञेय रचनावली (खण्ड-11)- सम्पादक- कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ संख्या- 232

संघ तो अपनी स्थापना-काल से ही भारतीय संस्कृति के प्रति गौरव-बोध जगाने के लिए कार्यरत है। शताब्दियों से 'स्व' को बिसर गये समाज में उसकी आन, मान और मर्यादा का 'ध्यान और अभिमान' जागृत करने का कार्य क्षण-भर में हो जाये ऐसा सम्भव भी नहीं। भारतीय संस्कृति के प्रति गौरव-बोध का इससे बेहतर उदाहरण और क्या हो सकता है कि- जब समाज में स्वयं को 'हिन्दू' कहने में ही हीनता-बोध की भावना तत्कालीन (तथाकथित) शिक्षित और बुद्धिजीवी महसूस कर रहे हों, तब कोई डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार भी था, जो गर्जना के साथ यह उद्घोष करता है कि- "मैं डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार घोषणा करता हूँ कि मैं 'हिन्दू' हूँ।"[1] इसके बावजूद अज्ञेय जी की उक्त टिप्पणी से यह भाव अवश्य ग्रहण किया जाना चाहिए कि- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को समाज में भारतीय संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन व उसके प्रति गौरव-बोध का भाव जगाने के प्रयासों को सघनतम करने की आवश्यकता है। किसी भी राष्ट्र का अधिष्ठान उसकी गौरवशाली संस्कृति पर ही आधारित होता है, अतः परमवैभवी राष्ट्र की उपासना सांस्कृतिक गौरव-बोध के भाव से ही सम्भव है।

प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित चिन्तन को प्रस्तुत किया गया है। संघ का मानना है कि 'भारतीय-संस्कृति', 'हिन्दू-संस्कृति' का पर्यायी-शब्द है, तथा भारत 'हिन्दू-राष्ट्र' है। इसी क्रम में हिन्दू- संस्कृति की आत्मा, तथा उसके सेवा-भाव को इस अध्याय में विवेचित किया गया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत को 'हिन्दू-राष्ट्र' मानता है; एतत सम्बंधी संघ दृष्टिकोण को विवेचित करते हुए राष्ट्र सम्बन्धी सनातन भारतीय दृष्टिकोण को भी इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। 'धर्म' संस्कृति का महत्वपूर्ण स्तम्भ है। संघ का मानना है कि भारतीय धर्म की अवधारणा पाश्चात्य 'रिलिजन' की अवधाणा से सर्वथा विलग है। इस अध्याय में इससे सम्बन्धित संघ के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है, तथा सामाजिक-उत्सव, खान-पान, वेश-भूषा, कला व संगीत से सम्बद्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चिन्तन को भी विवेचित किया गया है। संघ की 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा' को भी इस अध्याय में स्पष्ट करने का प्रयास गया है।

[1] आर.एस.एस. 360°–रतन शारदा, पृष्ठ संख्या- 96-97

उपसंहार

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपनी विविध सामजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से सम्पूर्ण देश-दुनिया में सुविख्यात है। पूरे देश में संघ के प्रति दो प्रकार की मानसिकता वाले लोग हैं- एक वे लोग हैं जो संघ के समाजोत्थान, सांस्कृतिक संरक्षण तथा अन्य गतिविधियों के कारण उसके अनन्य प्रशंसक हैं तो दूसरे संघ की वैचारिकी से अपनी विचारधारा को खतरे में जानकर उसके मुखर आलोचक। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में अपने विरोधियों के प्रति रत्ती भर भी दुराव का भाव नहीं है। 'निंदक नियरे राखिये' के सिद्धान्त के अनुसार संघ सदैव अपने आलोचकों से आग्रह करता है कि वे संघ की गतिविधियों के स्वयं साक्षी बनें तदुपरान्त अगर उन्हें कोई व्यवस्था में कमी नजर आये तो उस पर टिप्पणी करें। संघ नेतृत्व उन टिप्पणियों पर विचार करके यथोचित कार्यवाई करेगा। संघ का यही खुलापन तथा स्वीकार का भाव उसे एक संगठन के रूप में यशस्वी बनाता है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने संघ-स्थापना के समय तत्कालीन विविध स्वयंसेवी संगठनों का बड़ी ही बारीकी से अवलोकन व अध्ययन किया था। वे स्वयं कुछ स्वयंसेवी संगठनों में सहभागी हुए थे, कुछ की संरचना उन्होंने की थी और कुछ का नेतृत्व भी किया था। इन सभी अनुभवों से गुजरने के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि ऐसे स्वयंसेवी संगठनों, दलों, पंथकों या संस्थाओं के लिए निर्धारित उत्सव, समारोह आदि के बाद कोई काम नहीं रहता। उनका निर्माण किन्हीं कार्यविशेष के लिए ही होता है और उस कार्य की समाप्ति के बाद ये कुछ काम नहीं करते। राष्ट्र जीवन के सुख-दुःख, उत्थान-पतन आदि से उनका कोई वास्ता नहीं होता। ये स्वयंसेवक दल किसी विशिष्ट संस्थाओं से सम्बद्ध होते हैं। डॉ. हेडगेवार इस प्रकार का कोई संगठन नहीं खड़ा करना चाहते थे। डॉ. हेडगेवार का मानना था कि हमारे राष्ट्र पर हजारों वर्षों से जो कष्टों का दुर्धर्ष पहाड़ खड़ा है, इसके तात्कालिक व बाह्य कारण अनेक रहे हैं, परन्तु मूल में हमारी अपनी ही आत्म-विस्मृति, समाज की विघटित भेद-जर्जरित अवस्था, स्वार्थपरकता तथा संवेदनशून्यता ही उसका मुख्य कारण है। इस लम्बे कालखण्ड में भारत-भू पर अनेक महापुरुष अवतीर्ण हुए और उन्होंने राष्ट्र व समाज को अपने पाश में जकड़े हुए इन कष्टों तथा पराधीनता के पंजों से मोचित करने का प्रयास किया, उनका प्रयास यशस्वी भी हुआ, मगर उनके इस धरा-धाम से गमन करने के पश्चात् उनके द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुगमन न कर यह समाज पुनः उन्हीं दोषों के अधीन हो गया। सभी महापुरुषों ने महसूस किया था कि अपने राष्ट्र के स्वरूप व एकात्मता की स्पष्ट कल्पना समाज-मन में जागृत कर संगठित,

संवेदनशील व गुणसम्पन्न रूप में उसको सदा के लिए खड़ा करना, यही समाज व राष्ट्र के शाश्वत भाग्य-परिवर्तन का एकमात्र उपाय है। परन्तु इस कार्य को करने के लिए उस पर केन्द्रित होना व समय देना उनके लिए किन्हीं कारणों से सम्भव नहीं हो पाया था। इन सबके सामूहिक निष्कर्ष को ध्यान में रखकर इस कार्य को करने वाले कार्यकर्ताओं का देशव्यापी समूह खड़ा करने के लिए 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' की स्थापना डॉ. हेडगेवार ने की। समाज में एकात्मता, देशभक्ति, समर्पण, आत्मविश्वास, अनुशासन तथा अन्य गुणों का निर्माण कर उनको एक सूत्रबद्ध संगठित व्यवहार की आदत बना सकने वाले कार्यकर्ताओं के निर्माण की कार्यपद्धति ही 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बाहरी स्वरूप देखकर समाज में व्याप्त विविध प्रकार की विसंगतियों के निरसन से तथा राष्ट्र की परमवैभव की प्राप्ति से उसका क्या सम्बन्ध है ? इसे समझना मुश्किल है। संघ-कार्य जब अपनी शैश्वावस्था में था तब देश में उसका प्रसार तथा स्वयंसेवकों की संख्या कम थी। उस समय संघ के स्वयंसेवकों की बड़ी संख्या व्यक्ति-निर्माण के संघ-कार्य में ही केन्द्रित होकर संघ के अंदर ही सक्रिय रही। वह ऐसा समय था जब संघ की कार्य-दृष्टि को राष्ट्र-निर्माण के सन्दर्भ में समझना भी कठिन था व दिखाकर समझाने के लिए उदाहरण भी स्थापित नहीं हुए थे। परन्तु जैसे-जैसे संघ के प्रसार व स्वयंसेवकों की संख्या में वृद्धि हुई, समाज के दुःख-सुख में सहभागी होकर समस्या-निरसन, वातावरण-परिष्करण तथा राष्ट्र की सुरक्षा, एकात्मता व उत्थान आदि के लिए संघ-कार्यों का दायरा और उद्यम भी उसी मात्रा में वृद्धिगत हुआ। वर्तमान में जब संघ अपनी स्थापना के सौ बरस पूर्ण करने से सिर्फ एक बरस दूर है तब समाज जहाँ एक ओर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के 'व्यक्ति-निर्माण' के देशव्यापी विस्तार को देख रहा है, वहीं दूसरी ओर संघ की व्यक्ति-निर्माण की प्रयोगशाला (शाखा) से निकले स्वयंसेवकों की निःस्वार्थ सेवा भी उनके सम्मुख है। वह विविध संगठनों, आयामों, प्रकल्पों तथा गतिविधियों के रूप में समाज-जीवन के सभी क्षेत्रों में समस्या-समाधान, जीवनपरिष्कार तथा सामाजिक उद्यम खड़ा करने में अग्रणी व यशस्वी होता हुआ दिखायी दे रहा है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पहचान एक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन के रूप में है। भाषा, संस्कृति का एक अंग है। संस्कृति के अन्तर्गत समाहित किये जाने वाले सभी घटक अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा पर आश्रित रहते हैं। भाषा ही वह माध्यम है जिससे संस्कृति के घटक संगठित होते हैं, परिभाषित होते हैं तथा व्याख्यायित होते हैं। इस प्रकार भाषा मात्र संप्रेषण और ज्ञानवृद्धि का माध्यम ही नहीं वरन् उन सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों की वाहक भी है, जो मानव सभ्यता का आधार स्तम्भ हैं। भाषा किसी भी व्यक्ति एवं समाज की पहचान का एक महत्वपूर्ण घटक

तथा उसकी संस्कृति की सजीव संवाहिका होती है। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हमेशा इस बात के लिए प्रयासरत रहा है कि भारतीय संस्कृति पर, राष्ट्र पर विदेशी आक्रान्ताओं के शासनकाल में थोपी गयी विदेशी भाषाओं के बरक्स भारतीय समाज की भाषाओं को वरीयता दी जानी चाहिए। राष्ट्र की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी जब देश में प्रशासनिक भाषा के रूप में एक विदेशी भाषा का ही आधिपत्य बना रहा तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने इसका विरोध किया। उसने तत्कालीन सरकार से माँग की कि हमारे देश का प्रशासन हमारी अपनी भाषा में ही संचालित किया जाये। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्पष्ट मत है कि कोई भी विदेशी भाषा, इस राष्ट्र की प्रतिभा की न तो अभिव्यक्ति कर सकती है और न ही उसके विकास में सहायक हो सकती है। यदि हमें हमारी गौरवशाली संस्कृति को संरक्षित करना है, उसका संवर्धन करना है तो हमें स्वभाषा की अनुप्रयुक्ति करनी ही होगी। और फिर वह भाषा हमारी उन्नति का आधार कैसे हो सकती है जो हमारी संस्कृति के अभिव्यक्ति की माध्यम भाषा ही नहीं है ? भारतीय संस्कृति के ज्ञान के अपरिमित कोश से आमजन को परिचित करवाने के लिए संघ 'संस्कृत भाषा' के अध्ययन-अध्यापन का पक्षधर है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सुविचारित मत है कि- संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन से भारत की नवोदित पीढ़ी को जोड़ना अत्यावश्यक है जिससे वह भारतीय संस्कृति एवं प्राचीन भारतीय ज्ञान-परम्परा की अमूल्य निधि से परिचित हो सके। संघ अपने स्तर पर संस्कृत भाषा से आमजन को परिचित करवाने व आधुनिक ज्ञान-परम्परा से जोड़ने के लिए ('संस्कृत भारती' प्रकल्प के माध्यम से) प्रयासरत भी है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि कोई भी विदेशी भाषा अपने साथ विदेशी संस्कृति एवं जीवन के विदेशी प्रतिमान अवश्य लाती है। और विदेशी जीवन प्रतिमानों की जड़ अपने यहाँ जमने देना अपनी स्वयं की संस्कृति का मूलोच्छेद करना होगा। हाँ, विश्व की विविध भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान-सम्पदा को अर्जित करने के लिए उन भाषाओं का अध्ययन करना और उनके बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करना कोई बेजा बात नहीं है, मगर उन्हें अपनी मातृभाषा से अधिक वरीयता देना अवश्य अनुचित है। वर्तमान में जब हमारी भारतीय जीवन पद्धति पर भौतिकतावादी पाश्चात्य सभ्यता का अतिरेकी प्रभाव हावी होता जा रहा है तब संघ की उक्त बात अवश्य विचारणीय होनी चाहिए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज की अस्मिता को कुण्ठा व आत्म-विस्मृति से बचाने के लिए समाज की विविध भाषाओं के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु प्रतिबद्ध है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भाषा को राष्ट्र की एकता को कमजोर करने वाले कारक के रूप में परिणत नहीं होने देना चाहता, इसीलिए उसने प्रारम्भ से ही भाषावार प्रान्तों के गठन का विरोध किया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत में बोली जाने वाली समस्त भाषाओं को यहाँ की राष्ट्रीय भाषाएँ मानता है। पर चूँकि अन्य सभी भाषाओं का व्यवहार-क्षेत्र सीमित है और हिन्दी का व्यवहार-क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तीर्ण है, यही कारण है कि वह हिन्दी को देश की 'सम्पर्क-भाषा' के रूप में स्वीकार का हिमायती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सम्पूर्ण समाज को संगठित करता चाहता है, न कि उनमें अपना अलग संगठन खड़ा करना चाहता है। उसका स्पष्ट मानना है कि यदि सम्पूर्ण समाज संगठित हो गया तो वह राष्ट्र के समक्ष आने वाली सभी प्रकार की चुनौतियों का दृढ़ता से सामना करने में सक्षम हो सकेगा। संघ 'व्यक्ति-निर्माण' के माध्यम से 'समाज-निर्माण' और 'समाज-निर्माण' के माध्यम से 'राष्ट्र-निर्माण' की बात करता है। अगर राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक राष्ट्रोत्थान के निमित्त सच्चे मन से अपने नागरिक कर्तव्यों का अनुपालन करने लगे तो राष्ट्र उन्नति के पथ पर द्रुतगति से अग्रसर हो जायेगा। राष्ट्र की प्रगति की अवरोधक समाज-तोड़क शक्तियों से संघ सतत संघर्षरत रहा है। समाज को एक जीवमान संरचना मानते हुए उसका मत है कि जिस प्रकार मानव शरीर के सम्पूर्ण अंग एक समान न होते हुए भी परस्परानुकूल रहते हैं तथा उनमें से प्रत्येक का अपना महत्व है, उसी प्रकार समाज में भी सभी एक समान हैं तथा उसके प्रत्येक घटक की अपनी महत्ता है, अतएव सब ऐक्य भाव से प्रगति करें यही समीचीन है। अपने समाज चिन्तन के क्रम में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं- कुटुम्ब व्यवस्था, विवाह व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था आदि पर चिन्तन करता है। उन सभी व्यवस्थाओं से सम्बन्धित चिन्तन का सार यही है कि कैसे ये समाज व्यवस्थाएँ यशस्वी हों, उनमें प्रविष्ट विकृतियों का परिहार कैसे हो, जिससे ये अपने देश तथा उसके सांस्कृतिक अधिष्ठान को सुदृढ़ करते हुए परमवैभवी बनायें। इसके लिए प्रयास करते हुए सामाजिक समानता के सिद्धान्त के अनुसार हिन्दू समाज में घर कर गयी कुरीतियों का परिष्कार कर, हिन्दू समाज का पुनर्गठन करते हुए समरस समाज के स्थापन हेतु संघ प्रयत्नशील है।

चूँकि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्याधार ही समाज है तथा राजनीति समाज का एक अभिन्न अंग है, मगर इसके बावजूद, राजनीति से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। सीधा सम्बध न होने से तात्पर्य है कि- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सक्रिय चुनावी राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका स्पष्ट मानना है कि सत्ता कभी

भी अपने देश के समाज का प्राणकेन्द्र नहीं रही है, इसीलिए वह सदैव राजनीति से दूर रहा है। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ मुद्दे जो देश की एकता-अखण्डता तथा समाज से अविच्छिन्न रूप से जुड़े होते हैं ऐसे मुद्दों पर संघ का अपना स्पष्ट रुख होता है। इस देश की सरकारों ने जब-जब वोट बैंक की राजनीति के चक्कर में राष्ट्र की एकता, संस्कृति और अस्मिता से सम्बद्ध मूल प्रश्नों की अवहेलना की है तब-तब राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ ने राजनीति को दिशा दिखाने का काम किया है।

यही काम संघ ने आर्थिकी के क्षेत्र में भी किया है। समाज में 'अर्थ' की महत्ता सर्वविदित है। बिना 'अर्थ' के समाज की व्यवस्थाएँ न तो स्थायित्व को प्राप्त कर सकती हैं और न ही यशस्वी हो सकती हैं। हमारी संस्कृति का दृष्टिकोण रहा है कि व्यक्ति तथा समाज के पालन-पोषण तथा उनकी इहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति में सहायक होने वाली व्यवस्था- 'धर्म' भी अर्थ के बिना स्थायी नहीं हो सकती। हालाँकि अर्थ सम्बन्धी कोई मौलिक चिन्तन तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने नहीं प्रकट किया है, अपितु भारतीय संस्कृति के अर्थ-चिन्तन को ही पुनर्प्रस्तुत करने का काम किया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अर्थ-चिन्तन का केन्द्र विकास की परिधि में आखिरी स्थान पर खड़ा व्यक्ति है। 'मानव-केन्द्रित' अर्थव्यवस्था की बात करते हुए संघ आर्थिक उन्नति के निमित्त प्रकृति के अन्धाधुन्ध, अवैज्ञानिक शोषण का विरोध भी करता है। उसका मत है कि- मानव प्रकृति का ही एक अंग है, इसीलिए प्रकृति का दोहन करने के साथ ही उसका संरक्षण, संवर्धन भी उसका परमकर्तव्य है। इसी प्रकार संघ भारतीयता के भाव को संरक्षित करने वाली स्वदेशी, मानव-मात्र के कल्याण के निमित्त अर्थ के अभाव व प्रभाव से मुक्त 'अर्थायाम' पर आधारित अर्थनीति की बात करता है। भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ मानी जाने वाली कृषि-व्यवस्था को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि आधुनिक कृषि-पद्धति, जिसके अनुप्रयोग के कारण न केवल 'कृषि-लागत' में बेतहाशा वृद्धि हुई है, बल्कि उससे उत्पादित अन्न भी स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। कृषि लागत बढ़ने एवं तद्रूप उत्पादन न होने के कारण कृषि-कर्म अलाभकारी होता जा रहा है। यह एक बड़ा कारण है कि नई पीढ़ी कृषि-कर्म से दूर होकर शहरों की ओर रोजगार हेतु पलायन कर रही है। इसको दृष्टिगत रखते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ देश की परम्परागत कृषि व्यवस्था का आधुनिकता के साथ तालमेल बैठाते हुए अनुप्रयोग का पक्षधर है, जिससे कृषि को एक हद तक लाभकारी तो बनाया ही जा सकता है, साथ ही रोजगार की समस्या को भी एक हद तक सुलझाया जा सकता है।

समाज के अंग के रूप में मनुष्य की सभी प्रकार की उपलब्धियाँ, चाहे वे किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित क्यों न हों, उसकी संस्कृति से अभिप्रेरित होती हैं। संस्कृति की सहायता से मनुष्य प्रगति के विभिन्न आयामों को स्पर्श करने योग्य बना है। समाज-जीवन में घटने वाली घटनाओं के विश्लेषण में व्यक्ति, समाज और संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राष्ट्र की संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए सतत प्रयत्नशील है। संघ का मानना है कि समाज की एकात्मता जिन संस्कारों पर आधारित हो 'संस्कृति' उन्हीं संस्कारों के समुच्चय का नाम है। हमारी संस्कृति की भावना का उत्कट नवतारुण्य ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सही दृष्टि हमें प्रदान कर सकता है तथा राष्ट्र के समक्ष आसन्न सभी प्रकार की विपदाओं के समाधान में हमारे सभी प्रकार के प्रयत्नों का सफल दिशा-निर्देश भी कर सकता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जब भी संस्कृति की बात करता है तो वह 'हिन्दू संस्कृति' पदबंध का प्रयोग करता है। इस प्रयोग के पीछे संघ की यह धारणा है कि 'हिन्दू' शब्द भारत-भूमि के समस्त महान जीवनों, उनके कार्यों और आकांक्षाओं की सुमधुर गंध समेटे हुए है। इस प्रकार यह एक ऐसा शब्द बन जाता है, जो संघ-रूप से राष्ट्र की एकात्मता, औदात्य और विशेष रूप से हमारे जन-समाज को व्यंजित करता है। संघ 'हिन्दू' शब्द को भारतीय, राष्ट्रीय आदि शब्दों के पर्यायी-शब्द रूप में भारत-भू पर निवास करने वाली सम्पूर्ण जनता के वाचक के रूप में करता है। और यही भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति के नाम से अभिहित करने का भी कारण है। हिन्दू संस्कृति इस सृष्टि के सम्पूर्ण जड़-चेतन में उपस्थित 'दिव्य परमात्मा' के अस्तित्व का अवबोध कराती है। यह वही संस्कृति है जो विभिन्नताओं में अपना सिंगार देखती है, तथा सत्यान्वेषकों के मत, पन्थ भिन्नता को पूर्ण सम्मान के साथ स्वीकारती है। इसके मूल में ही सबके सहभाग का भाव है। वह सदा सबके साथ तथा सबके विकास की बात करती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ संस्कृति को ही अपने 'राष्ट्र' का आधार मानता है। उसकी राष्ट्र सम्बन्धी अवधारणा सांस्कृतिक है। अपने इसी चिन्तन के आलोक में जब संघ 'हिन्दू- राष्ट्र' की बात करता है तो उसमें अहिन्दुओं के लिए किसी भी प्रकार के दोयम दर्जे वाली बात नहीं होती है, उसमें अहिन्दुओं के किसी भी प्रकार के निरसन या हेय भाव का रत्ती भर भी स्थान नहीं है। सब समान हैं। चूँकि यह जो भारत-भूमि है इस पर 'हिन्दू' जन प्रारम्भ से ही निवास करते आये हैं, उनकी एक संस्कृति भी शाश्वत प्रवहमान है, इसी अधिष्ठान पर संघ इस भारत-भूमि को 'हिन्दू राष्ट्र' की संज्ञा प्रदान करता है। संघ समाज-धारणा के निमित्त 'धर्म' को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है। धर्म को रिलीजन (धर्म के लिए प्रयुक्त पाश्चात्य शब्द) से पृथक् मानते हुए संघ की धर्म-विषयक अवधारणा कर्मकाण्ड या बाह्य औपचारिकताओं से कहीं आगे

समाज-संगठन व मानव-कल्याण की श्रेष्ठ भावना से अनुस्यूत है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जिस राष्ट्रवाद की बात करता है उसका अधिष्ठान भारत-भू की संस्कृति ही है। भारतीय-संस्कृति या हिन्दू-संस्कृति के मूल्यों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्र-शक्ति का आराधन ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय संस्कृति के बीज मंत्र 'समाज-सेवा' को अपने विचार व व्यवहार रूप में स्वयं में आह्वानित करके 'राष्ट्रय स्वाहा, इदं राष्ट्राय, इदं न मम्' के भाव से राष्ट्र सेवा, समाज सेवा के निमित्त सतत कटिबद्ध है।

परिशिष्ट- 1

आदरणीय श्री सुनील आंबेकर जी का साक्षात्कार

(अखिल भारतीय प्रचार प्रमुख, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

(तिथि- 11 दिसम्बर 2023, साक्षात्कारकर्ता-शेषांक चौधरी)

प्रश्न-: भारत एक बहु-भाषा-भाषी देश है । हमारे देश में एक कहावत प्रचलित है- 'कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी' । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जो अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाला संगठन है, उसे समाज में कार्य करते समय भाषाई स्तर पर किन चुनातियों का सामना करना पड़ता है ?

उत्तर- ऐसा है कि भाषा को चुनौती क्यों मानना ? भाषा तो माध्यम है, कम्युनिकेशन का । कई भाषाएँ होने के कारण समाज के प्रत्येक वर्ग से हर एक से कम्युनिकेशन करने का रास्ता खुला है । इसको तो बहुत सकारात्मक रूप से देखना चाहिए और हमारी भाषाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हैं एक प्रकार से । आईलैंड की तरह काम नहीं करती कोई भी भाषा । और सभी भाषाओं में आपस में एक्सचेंजेस हुए हैं । और कई सारे शब्द जैसे आपने कहा कि हर कोस पर भाषा बदलती है, वो पूर्णतः नहीं बदलती है, वो क्रमबद्ध तरीके से बदलती जाती है और इसीलिए कोई भी भाषा एलियन नहीं होती एक-दूसरे के लिए । लोग क्रमबद्ध तरीके से उन भाषाओं को सीखते भी जाते हैं । इसलिए जितने भी हमारे ट्रैवलर्स (यात्री) थे, अपने देश में संन्यासी लोग घूमते थे, और पूजनीय आदि शंकराचार्य जी का प्रवास था, ऐसे हम लोगों के हर महात्माओं का प्रवास पूरे देश में होता रहता था या विदेश से भी जो यात्री आये थे जैसे- ह्वेनसांन्ग चीन से आया था, या और भी बहुत सारे यायावर आये थे, तो उन सब यात्रियों को भी ये उनके भी अनुभव में उन्होंने लिखा है कि जब वे आते थे तो विस्तार से एक-एक जगह जाते थे और कुछ नये शब्दों को ग्रहण करते थे और आगे बढ़ते रहते थे । तो उन्हें समझ में नहीं आता था कि कैसे उनको भाषा अलग से सीखनी नहीं पड़ती थी । वो अपने आप ही सीख जाते थे और इसीलिए हमारे यहाँ पूर्व में जो राज्य भी थे, जो राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्था थी, राष्ट्र क्योंकि एक था और इसलिए हम सभी भाषाओं को अपनी ही भाषा मानते थे । आर.एस.एस. के पूजनीय द्वितीय सरसंघचालक श्री गुरुजी गोलवलकर ने कहा था कि सभी भाषाएँ, अपने भारत की सभी भाषाएँ, राष्ट्रीय भाषाएँ हैं । क्योंकि उनका जो भी कैरेक्टर है वो राष्ट्रीय है । और जब जो भी चीज राष्ट्रीय है वो मेरी है, अपनी है तो इसलिए इसमें अपना और पराये

का भेद नहीं है। मैं किसी बात पर अभ्यस्त हूँ या किसी बात पर अभ्यस्त नहीं हूँ, इतना ही अन्तर है। और मैं वहाँ इसलिए अभ्यस्त हूँ, क्योंकि मैं वहाँ रहता हूँ। जहाँ अभ्यस्त नहीं हूँ वहाँ अगर रहने लगूंगा तो मैं भी अभ्यस्त तो हो जाऊँगा। इसलिए ये जो भाषा के नाम पर अपने पराये या जो रेजिमेंटेशन या जो फिक्सेशन है वह भारत में न था, न वह अपेक्षित है और इसलिए संघ जो है वो इसको बहुत ही एक स्वाभाविक सी बात मानता है और सहजरूप से संघ में इसलिए सभी भाषाओं के लोग जब एक साथ शिविरों में आते हैं, कार्यक्रमों में आते हैं तो वो अलग-अलग भाषाओं को बोलने वाले होते हैं, लेकिन उनका भाव जो होता है वह एक ही होता है, राष्ट्र का होता है, उनकी माता एक ही होती है- भारत माता। और इसलिए इस कारण से वो सभी भाषाओं को एक-दूसरे के बहुत प्रेम से सीखते रहते हैं। शिविरों में भी जब गीत सीखते हैं लोग तो किसी एक प्रान्त का भी शिविर होगा तो वो लोग एक साथ अलग-अलग जो गट बनते हैं वो समूह-गीत सीखते हैं। तो शिविर महाराष्ट्र में हो रहा है तो कोई तेलुगु गीत सीखता है, कोई तमिल सीखता है, कोई बांग्ला सीखता है। अलग-अलग समूह बनते हैं उनकी अपनी अपनी प्रतियोगिताएं होती हैं और जब वो नगरों को नाम देते हैं तो उसमें उस भाषा के जो साहित्यिक लोग हैं, महापुरुष हैं उनके नाम देते हैं, तो जो अपरिचित-सा होता है उनको परिचित में बदल देते हैं और इसी प्रक्रिया को सततरूप से सहजरूप से और सामान्य भाव से लगातार करने के कारण ये बिना किसी कठिनाई से जिसको लोग अन्तर समझते हैं उस अन्तर को संघ की अपनी व्यवस्था में हम पार कर देते हैं। इसलिए संघ के सामान्यतः जो सभी प्रवासीय अधिकारी हैं वो बहुभाषिक होते हैं। मतलब एक साथ दो-चार-पाँच भाषाएँ जानने वाले होते हैं, और जो नहीं जानते हैं वो भी उस भाषा को सीखने हेतु लगातार तत्पर पर रहते हैं। नये-नये शब्दों को सीखने को तत्पर रहते हैं। इस तत्परता के कारण आत्मीयता बढ़ती ही रहती है और यह बात अपने देश में कोई नई बात नहीं है। हजारों वर्ष से इसी बात पर अपना देश चलता रहा है और इसलिए कई प्रांत जो होते थे उनमें कई भाषा-भाषी लोग रहते थे और वो जहाँ जाते थे वहीं के हो जाते थे। इसलिए अगर हमने माइग्रेशन (प्रवास) को देखा अपने देश में तो पुराने हजारों वर्षों में लोग यहाँ से वहाँ गये, वहाँ से वहाँ गये, उनमें से कई लोगों ने अपनी पुरानी भाषा को भी रखा, नई भाषा को भी सीखा और वहीं बस गये, रम गये। तो यह जो हजारों वर्षों से पद्धति थी जिसमें आक्रामकों के राज के समय उसमें उन्होंने इस माइग्रेशन, ये जो मूवमेंट थी हमारी, आपस में एक्सचेंजेस की उसको रोका, मतलब ऐसे-ऐसे कानून बनाये गये जिसके कारण लोगों का आना-जाना और सीखना-समझना बाधित हो गया। उनकी सेंसेस की प्रक्रिया ऐसी थी जिसने रेजिमेंटेसन बना दिया, मतलब फिक्स्ड

फ्रेमिंग कर दिया। जिसके कारण बहुत सारी समस्यायें अपने देश में भाषा के कारण उत्पन्न करवायी गयीं। मुगलराज और ब्रिटिश राज तो चला गया, परन्तु उन्होंने जो बीज डाले थे उसके परिणाम कहीं न कहीं अपनी व्यवस्था में हमको देखने को मिलते हैं। और इन समस्याओं को और बढ़ाने की जगह भाषा आधारित जो नेशन-स्टेट के जो उनके प्रयत्न हैं किसी भी तरीके से उस चक्र में न आते हुए भारत की जो कई भाषाओं के साथ एक क्रमबद्ध तरीके से जो उनका विकास है, एक के बाद एक तो उस तरीके से अगर उसको भारतीय-दृष्टि से समझ कर हम फिर से वैसे ही बहु-विविधता के साथ जिसके अंदर से अंत:सूत्र के रूप में एकता बह रही है उसको समझकर साथ में रहने का ही रास्ता हमारे पास है और उसी रास्ते को संघ अपनाता है और हमारे लगभग सौ वर्ष (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना के बाद) के अनुभव में यह बात बार-बार आई है कि यही एक अच्छा रास्ता है, जिस पर चलकर हम लोग यहाँ तक आये हैं। ये करोड़ों लोगों की अनुभूति हो चुकी है कि- हम एक ही हैं- तो इस दृष्टि से संघ जो है इन बातों को देखता है।

प्रश्न-: 'एक राष्ट्र' 'एक भाषा' के प्रश्न पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या दृष्टिकोण हैं ?

उत्तर- हमारी तो एक ही तो भाषा है- भारत माता की भाषा। It is one and only, it is express in different form. भाषा तो प्रेम की है, भाषा आत्मीयता की है। ये ईश्वर की तरह है जो कई रूपों में प्रकट होती है। तो सारा ही सत्य है और उसका एक-दूसरे से संबंध है। भारत में तो हर जगह अपने-अपने स्थानीय शब्द, उनके वर्णन ये विविधता के अनुसार रहेगा, और उसका आपस में जुड़ाव भी है लोगों का, तो मुझे लगता है कि ये सुंदर स्वरूप है। उसी सुंदरता के अनुरूप संघ उसको देखता है, इसलिए हमें सम्पर्क के लिए भाषाएँ चाहिए होंगी अपनी एक होगी, दो होगी। सम्पर्क की भाषा आपस में एक्सचेंज के लिए जो अंग्रेजी उपयोग करते हैं उनकी जगह एक भाषा, दो भाषा, तीन भाषा हो सकती हैं, जिसके द्वारा हम आपस में सम्पर्क करेंगे अपनी एक-दूसरे की भाषा उसका माध्यम हो सकती है।

प्रश्न-: देश की सबसे बड़ी सम्पर्क-भाषा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने की माँग पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या दृष्टिकोण है ?

उत्तर- मुझे लगता है मैंने इसे विस्तार से बता दिया है कि- सभी भाषाएँ एक तो राष्ट्रीय भाषाएँ हैं भारत की, पहली बात और दूसरी बात जैसा कि मैंने कहा कि निश्चित रूप से सम्पर्क की दृष्टि से सामान्य रूप से लोग हिन्दी का प्रयोग करते हैं और ये हिन्दी कोई बहुत पुरानी भाषा नहीं है। ये सम्पर्क भाषा के रूप में ही विकसित हुई है, मतलब इसका रोल ही

सम्पर्क का है। क्योंकि प्रारम्भ में हिन्दी जैसी कोई भाषा नहीं थी, भाषाएँ तो- मैथिली थी, मारवाड़ी थी, ब्रज थी, अवधी थी, नागपुरी थी- मतलब भाषाएँ तो बहुत थीं जगह-जगह लेकिन आपस में सम्पर्क करने के हिसाब से ही हिन्दी का विकास हुआ है। इस प्रकार हम हिन्दी को नई भाषा कह सकते हैं, अगर देखा जाये तो। इसलिए सामान्य रूप से लोग इसका प्रयोग कर रहे हैं और अंग्रेजी तो विदेशी भाषा है, अंग्रेजी के पर्याय के रूप में इसे देख रहे हैं लेकिन ये बात तो बहुत ही सहज तरीके से हो सकती है और जहाँ कहीं भी इसके बारे में कोई समस्या आ रही है तो उसके पर्याय भी ढूँढे जा सकते हैं। हमारे पास बहुत सारे पर्याय हो सकते हैं। इसलिए इसमें किसी को जिद करने की जरूरत नहीं है। और अब तो टेक्नोलॉजी का जमाना है, हमारे पास कई सारे नये साधन भी आ गये हैं तो हम लोग किसी माध्यम के अलावा सीधे एक भाषा से दूसरे भाषा में भी जा सकते हैं तो हमें उन बातों का भी विचार कर लेना चाहिए। यह सरकारों का काम नहीं है। सरकार तो बहु-भाषाओं पर काम करेगी। जैसे आजकल सरकार भारतीय भाषाएँ जो हमारी बाईस भाषाएँ हैं उन पर काम कर रही है, वो अच्छा है। बाकी लोग परस्पर स्वाभाविक चर्चा से अपने सम्पर्क के माध्यम ढूँढते रहते हैं उसी से बात इवॉल्व हो रही है, होती जायेगी।

प्रश्न-: देश की कई भाषाएँ अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रही हैं। ऐसी भाषाओं के संरक्षण के लिए क्या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने स्तर पर कोई प्रयास कर रहा है ?

उत्तर- देखिए, संघ जो है व्यक्ति-निर्माण का काम करता है और फिर जो संघ में व्यक्ति निर्मित होते हैं- 'स्वयंसेवक' वो हर तरह की जो समाज की आवश्यकतायें होती हैं उनको देखकर हर तरह के कामों में जाते हैं या समाज में कोई ऐसे काम चल रहे हैं तो उसमें सहयोग करने के लिए साथ में जुड़ जाते हैं। तो मुझे लगता है जहाँ जैसे-जैसे आवश्यकता है, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक, हर कोई कार्य कर रहा है। समाज में जो भाषाएँ हैं उनको हर तरीके से अभी जो सरकारों की नीति है वो ऐसी सभी भाषाओं को प्रोत्साहन देने का काम कर रही है, जो स्वागतयोग्य है और ऐसे जहाँ-जहाँ हर समाज में हर भाषा को बोलने वाले जो स्वयंसेवक हैं वह ऐसे सब कार्यों पर पहल कर रहे हैं।

प्रश्न-: मातृभाषा और शिक्षा की माध्यम भाषा को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या चिंतन है ?

उत्तर- अपने ऋषि-मुनियों, शास्त्रों ने कहा, हजारों वर्षों के अनुभव से जो बात निकलकर आयी, या आजकल जो आधुनिक अभ्यास/अध्ययन जितने हुए हैं, उन अध्ययनों में भी यही आया है कि बालक की या बालिका की जो

उसकी अपनी भाषा है, बोली, मातृभाषा, अब जहाँ व्यावहारिक रूप से संभव नहीं हो वहाँ उसके आस-पास की जो भाषा है, जो सहज हो, उसमें अगर शिक्षा मिलती है, परिवेश की जो भाषा होती है, उसमें शिक्षा मिलती है तो सबसे ज्यादा आकलन विद्यार्थी कर सकता है। इसलिए कम से कम प्राथमिक कक्षा में उसका उपयोग होना चाहिए और स्कूली जीवन में जो माध्यम है (मीडियम) वो होना चाहिए। कम से कम परिवेश की जो भाषा है, आस-पास की भाषा है, प्रादेशिक भाषा है, उसका प्रयोग उत्तम रहेगा। बाकी उच्च शिक्षा में आने के बाद कोई भी भाषा विद्यार्थी सीख सकता है। इसलिए कोई नई भाषा सीखने में कोई परहेज नहीं है या किसी का विरोध नहीं है। परन्तु विद्यार्थियों का व्यक्तित्व उत्तम तरीके से, मुक्तरूप से विकसित हो, इसमें ये बात सहायता करती है। उसका उपयोग करना चाहिए। बाकी फिर आसमान खुला है। बाद में तो देश की और दुनिया की कोई भी भाषा व्यक्ति सीख सकता है। स्वामी विवेकानंद ने जैसे कहा था- What is education ? इसका जवाब देते हुए वे स्वयं कहते हैं- What to lurn and how to learn. मतलब क्या सीखना चाहिए ? बहुत सारा ज्ञान है उसमें हमें क्या सीखना चाहिए इसका विवेक और कैसे सीखना चाहिए ? इसका कौशल- यही शिक्षा है। यह दोनों मिल जायें तो व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। मुझे लगता है कि इन दोनों बातों के लिए उसकी मातृभाषा है या उसका जो परिवेश है उसकी जो भाषा होगी उसमें यह विकास सबसे उत्तम हो सकता है। इसलिए उसका उपयोग करना चाहिए बाकी फिर इसके बाद तो कोई भी ज्ञान कोई भी भाषा सीख सकता है।

परिशिष्ट- 2

आदरणीय श्री श्याम प्रसाद जी का साक्षात्कार

(अखिल भारतीय समरसता प्रमुख, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

(तिथि- 28 नवम्बर 2023, साक्षात्कारकर्ता-शेषांक चौधरी)

प्रश्न-: 'सामाजिक-समरसता' पद-बन्धों दो शब्दों से मिलकर बना है 'समाज' और 'समरसता' । क्या है आखिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की समाज की अवधारणा और क्या है उसकी समरसता का सिद्धान्त ?

उत्तर- समाज माने, एक बड़ा परिवार है, परिवार में सब सदस्यों को जोड़ने का एक बंधन है । हम एक ही माता की संतान हैं । हमारे माता-पिता एक हैं । एक माता का रक्त हमारे सबके अन्दर है । इस रक्त-सम्बन्ध के आधार पर ही परिवार के सब सदस्य लोग बन्धु भाव के आधार पर मिलकर काम करते हैं । इसी तरह समाज के अन्दर भी एक बन्धुभाव होना चाहिए, अभी के बीच के कालखण्ड में हम सब एक ही समाज के व्यक्ति हैं, ऐसा भाव लुप्त हो गया । इसलिए जाति, भाषा, पन्थ अलग-अलग हो सकता है, लेकिन हम सब एक ही हिन्दू समाज के अंगभूत हैं; ऐसा भाव खड़ा होने से ही समाज रूप में आगे चलते हैं । इसलिए हिन्दू समाज के आइडेंटिटी की दृष्टि से सब हिन्दुओं के बीच में हम सब हिन्दू हैं, भाई-भाई हैं, ऐसा भाव खड़ा करना हम सबके पूर्वज, ऋषि-मुनि सब लोग हैं । सबके पूर्वज एक ही हैं, ऐसा भाव खड़ा करने से ही समाज का भाव निर्माण होता है । परिवार का बड़ा स्वरूप है- समाज । इस दृष्टि से इस भाव को खड़ा करने के लिए ही संघ काम कर रहा है । विदेशी आक्रमण के समय में हम एक ही समाज के व्यक्ति हैं ऐसा भाव लुप्त होने के लिए योजनाबद्ध पद्धति से विदेशी इंटेलेक्चुअल्स ने बहुत काम किया । हिन्दू समाज को तोड़ने के लिए बहुत संघर्ष किया । उस भ्रम को दूर करके हम सब एक ही माता की संतान हैं । सबकी माता, भारत माता है । इस रूप में सबको जोड़ने के लिए, सबके बीच बन्धु-भाव खड़ा करने के लिए हम काम कर रहें हैं, यह समाज की परिकल्पना है । समरसता खड़ा करने के लिए विश्व के बाकी राज्यों में समता का प्रयोग है । समता का प्रयोग ठीक है कोई दिक्कत नहीं है । समता ऐसा भाव खड़ा करने के लिए समरसता एक फण्डामेन्टल कॉन्सेप्ट है । हिन्दू विचार के आधार पर सब व्यक्तियों में, सब जानवरों में, सब वृक्षो में और सम्पूर्ण जगत में भगवान का स्वरूप है, भगवान का अंश है- इसके आधार पर समाज में विषमता को दूर करके हम सब समरस समाज खड़ा कर सकते हैं । सबके अन्दर भगवान

है, कोई व्यक्ति जो निर्धन है, उसका जाति के आधार पर अपमान करना माने उनके अन्दर जो भगवान है उसका अपमान करना। इसलिए हम हमारे सबके अन्दर भगवान है। इस विचार के आधार पर ही सबके बीच में हम बन्धु-भाव के आधार पर, भाई-चारा के आधार पर काम खड़ा करते हैं। इसलिए समता के आधार पर सामाजिक समरसता खड़ा करना हमारा लक्ष्य है। समरसता माने- हिन्दुत्व के आधार पर एक मौलिक विचार है।

प्रश्न-: सामाजिक समरसता के संदर्भ में धर्म की भूमिका को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कैसे देखता है ?

उत्तर- हमारे हिन्दू समाज में लाखों साल का इतिहास है। हिन्दू समाज में बहुत विचारों में एक विचार है, सामाजिक-व्यवस्था के बारे में। युगों-युगों से वर्ण-व्यवस्था यहाँ थी। अभी वर्ण-व्यवस्था नहीं है। जाति-व्यवस्था है। लेकिन सब हिन्दुओं के मन में वर्ण-व्यवस्था क्या है ? जाति-व्यवस्था क्या है ? इसके अन्तर के बारे में ठीक विचार नहीं है। भगवद् गीता में श्री कृष्ण ने बताया है कि मैने वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया, ऐसा एक श्लोक है। इसको लेकर अभी जाति-व्यवस्था भी भगवान ने ही निर्माण किया ऐसा कुछ भ्रम है। जाति-व्यवस्था के आधार पर व्यवहार में ऊँच-नीच का भाव आ गया। तीन हजार सालों से हिन्दू समाज में जाति-व्यवस्था में बहुत जातियाँ आयीं, उप-जातियाँ आयीं, जातियों के बीच में विषमता भी आयी और चौथी शताब्दी के बाद भारत में अस्पृश्यता शुरू हुई, क्यों शुरू हुई, कैसे शुरू हुई हमको मालूम नहीं है, लेकिन हिन्दू समाज में पण्डितों से लेकर साधारण हिन्दू तक एक भ्रम है। अभी जो जाति-व्यवस्था है, अस्पृश्यता है- ये दोनों धर्मसम्मत हैं ऐसा भ्रम है, यह सच नही है। इसलिए हिन्दू समाज में दोनों दुर्गुणों को जाति के आधार पर ऊँच-नीच भाव और अस्पृश्यता को दूर करने के लिए ज्यादा प्रयास धर्माचार्यों के द्वारा ही होना चाहिए। इस दृष्टि से यह धर्मसम्मत नहीं है यह दृष्टि खड़ी करने के लिए 1969 में कर्नाटक के उडुपी में संघ की योजना के अनुसार, संघ की सलाह के अनुसार हिन्दू समाज के भिन्न-भिन्न पंथों के धर्माचार्यों को एक ही मंच पर बिठाकर उनके द्वारा एक घोषणा की गयी- 'हिन्दवः सोदराः सर्वे, न हिन्दू पतितो भवेत्। मम् दीक्षा हिन्दू रक्षा, मम मंत्र समानता'- सब पंथ के धर्माचार्य सिक्ख, जैन, बौद्ध सबने मिलकर यह घोषणा की। इसलिए हमारे मन में जो भ्रम है, जाति के आधार पर विषमता और अस्पृश्यता धर्मसम्मत है, यह भ्रम है, असच है, सच नहीं है। उनको दूर करने के लिए प्रयत्न धर्माचार्यों के द्वारा ही होना चाहिए, ऐसे विषय में हमारे भारत में बुद्ध से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक आंध्र प्रदेश,तेलंगाना में नारायण गुरु आदि ने ऐसा कर्म किया। इसलिए समरसता खड़ा करने में धर्माचार्यों के द्वारा उनकी योजना से उनके योगदान से बहुत सहयोग होता है। यह हमारा विश्वास है।

प्रश्न-: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अनुसार सामाजिक कुरीतियों के परिहार में परिवार की क्या भूमिका है ?

उत्तर- समय के अनुसार, हर परिवार, समाज में कुछ अच्छा गुण और कुछ कुरीतियों के भी आने की सम्भावना है। हमारे घर में, रोड पर उड़ने वाली धूल हमारे घर में आती है, इसलिए हमारा घर हर दिन परिशुद्ध करना आवश्यक होता है। इसी तरह काल के अनुसार, कुछ आवश्यक, कुछ अनावश्यक परिवर्तन समाज में आता है। आवश्यक अच्छे परिवर्तन को लागू रखना, अनावश्यक दुर्गुणों को, कुरीतियों को दूर करना यह आवश्यक है। घर के बारे में कहते हैं कि यह सब शिशुओं की पहली पाठशाला है। बालक-बालिका की पहली टीचर है माता। इसलिए घर के जो माता-पिता हैं, दादी-दादा हैं उनके द्वारा ही आवश्यक संस्कार घर में मिलता है। केवल पढ़ाई नहीं है, पढ़ाई के साथ-साथ क्या करना है, क्या नहीं करना, क्या अच्छा है, क्या बुरा है, ऐसा विशेष ज्ञान घर के बुजुर्ग लोगों से ही बालक-बालिकाओं को मिलता है। इसलिए घर में अच्छे गुणों का व्यवहार घर के जो मालिक हैं उनका दायित्व है। अच्छा गुण माने वैयक्तिक गुण। माता-पिता के साथ गौरवपूर्ण व्यवहार करना, घर में बुजुर्ग लोग होते हैं उनके साथ गौरवपूर्ण व्यवहार करना, प्रेमपूर्ण व्यवहार करना और ऐसे व्यक्तिगत गुण के साथ-साथ भगवान पर भक्ति, देश पर भक्ति भी आवश्यक है। इसी तरह समरसता का भाव भी जाति कोई भी हो सबके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करना, भाईचारे का व्यवहार करना। ऐसा संस्कार भी, कैसे निर्माण करना है ? और घर में जो बालिका है उसको भी स्कूल भेजना, आगे जाने का मौक़ा देना और घर में बालक और बालिका से समरूप से व्यवहार करना। ऐसे अनेक आवश्यक गुण सब लोगों में खड़ा करना। इस दृष्टि से हमारे समाज में जो विकृतियाँ आयीं उनके बारे में भी ठीक विचार खड़ा करना। क्या विकृतियाँ हैं ? उनको कैसे दूर करना ? व्यवहार कैसे करना ? इसके बारे में भी घर के जो बुजुर्ग लोग हैं, माता-पिता, दादा- दादी सब घर के लोगों को बतानी आवश्यक है। ऐसा परिवर्तन हमारे घर से ही शुरू करना है। घर के बाहर खड़ा करना अलग विषय है।

प्रश्न-: सामाजिक समरसता के स्थापन में 'रोटी-बेटी सम्बन्ध' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या दृष्टिकोण है ? इसी परिप्रेक्ष्य में अन्तरजातीय तथा अन्तरधर्मीय वैवाहिक सम्बन्धों को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या दृष्टिकोण है ?

उत्तर- सामाजिक समरसता खड़ा करने में पहला कदम है- रोटी-बेटी व्यवहार। अभी सामाजिक परिवर्तन आया और परिवर्तन आना भी चाहिए, आवश्यक है। भिन्न-भिन्न जाति के हिन्दू समाज के लोग एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन करना है। इसे बोलते हैं रोटी का व्यवहार। यह महाभारत में हमको एक प्रसंग मिलता है जब भगवान श्रीकृष्ण शान्तिदूत बनकर धृतराष्ट्र के राजदरबार में पहुँचे। चर्चा के बाद वे उस दिन की रात्रि को विदुर के घर ठहरे। विदुर शूद्र थे। लेकिन उस राजभवन में विदुर को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। धर्म के बारे मे, राज-व्यवहार के बारे में, कैसे चलाना है विदुर को अच्छी तरह से मालूम था। इसलिए विदुर को उस राजदरबार में अच्छा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। शूद्र होने पर भी कृष्ण विदुर के घर भोजन के लिए गये। यह अन्तरजाति का भोजन है। पाँच हजार साल के पहले ही, महाभारत युद्ध के समय के पहले ऐसी अच्छी घटना मिलती है। हिन्दू समाज में हम सब हिन्दू हैं, भाई-भाई हैं। इस प्रकार के भाईचारे के व्यवहार को खड़ा करने के लिए जो रोटी का व्यवहार है, प्रथम कदम है। इससे शुरुआत करनी है। अंतिम कदम है। हम एक ही धर्म- हिन्दू धर्म के लोग हैं इसके आधार पर बेटी का भी व्यवहार करना। इसलिए माता-पिता के द्वारा हमारा बच्चा कोई भी हो, घर पर आने वाली लड़की कोई भी हो, सब के साथ ऐसा व्यवहार (शादी) होना चाहिए। ऐसा अन्तरजातीय विवाह करना चाहिए। यह धर्म के विरुद्ध नहीं है। ऐसा भाव खड़ा करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में हमारे पुराणों में भी अनेक कथाएँ मिलती हैं। अरुंधती है, वह एक समाज की बहन है, माता है। दूसरे समाज के व्यक्ति (ऋषि) से उनका विवाह हुआ। इसलिए अन्तरजातीय विवाह करना धर्म के विरुद्ध नहीं है। ऐसा भाव खड़ा करना आवश्यक है। इसलिए आर.एस.एस. रोटी के व्यवहार के बारे में, बेटी के व्यवहार के बारे में सहमत है। समाज में समरसता खड़ा करने के लिए ये दोनों काम आवश्यक हैं। अन्तरधर्मीय विवाह के बारे में अभी आर.एस.एस. प्रतिकूल है। क्योंकि अन्तरधर्मीय शादी के द्वारा जो माइनॉरिटीज़ होते हैं, ऐसे मुसलमान, क्रिश्चियनों की संख्या बढ़ाने का काम योजनाबद्ध तरीके से चल रहा है। अभी के समय में अन्तरधर्मीय विवाह आवश्यक नहीं है, नहीं होना चाहिए। इसलिए अन्तरजातीय विवाह के बारे में आर.एस.एस. सहमत है, यह पर्याप्त है।

प्रश्न-: समाज की वर्ण-व्यवस्था को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या विचार है ? क्या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जब हिन्दू-संस्कृति के संवर्धन की बात करता है तो उसमे वर्ण-व्यवस्था की पुर्नस्थापना का भाव निहित है ?

उत्तर- हिन्दू समाज में सनातन धर्म में, वर्ण-व्यवस्था युगों-युगों से चली आ रही है। महाभारत में भीष्म के द्वारा वर्ण-व्यवस्था का निर्माण कैसे हुआ, एक कथा के माध्यम से बताया गया है। सतयुग में एक ही वर्ण था। कुछ हजार साल के बाद क्षत्रिय वर्ण आया। बाद में चार वर्ण-व्यवस्था आयी। सतयुग में ही, सतयुग के अंत में, पहले नही था, एक ही वर्ण था। सतयुग के अंत में चार वर्ण-व्यवस्था आ गयी। इस प्रकार करोड़ों सालों से समाज में वर्ण-व्यवस्था थी। करोड़ों साल से होने के कारण इस वर्ण-व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त कर पाना असम्भव है। ऐसी व्यवस्था खड़ी हो गयी है। वर्ण-व्यवस्था के बारे में भी बहुत चर्चा है। महाभारत के वनपर्व में एक राजा ने धर्मराज से पूछा है कि- वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ब्राह्मण कौन है ? जन्म से आता है या गुण से आता है ? चार श्लोकों में धर्मराज ने बताया है कि- अभी हमारे समाज में दोनों विचार प्रचलित हैं। ब्राह्मण माने जन्म से आता है, दूसरा है ब्राह्मण गुण से आता है। दोनों का विचार है। लेकिन दोनों विचार ठीक नहीं हैं, एक ही विचार ठीक है। ब्राह्मणत्व गुण से ही आता है। केवल जन्म से बाह्मण नहीं होता, यह सच है। ऐसा धर्मराज ने हमारे शास्त्रों के आधार पर बताया। लेकिन महाभारत युद्ध होने के बाद और दो हज़ार साल के बाद हमारे हमारे समाज में वर्ण-व्यवस्था लुप्त हो गयी। इन दो हजार सालों में हमारे भारत में राज्य चलाने वाले लोगों में बहुत नाम क्षत्रिय हैं, गुप्त लोग हैं, कृष्ण देवराय हैं, ऐसे बहुत लोग हैं। वे क्षत्रिय नहीं हैं इसके बावजूद उन्होंने अच्छा राज्य चलाया। राजाओं ने प्रजा का विधिवत संरक्षण किया। इसलिए क्षत्रिय ही राज्य चला सकता है ऐसा विषय दो हजार सालों से कम हो गया है। दूसरा है, चारों वर्णों में हजारों जातियाँ, उप-जातियाँ हैं। इस सम्बन्ध में विवेकानन्द का विचार है कि- व्यवस्था को समाज की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करते रहना चाहिए। हमारे समाज में और दो व्यवस्थायें हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- चतुर्विध पुरुषार्थ की व्यवस्था और चतुर्थ-आश्रम व्यवस्था। इन दोनों व्यवस्थाओं में परिवर्तन वांछित नहीं है। समाज की आवश्यकता के अनुसार, कुछ छोटे-छोटे परिवर्तन हो सकते हैं। उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन आवश्यक नहीं हैं। लेकिन वर्ण-व्यवस्था में समाज के अनुसार व्यवस्था करना आवश्यक है। देखिए, जाति के आधार पर जो व्यवस्था है, ठीक नहीं है। अभी इस जाति-व्यवस्था में परिवर्तन करना आवश्यक है। जैसे स्मृति में परिवर्तन होता है, कार्य के अनुसार ऐसे ही सर्वसमाज की आवश्यकतानुसार वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन आना चाहिए। इस विषय को लेकर 1964 में विश्व हिन्दू परिषद् की स्थापना के दिन श्री गुरुजी ने आर.एस.एस. के स्वयंसेवकों को संबोधित करते हुए कहा था कि- आज के समय के

अनुसार, भाईचारे के अनुसार, आत्मीयता के अनुसार, भेद-रहित, एक नूतन समाज-व्यवस्था खड़ी करना है। यही संघ की सोच है।

प्रश्न-: समाज की जाति संरचना को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या दृष्टिकोण है ?

उत्तर- समाज में अभी जाति-व्यवस्था है। हम आँखें बंद करके कोई व्यवस्था नहीं है, नहीं सोचते हैं। जाति-व्यवस्था है। लेकिन विचार में एक व्यवहार आवश्यक है। वर्ण-व्यवस्था अलग है, और वर्तमान में प्रचलित जाति-व्यवस्था अलग है। वर्ण-व्यवस्था मे केवल चार वर्ण था। अभी सात हजार जातियाँ, उप-जातियाँ हैं। अपर-कास्ट बोलते हैं, बैकवर्ड-कास्ट, शिड्यूल-कास्ट बोलते हैं, शिड्यूल-ट्राइब्स बोलते हैं। ऐसे घूमन्तू समाज है। इसलिए एक समय समाज में प्रचलित रही वर्ण-व्यवस्था का वर्तमान-समाज में प्रचलित जाति-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक विषय है। दूसरा है, समय के अनुसार, हर जाति के लोग एजुकेशन के सहारे अपनी रुचि के आधार काम पर नया-नया उद्यम कर रहे हैं। जाति आधारित काम ही करना है ऐसी व्यवस्था पहले थी, अभी किसी भी जाति का व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार, एजुकेशन के आधार पर किसी भी कार्य-क्षेत्र में जा सकता है, उदाहरण के लिए- एडवोकेट है, डॉक्टर है, इंजीनियर है आदि। इस प्रकार भिन्न-भिन्न काम करने वाले लोग सब जातियों से आ रहे हैं, यह नया परिवर्तन है। आना चाहिए, आवश्यक है। इसलिए जाति के बारे में एक विषय है जैसे- परिवार, परिवार के लोगों को सुरक्षा देता है। उसी तरह से जाति भी एक तरह से कुछ सुरक्षा देती है। लेकिन जाति के आधार पर अभी समाज में जो चल रहा है- जाति के आधार पर अलग-अलग रहना, एक जाति के लोगों का दूसरी जाति के लोगों को नीचे मानना, ये सब समाज के विघटनकारी तत्व हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। सब जाति के लोग मिलकर भाईचारे के साथ मिलकर, बिना किसी जाति आधारित भेदभाव के साथ रहें। इस विचार के आधार पर काम शुरू करें तो अगले सौ साल के बाद हमारा समाज कैसा होगा हम इसकी कल्पना कर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि सतयुग के प्रारम्भ में एक ही वर्ण था ऐसे ही भविष्य में भी एक समय ऐसा आयेगा जब एक ही वर्ण रहेगा। नारायण गुरु का भी यही मानना था। लेकिन अभी जाति-व्यवस्था है समाज में। इस जाति-व्यवस्था के आधार पर समाज को तोड़ने के लिए बहुत सारी राष्ट्र-विघातक शक्तियाँ प्रयासरत हैं। इसलिए अभी जाति-व्यवस्था के आधार पर ही भिन्न-भिन्न जाति के प्रमुख लोगों को बैठाकर हम सब हिन्दू हैं, भाई-भाई हैं ऐसा भाईचारा खड़ा करें तो इसके आधार पर भेदभाव-

मुक्त समाज खड़ा होता है। सौ साल बाद क्या होता है ? उस समय देखेंगे। तुरन्त जाति-व्यवस्था समाप्त होनी चाहिए, ऐसा बोलने मात्र से नहीं अपितु व्यवहार में लाने से यह व्यवस्था व्यावहारिक रूप से रद्द होती है।

प्रश्न-: समाज में अस्पृश्यता की समस्या को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कैसे देखता है तथा समाज में उसके उन्मूलन के लिए संगठन के स्तर पर क्या प्रयास कर रहा है ?

उत्तर- अभी हिन्दू समाज में 17% लोग अनुसूचित समाज के लोग हैं। अनसूचित समाज माने क्या है ? हजारों साल से जिन लोगों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार किया गया, ऐसे समाज के लोग हैं इस समाज के लोग। अस्पृश्यता कैसे शुरू हुई, क्यों शुरू हुई ? इसके बारे इतिहासकारों के पास कोई पुख्ता प्रमाण नहीं है। बाबासाहब अम्बेडकर ने एक किताब लिखी है- अस्पृश्य कौन है ? (हू आर अनटचेबल ?) जिसमें वे बताते हैं कि चौथी शताब्दी में हमारे भारत में हिन्दू समाज में अस्पृश्यता शुरू हुई। इसके पहले भारत में अस्पृश्यता नहीं थी ऐसा उनका मानना था। इसके आधार पर चलें तो भी चौथी शताब्दी के पहले ही रामायण काल में, महाभारत काल में अस्पृश्यता नहीं है। बीच में इसका प्रादुर्भाव क्यों हुआ ? कैसे हुआ ? इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना मुश्किल है। यह हमारा विषय भी नहीं है। अस्पृश्यता धर्मसम्मत नहीं है। इस विषय को उडुपी के धर्मसम्मेलन में उपस्थित सभी धर्माचार्यों ने बताया। उन्होंने- 'हिन्दवः सोदरा: सर्वे' इस विषय के साथ-साथ 'न हिंदुर् पतितो भवेत्' की घोषणा की। उन्होंने बताया कि अस्पृश्यता धर्मसम्मत कदापि नहीं है, यह सामाजिक कुरीति है जिसे समाज से दूर करना ही होगा। यह कुरीति समाज में क्यों आयी इस पर चर्चा करते हुए इसे समाज से कैसे दूर किया जाये इसके बारे में विचार करना चाहिए। इस आधार पर जो समाज के तथाकथित अस्पृश्य समाज के लोग हैं उनको बाकी हिन्दू समाज के लोगों के साथ समरूप से देखना उनके साथ अच्छा व्यवहार करना। उनके बच्चों को स्कूल जाने के लिए प्रेरित करना, उनकी अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध करना, मंदिरों में उनका प्रवेश कराना। सब स्थान पर तथाकथित अस्पृश्य समाज के लोगों को आगे आने के लिए मौका देना। आरक्षण भी एक साधन है उनके सशक्तिकरण का। उदाहरण के लिए, पुजारी के रूप में काम करना, अभी तक ज्यादातर ब्राह्मण समाज के लोग ही पुरोहित होते थे। कुछ गाँवो में नॉन-ब्राह्मन्स, विभिन्न जातियों के लोग पुजारी थे। इसलिए समरसता मंच और संघ ने कुछ कोशिश किया और कहा कि- कुछ मन्दिरों में अर्चक के रूप में, अनुसूचित जाति/जनजाति समाज के लोग क्यों नहीं होने चाहिए ? भक्ति आवश्यक है, भक्ति पर्याप्त है। हम ऐसे अनुसूचित जाति/जनजाति समाज के लोगों को विशेष तरह के प्रशिक्षण देकर उनको भी पुरोहित के रूप में खड़ा करने

की कोशिश कर रहे हैं। हमें इस कार्य में सफलता भी मिल रही है। ऐसे अनेक धर्माचार्य हैं जो अनुसूचित समाज के लोग थे। अभी धर्माचार्य हो गये हैं। सम्पूर्ण समाज से उनको सम्मान मिल रहा है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनुसूचित समाज के लोग आने चाहिए, ऐसा होने से ही समाज से अस्पृश्यता दूर हो सकती है। अस्पृश्यता व्यवहार में नहीं होनी चाहिए और उस समाज के लोगों को सब स्थानों पर प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए, इसके लिए विशेष कोशिश करना चाहिए। इसके द्वारा ही अस्पृश्यता समाज से दूर हो सकती है।

प्रश्न-: जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दू-राष्ट्र स्थापन की बात करता है, तो उससे समाज के अ-हिन्दुओं के मन में जो असुरक्षा का भाव उत्पन्न होता है क्या वह समरस समाज की स्थापना में बाधक नहीं है ?

उत्तर- 'हिन्दू-राष्ट्र की स्थापना करनी है' ऐसा कहना ठीक नहीं है। हमारा राष्ट्र पहले से ही 'हिन्दू-राष्ट्र' है। बाकी लोग इससे सहमत या असहमत हैं यह अलग विषय है। नया हिन्दू-राष्ट्र निर्माण करने की आवश्यकता नहीं है। घोषणा करने की आवश्यकता नहीं है। यह पहले से ही हिन्दू-राष्ट्र है। मेरे घर के परिवार के लोग हम मिलकर रहते हैं। इससे बाकी लोगों को क्यों भयभीत होना ? मेरे परिवार के लोगों के मिलकर रहने में मेरी सेफ्टी है। इसी तरह अभी हमारे भारत में, विश्व में भिन्न-भिन्न पंथ के लोग संगठित हो रहे हैं। इस्लामिक लोगों का संगठन है, क्रिश्चियन लोगों का संगठन है। इसी तरह हिन्दू समाज के लोग भी अगर संगठन करते हैं तो इसमें क्या गलती है ? विश्व में मुस्लिम राज्यों के लोग संगठित हैं, वह गलती नहीं है। क्रिश्चियन समाज के लोग संगठित हैं, वह गलती नहीं हैं। तो भारत में हिन्दू समाज के लोगों का संगठित होना गलत कैसे हो सकता है ? दूसरा है, हिन्दू समाज के संगठित होने से किसी को भी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। आप निस्संकोच मस्जिद जाइये, चर्च जाइये। नमाज पढ़िये, प्रार्थना कीजिये या भगवान की पूजा कीजिये, अपनी-अपनी रीति से। देखिए, हम सब भारतीय हैं। वी आर इंडियन्स। और राष्ट्रीयता के आधार पर हम सब हिन्दू हैं। धर्म के आधार पर कोई मुसलमान हो सकता है, क्रिश्चियन हो सकता है। इस विचार के आधार पर 'राष्ट्र' इन सब से ऊपर का विषय है। राष्ट्र-सर्वोपरि है। घर में भिन्न-भिन्न परिवार के लोग भिन्न-भिन्न टूथब्रश प्रयोग करते हैं। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के भगवान के पूजा करने की पद्धति, धर्म, पंथ अलग-अलग हो सकते हैं। लेकिन हम सब एक ही परिवार के लोग हैं। इसी दृष्टि से पंथ, भगवान की पूजा करने की पद्धति अलग होने पर भी हम सबको मिलकर रहना है। राष्ट्र-हित के लिए यही उचित है। यही हिन्दू-राष्ट्र की अवधारणा है। हिन्दू-राष्ट्र माने, हिन्दू राज्य नहीं है। हिन्दू-राष्ट्र अलग है, हिन्दू-राज्य अलग है। हिन्दू-राष्ट्र कल्चरल कान्सेप्ट है। इसलिए भगवान की

पूजा करने की पद्धति कोई भी हो, हम सब भारत माता की संतान हैं। सभी भारतीयों को साथ में मिलकर काम करना है। 'नो रिलिजिन अबब द नेशन'- इसके आधार पर हम सबको व्यवहार करना चाहिए। यह विचार हिन्दू संगठन होने से ही आगे जा सकते हैं। बहुत सारे मुसलमान तथा क्रिश्चियन भी राष्ट्रीयता के विचार-व्यवहार पर इस समाज में संगठन के रूप में काम कर सकते हैं। ऐसा हमारा विचार है। हिन्दू समाज के संगठन के द्वारा ही यह सुनिश्चित हो सकता है इसमें माइनॉरिटी लोगों के भयभीत होने का कोई कारण नहीं है।

प्रश्न-: सामाजिक समरसता के सन्दर्भ में वनवासी बन्धुओं व घूमन्तू जनजातियों को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या दृष्टिकोण है ?

उत्तर- वनवासी लोग व घूमन्तू समाज के लोग अलग-अलग रूप से अलग-अलग बैकग्राउण्ड से हैं। सम्पूर्ण विश्व में लाखों साल के पहले जंगल ही जंगल था। उस समय भारत में भी सब ओर जंगल ही था तथा जितने भी लोग थे सब जंगल में ही रहते थे। कालान्तर में समय के साथ मानवों ने कृषि करना, गाँवों-नगरों में साथ रहना आदि सीखा। इस प्रकार एक नयी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार वनवासी लोग, गाँववासी लोग, नगरवासी लोग ऐसी व्यवस्था लाखों वर्षों के कालखंड में विकसित हुई। भारत के अलावा, विश्व के बाकी हिस्सों में वनवासी लोगों, गाँववासी लोगों तथा नगरवासी लोगों के बीच में एक दीवार थी और क्रैसेस था। उदाहरण के लिए- अमेरिका मे नेटिव हैं, रेड इंडियन्स, यूरोप से आये हुए लोगों ने अमेरिका आकर वहाँ बसकर जो लोकल रेड इंडियन्स थे उनको खत्म किया, उनका नरसंहार किया, उनको जंगल में रहने को मजबूर किया। इसी तरह आस्ट्रेलिया मे भी स्थानीय लोगों को यूरोप से आये हुए लोगों ने मारकर भगा दिया और स्वयं वहीं बस गये। मगर भारत में ऐसा स्थिति नहीं थी। वनवासी, गाँववासी तथा नगरवासी लोगों के बीच में मित्रता थी। उनके बीच किसी भी प्रकार का टकराव नहीं था। इसलिए हम देखते हैं कि जीवन के अन्तिम समय में गृहस्थ जीवन के बाद जीवन के अन्तिम फेज में कुछ लोग जंगल जाते थे, वहाँ तपस्या करते थे। यहाँ राजा कोई भी हो, चक्रवर्ती कोई भी हो, सब लोग वनवासी लोगों से मित्रता करते थे। वनवासी लोगों के मन में हम स्वतन्त्र तथा स्वावलंबी हैं हमें किसी भी व्यक्ति के सामने नहीं झुकना है, ऐसा स्वभाव था। इसीलिए वनवासी लोगों से हमारे राजाओ ने मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। अयोध्या के नजदीक वनवासी लोगों का 'गुह' नामक राज्य था। गुह राज्य इन्डीपेन्डेन्ट था। इस प्रकार राजा और पण्डितों ने वनवासी लोगों से मित्रता की, उनके बीच में किसी भी प्रकार का कोई संघर्ष नहीं था। हिन्दू धर्म के वाइडल कॉन्टेस्ट, वाइडल डेफिनेशन में वनवासी लोग भी हिन्दू

ही हैं। उनकी पूजा-पद्धति, उनके आहार-व्यवहार में कुछ विशिष्टता है, पृथकता भी है। ऐसा होने पर भी वनवासी लोग हिन्दू हैं, हिन्दू समाज के लोग हैं। दूसरा है, घूमन्तू समाज का विषय अलग है। घूमन्तू समाज, हिन्दू समाज का अंगभूत है। धर्म-प्रचार के लिए और बहुत से अन्य काम करते हुए हजारों सालों से इस समाज के लोगों ने एक शरणवास नहीं करते हुए सतत प्रवास करते हुए काम किया है। इसलिए घूमन्तू समाज हो, वनवासी हो वाइडल कॉन्टेस्ट में सब हिन्दू हैं यह हमारा विचार है।

प्रश्न-: सामाजिक समरसता की मुहिम में धर्मान्तरण जैसी गतिविधियाँ किस प्रकार प्रभाव डालती हैं ? इसी से सम्बद्ध प्रश्न है- 'घर वापसी' को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का क्या दृष्टिकोण है ?

उत्तर- भारत में धर्मान्तरण सहज रूप से नहीं हुआ। मुझे इस धर्म में विश्वास है, इस धर्म के विचार अच्छे हैं, इसके आधार पर कुछ लोग धर्म परिवर्तन करते हैं। वह गलती नहीं है। भारत में समय के अनुसार धर्म के क्षेत्र में नया-नया विचार हुआ है। हमारे यहाँ बुद्ध हुए, महावीर हुए, द्वैतवाद का विचार आया, अद्वैतवाद का विचार आया, विशिष्टाद्वैत का विचार आया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विद्वानों, धर्माचार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न विचार आया। उस धर्माचार्य के विचार के प्रभाव के अनुसार लोगों ने उस नये विचार को सीखा, अपनाया। ऐसा हो सकता है। इसमे गलती नहीं है। लेकिन भारत में क्रिश्चियनिटी और इस्लाम ने विचार के आधार पर लोगों को ज्यादा प्रभावित नहीं किया। तलवार के आधार पर, झूठ और असच के आधार पर व लोगों की कमजोरी का फायदा उठाकर इन लोगों ने धर्मांतरण किया। इसलिए विवेकानंद ने बताया है कि- जो धर्मांतरण मन से नहीं हुआ, राज्य-शक्ति के आधार पर, तलवार के आधार पर, असच के आधार पर हुआ है, ऐसे लोगों को फिर से हिन्दू धर्म में वापस लाने का अधिकार हमको है। इसीलिए 'कन्वर्ज़न इज अ क्राइम' फैक्ट है लेकिन 'रिकन्वर्ज़न इज नॉट अ क्राइम'। अपने समाज में कुछ कुरीतियाँ हैं। उसके कारण हो सकता है कुछ लोग धर्मान्तरित होते हों, कुछ असच प्रचार के कारण तथा कुछ हमारा धर्म क्या है ? इसके बारे में ठीक से ज्ञान न होने के कारण धर्मान्तरित हो गये। ऐसे लोगों के सामने सच क्या है ? हमारे धर्म की विशेषता क्या है ? ये बताकर हम उनको पुनः हिन्दू धर्म में बुला सकते हैं। आर्य समाज ने इस काम को किया है। विवेकानन्द भी यही कहते थे। इसलिए ऐसा कानून पास करना गलती नहीं है। धर्मांतरण क्राइम है, मगर घर-वापसी क्राइम नहीं है। ऐसा होना चाहिए। दो पक्ष हैं विचार के अनुसार हम सनातन को स्वीकार करेंगे। ऐसा अन्तर आना चाहिए। कुछ लोग नहीं आते हैं। अपने धर्म में रहकर हम भारतीय हैं। 'वी आर फर्स्ट इन्डियन्स, देन वी और मुस्लिम ऑर क्रिश्चियन्स'-

ऐसा सोचकर भी रह सकते है। सब लोगों को घर वापसी ही करना है, ऐसा हमारा विचार नहीं है। मगर जो घर वापसी करते हैं उनको मौका देना, उनको सुरक्षा देना, वो गलती नहीं है। उनको आगे बढ़ने के लिए सहयोग करना, इस प्रकार के काम होने चाहिए। ऐसा हमारा विचार है।

प्रश्न-: जातिगत जनगणना के प्रश्न को सामाजिक समरसता के संदर्भ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कैसे देखता है?

उत्तर- स्वतंत्रता आने के पहले और स्वतंत्रता आने के बाद संविधान के आधार पर एक विचार आया कि हिन्दू समाज में जाति-व्यवस्था है, तथा जाति-व्यवस्था में जाति के आधार पर ऊँच-नीच का भाव है। अस्पृश्यता है, जिसके कारण समाज में बहुत सारी समस्याएँ आयीं। उनको दूर करना है। इसलिए पब्लिक-लाइफ में सामाजिक-जीवन में सबको जाति के ऊपर उठकर 'हम सब भारतीय हैं'- ऐसा भाव खड़ा करना है। इस विचार के साथ काम शुरू हुआ। बहुत लोगों ने इसके लिए काम किया। वर्तमान में राजनीति के कारण जाति का भाव और ज्यादा गाढ़ा हो रहा है जिससे समाज में डिवीजन होने की सम्भावना है। नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए। इसीलिए जाति के आधार पर जनगणना में दो विषय हैं- कुछ जातियाँ बहुत बैकवर्ड हैं। उनका आंकड़ा लेने से वो आगे कैसा जा सकते है ? सरकार द्वारा कुछ रूल्स रेगुलेशन्स, कुछ पॉलिसीज़ फ्रेम करने में जाति-गणना आवश्यक हो सकती है। उस हद तक जो पिछड़ा हुआ समाज है, पिछड़ी हुई जातियाँ हैं उनको आगे बढ़ाने के लिए जाति के आधार पर जनगणना करना, गलती नही है, वो ठीक है। मगर यदि जाति के आधार पर जनगणना से समाज में और एक बार जातिवाद बड़ा होता है, समाज में डिवीजन होता है। जाति के आधार पर ऐसा होना समाज के लिए अच्छा नहीं है, खतरनाक है। इसलिए इसका उपयोग कहाँ तक करना, कहाँ तक नहीं करना, यह सोचना है। यह पॉलिटिकल इश्यू है, मोर पॉलिटिकल इश्यू है। लेकिन अन्ततोगत्वा जाति के ऊपर उठकर हम सब भारतीय हैं, इंडियन्स हैं। हम सब हिन्दू हैं। ऐसा भाईचारा खड़ा करना आवश्यक है। जाति के आधार पर और एक बार हिन्दू समाज विभाजित नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से कहाँ तक करना, कहाँ तक नहीं करना इसे सोचना है। इसलिए जाति के आधार पर जनगणना का शत प्रतिशत विरोध या शत प्रतिशत समर्थन करना आवश्यक नहीं है। इसके लिए मिडिल-पाथ का ही अनुसरण करना उचित है।

प्रश्न-: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा सामाजिक समरसता के लिए किए जा रहे उसके जो प्रयास हैं उनके बारे में तथा उनकी कार्य-विधि के बारे में थोड़ा-सा प्रकाश डालें ?

उत्तर- हिन्दू समाज में समरसता आवश्यक है। हम सब हिन्दू हैं, भाई-भाई हैं- इस विचार से ही आर.एस.एस. का काम पहले दिन से ही चल रहा है। संघ के स्वयंसेवकों के बिना किसी भेदभाव के जाति से ऊपर उठकर भाईचारे के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करने की कार्य-पद्धति संघ में है। लेकिन समाज में भी समरसता खड़ा करना है, इस दृष्टि से 14 अप्रैल, बाबासाहब अम्बेडकर की जयंती (ग्रिगेरियन कैलेण्डर के अनुसार) तथा (भारतीय तिथि गणना के अनुसार) आर.एस.एस. के संस्थापक डॉ. हेडगेवार की जयंती के शुभअवसर पर 1983 में समरसता मंच की स्थापना हुई। अभी सब प्रान्तों में, लगभग सभी जिलों मे समरसता का काम चल रहा है। समरसता का काम खड़ा करने में दो तरह के विषय हैं- मन में भाव-परिवर्तन लाना। जाति-व्यवस्था धर्मसम्मत नहीं है, जाति के आधार पर जो भेदभाव है, विषमता है वह धर्मसम्मत नहीं है। सब हिन्दू भाई-भाई हैं- ऐसा भाव मन में खड़ा करना। इस मन के भाव के आधार पर व्यवहार में परिवर्तन लाना। ये काम आवश्यक है। अनेक महापुरुषों ने समाज में समता, समरसता खड़ा करने के लिए काम किया है। उनका जीवन-चरित्र, उनका संदेश क्या है ? समाज के सम्मुख रखना चाहिए। समाज में समरसता की स्थापना के लिए प्रयास करनेवाले महापुरुषों की जयंती मनाने, समरसता साहित्य के द्वारा ऐसे महापुरुषों का विचार समाज के समक्ष रखकर ये कार्य किया जा सकता है। किसी गाँव में किसी स्थान पर दोनों जातियों के बीच में तनाव हुआ, संघर्ष हुआ। वहाँ जाकर दोनों जातियों के बीच के उस तनाव को दूर करना, सब मिलकर साथ रहें ऐसी व्यवस्था करना, काउन्सलिंग करना, यह काम करना चाहिए। समाज के पिछड़े हुए तबकों को आगे लाने के लिए उनको कर्म के आधार पर, एज़ुकेशन के आधार पर उनको सहयोग करना चाहिए। जो पिछड़ा हुआ समाज है उसको बाकी हिन्दू समाज के समरूप खड़ा करने के लिए आवश्यक सहयोग करना, आवश्यक छोटा-बड़ा कार्यक्रम करना, विद्यार्थियों में, महिलाओ में, ऐसे भिन्न-भिन्न प्रयोग करना। ऐसा करने से मन में, विचार में परिवर्तन, व्यवहार में परिवर्तन लाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक भिन्न-भिन्न कार्यक्रम समरसता मंच समय-समय पर आयोजित करता है। उदाहरण के लिए- सफाई कर्मचारी लोग हैं, ये सब हिन्दू समाज के लोग हैं, कुछ दूसरे समाज के लोग भी हैं। लेकिन उनके काम के बारे में हिन्दू समाज में सम्मान का भाव नहीं था। इसलिए समरसता मंच ने एक साल पहले भिन्न-भिन्न जिलों के सफाई कर्मचारियों को सम्मानित करने के कार्यक्रम किये। इस कार्यक्रम का उद्देश्य समाज के सब लोगो के मन में यह

भाव खड़ा करना था कि- सफाई कर्मचारी भी हमारे ही समाज के लोग हैं, तथा उनका काम भी उतना ही गौरवपूर्ण है जितना कोई अन्य काम इसलिए उनके साथ गौरवपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। ऐसे विभिन्न कार्यक्रमों/ गतिविधियों के माध्यम से सभी जातियों के बीच समरसता, समता व बंधुत्व का भाव खड़ा करने व इस भाव को मजबूत का प्रयास समरसता मंच के माध्यम से संघ कर रहा है।

प्रश्न-: सामाजिक-समरसता के निमित्त सेवा-कार्यों की भूमिका को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कैसे देखता है ?

उत्तर- हमारे समाज में कुछ वर्ग, कुछ सेक्शन्स एजुकेशन में बैकवर्ड है, एम्प्लॉयमेंट में बैकवर्ड है, कुछ सेक्शन्स इकोनोमिकली बैकवर्ड है, उनका मन्दिरों में प्रवेश नहीं है। ऐसा मल्टीडायमेंशन पर उनका बैकवर्डनेस है। उनको आगे बढ़ाने के लिए सरकार भी प्रयासरत है। मगर समाज के लोगों को भी सोचना चाहिए कि हमारे समाज में कुछ मोस्टनेगलेट सेक्शन्स हैं, उनके उत्थान के लिए वे क्या कर सकते हैं, इसके बारे में उनको सोचना चाहिए। हम देखते हैं शहरों में बड़ी-बड़ी बहुमंजिला इमारतें होती हैं, उनके बगल में स्लम एरिया होता है। एक तरफ़ जहाँ उन बहुमंजिला इमारतों में सब प्रकार की सुविधायें उपलब्ध होती हैं, वहीं उन स्लम एरिया में मूलभूत सुविधायें भी नहीं होती हैं। ऐसे बहुत सारे विषय समाज में होते हैं इसलिए सेवा-कार्य के द्वारा ऐसे सेक्शन्स में, स्लम एरिया में, सेवा बस्तियों में आवश्यक प्रोजेक्ट शुरू करने के उद्देश्य से हम लोगों ने 1989 में आर.एस.एस. में सेवा विभाग शुरू किया। इसका मुख्य लक्ष्य अनुसूचित समाज में, वनवासी समाज में, निर्धन समाज में आवश्यक छोटे-छोटे कार्यों के द्वारा सहयोग करना तथा उनको आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना, इस काम में हम लगे हुए हैं। हमारा मानना है कि सेवा-कार्यों के माध्यम से ही हम समाज के मोस्टनेगलेट वर्ग को समाज की मुख्यधारा से जोड़ सकते हैं, उनको आगे बढ़ने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। सामाजिक समरसता मंच समाज के भिन्न-भिन्न सामाजिक केन्द्रों पर काम कर रहा है। वह परिवार में, समाज में, देवस्थानों पर, पाठशालाओं में, विश्वविद्यालय में आदि जगहों पर काम करता है। स्कूलों में मिड-डे-मील बनता है, जिसमे स्कूल के सभी विद्यार्थी चाहे वे अमीर हों या गरीब, किसी भी जाति के हों वे, साथ-साथ भोजन करते हैं। उनके मन में किसी की जाति को लेकर कोई भी दुर्भावना न रहे इसके संस्कार हमें परिवार के स्तर पर ही बच्चों में डालने चाहिए। विद्या-केंद्रों पर जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। हम सब भारतीय हैं, भाई-भाई हैं, ऐसा बन्धुभाव निर्मित हो इसके लिए बच्चों को आवश्यक संस्कार देना चाहिए। इस प्रकार व्यक्ति के रूप

में घर में, मंदिर में, समाज के भिन्न-भिन्न केन्द्रों पर ऐसा समरसतायुक्त-मन-भाव खड़ा करना, आवश्यक है। इस प्रकार से मल्टीडायमेंशनली काम करने से ही समाज में परिवर्तन आता है।

प्रश्न-: वर्तमान में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज की समरसता के लिए घातक किन चुनौतियों का सामना कर रहा है ?

उत्तर- शादी में कुछ लोग बाजा बजाते हैं, ड्रम बजाते हैं। ड्रम दोनों तरफ से बजाय जाता है। इसी तरह समरसता का काम करते समय हिन्दू समाज के दोनो पक्षों (तथाकथित उच्च तथा निम्न वर्ग) से कुछ चैलेंजिंग प्रश्न आते हैं। जो तथाकथित सवर्ण समाज है वह वर्तमान समय के अनुसार वांछित कुछ परिवर्तनों के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं है। उनके मन में हम ऊँचे समाज के लोग हैं- यह भाव मन में बना रहता है। उनका यह भी मानना होता है कि यह जो जाति के आधार पर भेदभाव है यह धर्मसम्मत है। ऐसी मानसिकता वाले सवर्ण समाज के मन में समरसता का भाव खड़ा करना, व्यवहारिक रूप में खड़ा करना, एक बड़ा चैलेंज है। इस काम के लिए ज्यादा शक्ति देना आवश्यक होता है। दूसरा है, अनुसूचित समाज के लोगों के मन में सवर्ण समाज के बारे विश्वास नहीं है, उनको हमारे समाज में समरसता आ सकती है- ऐसा विश्वास नहीं है। डॉ. अम्बेडकर के मन में ऐसा ही विचार होने क कारण उन्होंने धर्मांतरण किया था। बौद्ध धर्म अपना लिया था। लेकिन अब समरसता मंच तथा आर.एस.एस. की विभिन्न गतिविधियों व कार्यक्रमों के कारण समाज में जागरूकता आ रही है, समाज-मन में थोड़ा परिवर्तन आ रहा है। लेकिन अभी भी कुछ तथाकथित निम्न समाज के लोगों के मन में समाज में कुछ परिवर्तन आ सकता है, ऐसा विश्वास-भाव नहीं होने के कारण वे हमारे काम में सहयोग नहीं करते हैं। दूर-दूर से देखते हैं। हमें केवल बोलने वाले लोग हैं, काम करने वाले लोग नहीं हैं- ऐसा सोचते हैं। इस प्रकार समाज में समरसता भी आ सकती है- ऐसा विश्वास नहीं होने के कारण कुछ लोग सहयोग नहीं देते हैं। हमारे बारे में कुछ लोग असच प्रचार भी करते हैं। इसके बावजूद कुछ लोगों के मन में समरसता मंच और आर.एस.एस. सामाजिक परिवर्तन के लिए, सामजिक-समरसता के लिए काम कर रहा है- ऐसा भाव आब्जर्ब होने के कारण कुछ लोग आगे आ रहे हैं। सहयोग कर रहे हैं। ऐसा सहयोग करना भी आवश्यक है। बाकी जो लोग हैं उनके मन में विश्वास जगाने में हमें और कुछ समय की आवश्यकता है। काम करके दिखाने से, समाज से कुरीतियों को दूर करके, स्वस्थ समाज खड़ा करने से ही उनके मन में विश्वास उत्पन्न होता है। इस प्रकार समाज के दोनों तबकों तथाकथित सवर्ण समाज व तथाकथित अनुसूचित समाज के मन में विश्वास व उनको परिवर्तन

को स्वीकार करने लायक मनःस्थिति में लाने तथा उसके आधार पर सामजिक समरसता खड़ा करना हमारा उद्देश्य है। हम इस दिशा में द्रुतगति से काम भी कर रहे हैं। हिन्दू समाज में सतत परिवर्तन की, कुरीतियों को दूर करने की परम्परा रही है, इतिहास में इसके कई उदाहरण हैं। हम एक समरस समाज, जहाँ किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव किसी भी स्तर पर न हो, तथा सब भाईचारे के साथ रहें, ऐसे समाज-निर्माण के लिए सतत प्रयासरत हैं। हमारा काम समाज में यशस्वी भी हो रहा है।

परिशिष्ट- 3

आदरणीय श्री मनोहर शिंदे जी का साक्षात्कार

(वरिष्ठ प्रचारक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

(तिथि- 29 दिसम्बर 2023, साक्षात्कारकर्ता- शेषांक चौधरी)

प्रश्न-: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की व्यक्ति-निर्माण की अवधारणा के बारे में बताइये ?

उत्तर- आई थिंक, संघ की यह एक समझ रही है कि जितनी भी प्रकार की समस्याएँ दिखती हैं उन सब के जड़ में मूल के रूप में व्यक्ति और व्यक्ति कितनी मात्रा में गुण सम्पन्न है या सुसंस्कारित है और कितना सक्षम है, उतने प्रमाण के अन्दर समस्याओं का जो एक लाँग टर्म हल होना है या उसका उपाय निकलना है, हो पाता है। इसलिए समस्या को हल करना है। उस कार्य में हम निगलेट नहीं करेंगे। लेकिन केवल समस्या के पीछे न लगते हुए, समस्या निकलती कहाँ से है ? तो व्यक्ति से निकलती है और व्यक्ति को ठीक करने पर ही एक स्थायी समाधान निकलने की सम्भावना रहती है। इसलिए बिलकुल बेसिक कार्य, मूलभूत कार्य इस स्प्रिट के अन्दर संघ ने व्यक्ति-निर्माण की ओर ध्यान दिया है। इसलिए संघ में अक्सर कहते हैं कि संघ केवल एक काम करेगा- व्यक्ति-निर्माण करेगा और व्यक्ति फिर समस्याओं को अपने-अपने रुचि के अनुसार, आवश्यकता के अनुसार उस क्षेत्र में जाकर उस आकार की रचना खड़ी करते हुए और धर्मानुकूल उसकी फिलॉसफ़ी और उसका व्यवहार, उसका मार्गदर्शन करने जैसी बातें तय करते हैं। लेकिन व्यक्ति-निर्माण स्टेप नंबर वन है।

प्रश्न-: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 'हिन्दू-राष्ट्र' की बात करता है, तो क्या है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'हिन्दू-राष्ट्र' की अवधारणा ?

उत्तर- हर देश की एक आत्मा होती है। एक चिति होती है। एक उसका मूल स्वभाव रहता है। वह हजार वर्षों की लम्बी यात्रा के अन्दर हिन्दू-चिन्तन, हिन्दू-दृष्टि या हिन्दू वर्ल्ड-व्यू, हिन्दू पैराडाइन इसका और इस देश का बहुत अटूट सम्बन्ध रहा है। और फिलहाल कुछ विचार बाहर से भी आये होंगे। लेकिन वो जैसे गंगा में अनेक नदियाँ आकर मिलती हैं, लेकिन आखिर में गंगा ही फिर आगे बढ़ती है। तो 'हिन्दू-राष्ट्र' यह कोई थियोलॉजिकल, जिसे कहते हैं कि

कोई रिलीजियस कान्सेप्ट नहीं है। इसलिए यह हिन्दू विचार नहीं हो सकता है कि अहिन्दू लोगों का क्या होगा ? उनको सम्मान के साथ देश में रहने का, जीने का, समृद्ध होने का अवसर रहेगा। लेकिन हर देश की कुछ न कुछ यूनीक विशेषता होती है, इस देश की विशेषताओं में सम्पूर्ण विश्व के लिए मार्गदर्शन करने की क्षमता रखने वाला जो एक धर्माधारित वैश्विक दृष्टिकोण है- वह 'हिन्दू-राष्ट्र' का एक अभिन्न अंग है। इसलिए शायद मैं भले ही बहुत शुद्ध ढंग से व्याख्या नहीं कर पा रहा हूँ, लेकिन 'हिन्दू-राष्ट्र', हिन्दुत्व, हिन्दू अवधारणा, हिन्दू वर्ल्ड-व्यू और ये सारा इस राष्ट्र के अभिन्न अंग के रूप में है। इसलिए इसको अपना एक फ़िलोसोफिकल फाउन्डेशन और तात्विक आधार हम मानकर चलते हैं।

प्रश्न-: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'समाज' की अवधारणा क्या है ? एक समाजशास्त्री की 'समाज-दृष्टि' और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'समाज-दृष्टि' दोनों में क्या कोई भेद है ? अगर है, तो क्या है ?

उत्तर- समाज एक्सपर्ट की क्या राय होगी, इस विषय में मेरा ज्यादा कुछ ज्ञान नहीं है, इसलिए मैं शायद नहीं बता पाऊँगा। लेकिन संघ को जो मैं थोड़ा-बहुत समझ पाया हूँ, उसके आधार पर कुछ कह सकता हूँ। एक शब्द है- 'अंगानुअंग'- जिस प्रकार शरीर के अलग-अलग अवयवों का सम्बन्ध शरीर के साथ रहता है, उसी प्रकार से व्यक्ति का भी समाज के साथ सम्बन्ध रहता है। यह एक अवधारणा या कल्पना है और फिर दूसरा है अपने ठेंगड़ी जी बहुत बार छोटा-सा चित्र बनाकर उसको बताया करते थे जिसमें पश्चिम की धारणा में समाज यानि व्यक्ति पहले और बाद में परिवार, उसके बाद में कम्यूनिटी, उसके बाद में देश और राष्ट्र और फिर विश्व तो ये हर एक अलग-अलग सर्कल्स हैं। इसमें व्यक्ति के हित और परिवार के हित और कम्यूनिटी हित इत्यादि में कॉन्फ्लिक्ट होने की सम्भावना रहती है। भारतीय अवधारणा, जिसे संघ भी बहुत गहराई से स्वीकार करता है इसमें कान्सेटिक सर्कल्स नहीं हैं, लेकिन स्पाइरल है। व्यक्ति और उसका कान्सेसनेस जैसे-जैसे युवा होते जायेगा। तो समाज-हित फिर, कम्यूनिटी-हित, राष्ट्र-हित फिर ब्रह्माण्ड-हित इस प्रकार से और उसकी जैसे-जैसे आन्तरिक और आध्यात्मिक प्रगति होती है वैसे-वैसे उसके कान्सेसनेस का स्तर बढ़ते जाता है तो वह अपने हित और अन्य लोगों के हित के बारे में दोनों में तादात्म्य होने लगता है और इसलिए कोई फन्डामेन्टल इनहरन्ट अनअवाइडेबल कॉन्फ्लिक्ट होना ही चाहिए ऐसा इस अवधारणा में नहीं तो व्यक्ति के विकास के प्रवादक है। हाँ, हो सकते हैं कॉन्फ्लिक्ट लेकिन कॉन्फ्लिक्ट होना ही चाहिए और उसके बगैर

होगा ही नहीं यह जो बात पाश्चात्य अवधारणा में निहित है, वह इस भारतीय अवधारणा में नहीं है। तो ऐसे अलग-अलग टर्म से अनेक बातें इसके बारे में शायद बतायी जा सकती हैं, लेकिन मैं इसके बारे में बड़ा विशेषज्ञ नहीं हूँ।

प्रश्न-: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अनुसार समाज में 'धर्म' की क्या भूमिका है ?

उत्तर- धर्म, भारत के चिन्तन की बहुत ही मौलिक और बहुत ही विशेष उपज है या देन है। चतुर्थ पुरुषार्थ के रूप में भी सोचा जाये तो धर्म के आधार पर 'अर्थ' और 'काम' की उपासना करते हुए फिर अन्त में लक्ष्य के रूप में 'मुक्ति' की ओर बढ़ते हैं। इस प्रकार की एक संकल्पना की गई है, तो धर्म बिलकुल फाउन्डेशनल है। ऐसा रहता है तो मटेरियल पर्सनालिटी या आर्थिक-विकास के बारे में कोई अपना निगेटिव कुछ नहीं उसको भी पूर्णतः एक्नालिस्ट करते हुए, उसको भी स्वीकार करते हुए, उसको उसका स्थान देते हुए लेकिन वो धर्म के आधार पर हो। जिसको शायद आजकल के कांटेम्प्रेरी लैंग्वेज के अन्दर 'एथिकल' ऐसा हम शायद कह सकते हैं लेकिन शायद धर्म की फिर अनेक दृष्टि से उसकी व्याख्या की जा सकती है। उसके अनेक स्तर हैं, अनेक लेयर्स हैं लेकिन शायद इस प्रकार का धर्म-आधारित चिन्तन विश्व में और कहीं नहीं हुआ होगा। तो यह भारत का एक यूनीक कॉन्ट्रीब्यूशन वैचारिक जगत के अन्दर है। ऐसा हम समझ सकते हैं और वही संघ भी इसको प्रमुख रूप से धर्म का रक्षण, धर्म का प्रकटीकरण, धर्म का विकास, धर्म का मूल-आधार (फाउन्डेशन) है, इस अर्थ में संघ उसको देखता है। संघ-प्रार्थना में भी धर्म का उल्लेख आता है,और डेफिनेटली वह रिलीजन से बिलकुल भिन्न है और शायद उसका समवाचक कोई शब्द ही नहीं है अंग्रेजी भाषा में।

प्रश्न-: आपके अनुसार किन मार्गों का अनुगामी होकर राष्ट्र परमवैभव को प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर- थोड़ा सोचना होगा, इस प्रश्न का कोई इजी एण्ड रेडिमेड आंसर तो मैं बता नहीं सकता तो.....ठेंगडी जी जैसे लोगों को, उनकी एक शायद डीपर स्प्रीचुअल अनुभूति या दृष्टिकोण रहा होगा। जिसके आधार पर उनको लगता था कि अपना कार्य जो है वो स्वयं में पूर्ण है। और इसकी विजय सुनिश्चित है। अब केवल सुनके बोलना, रिपीट करना ऐसा नहीं था। उनका वास्तव में- क्योंकि जब मैं तेरह, चौदह साल का था। पहली बार मुझे उनको सुनने का मौका मिला था। बाद में फिर बहुत सम्पर्क रहा। 2004 में उनके देहान्त के दो-चार हफ्ते पहले मैं उनसे पूना में मिल पाया था और जब वे प्रवास पर विदेशों में आते थे तो मैं कार्यवाह था, इस नाते पूरे प्रवास में उनके साथ रहने, वर्गों में उनके

बौद्धिक सुनने तथा उनकी पुस्तकें पढ़ने का सौभाग्य मिला । तो मुझे ऐसा लगता है कि कोई भी संरचना परफेक्ट नहीं हो सकती यानी व्हाटेवर व्हेयर द एजम्प्सन्स इन द स्टारटिंग ऑफ संघ सम आफ देम कुड हैव चेंज । इसलिए हमेशा पिरियोडिकली सेल्फ रिफ्लेक्ट करते हुए लो रिएलाइनमेंट, रि-अर्जेस्टमेंट आवश्यक है । यह एक सतत प्रक्रिया है । तो मुझे लगता है कि उसे संघत्व भी कहता ही होगा । उसने भी छोटी-मोटी अनेक बातों का परिवर्तन करने का निर्णय धीरे-धीरे किया है । अनपरफेक्टबल है पर शायद हम अपने सम सेल्फ रिफ्लेक्शन और कुछ कठोर प्रश्न हम पूछने में थोड़े संकोच करेंगे क्या ? इसलिए संघ की बहुत यूनीकनेस हैं । बहुत विशेषताएँ हैं । उसको भी हम एक्सेप्ट करें और फिर यहाँ पर कुछ फ्रेस थिंकिंग की जरूरत है, उसको भी हम स्वीकार करें । शायद ऐसा नहीं बोलते हैं लेकिन संघ करता होगा- सम टाइम्स सूनर, सम टाइम्स लिटिल लेटर । बस हमें एम्फसाइज़ करने के अलग-अलग तरीके रहते हैं । ठेंगड़ी जी के साथ बहुत गहरी चर्चा इस विषय में कभी हो नहीं पायी । प्रोबेबली जो संघ-कार्य है वो मुझे भी इन्टरनली कनवेंसिंग लगता था । कुछ विषय के बारे में नहीं लगता होगा । लेकिन प्रश्न पूछता रहता था । मुझे श्री गुरुजी से भी दो-तीन बार प्रश्न पूछने का मौका मिला । और ठेंगड़ी जी के साथ भी- नॉट इन दिस इश्यू बट अनादर इश्यूस और एक यादवराव जोशी जी थे उनके साथ भी बातचीत करने का सौभाग्य मिला, तो कुल मिलाकर अच्छा अनुभव रहा ।

प्रश्न-: संघ की जो कार्य-पद्धति तथा शाखा-पद्धति भारत में प्रचलित है, तथा विश्व में अन्य देशों की जो संघ-कार्य पद्धति या शाखा-कार्य पद्धति है, उसमें भिन्नता है या साम्यता के बिन्दु कौन-कौन से हैं ?

उत्तर- यहाँ पर ज्यादा आग्रह दैनिक शाखा का है । तो वहाँ पर जनसंख्या कम डिस्टेंस ज्यादा, वहाँ की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए 'साप्ताहिक शाखाएँ' ये कॉमन मॉडल है । वोकेशनली कुछ स्थानों पर शायद बहुत कम स्थानों पर दैनिक शाखा भी लगती होगी । लेकिन सामान्यतः साप्ताहिक शाखा ही होती है । फिर वहाँ पर विशेषकर अमेरिका में पारिवारिक शाखाएँ मोर कॉमन मॉडल है । इसमें पति-पत्नी या पैरेन्ट्स एण्ड चिल्ड्रेन्स सब मिलकर आते हैं । उनके अलग-अलग गण होते हैं । यूनिवर्सिटी में वहाँ पर भी यहाँ जैसा, सेविका और स्वयंसेवकों का अलग है । वहाँ कम रहता है । यूनिवर्सिटी में भी मिलकर यहाँ भी विद्यार्थी परिषद का मिलकर ही होता होगा । और फिर शायद प्रणाम की भी थोड़ी सी विधि अलग है यहाँ से । ऐसे कुछ मॉडिफिकेशन्स हैं मगर मेन स्प्रिट समान ही है । वहाँ फार्म के अन्दर बहुत दुराग्रह न पकड़ते हुए फ्लेक्सिब्लिटी अडाप्ट करते हुए अलग-अलग देशों में इस पद्धति से अपना काम चलता है । अपने यहाँ के संघ शिक्षा वर्ग से अलग वहाँ पर पहले चार दिन, फिर नौ दिन इस प्रकार आगे भी मतलब तीन सालों

में इक्कीस दिन कवर होता है। आई थिंक एकदम मुझको भिन्नतायें ध्यान नहीं आ रही हैं कि कहाँ-कहाँ पर और क्या-क्या भिन्नताएँ हैं। लेकिन वहाँ पर ये आग्रह ज्यादा रहता है कि व्यक्तिगत सम्बन्ध बना रहे। जब ये कम होता है तो फिर कार्यक्रमों के माध्यम से उसे बनाने का प्रयास किया जाता है। लेकिन जिस प्रकार के संस्कार, जिस प्रकार की आत्मीयता होनी चाहिए, हो नहीं पाती है। कुछ समस्याएँ शायद यहाँ भी हैं, यहाँ भी स्ट्रगल होता ही होगा। बाकी दोनों भी कह सकते हैं कि परिवर्तन भी है, फर्क भी है। फाउन्डेशन में फर्क नहीं भी है। दोनों में देखने की दृष्टि के ऊपर है। भगवा ध्वज वहाँ भी लगता है। प्रार्थना अलग है। वहाँ पर "सर्वमंगल माङ्गल्यं देवीं सर्वार्थ साधिकाम्, शरण्यं सर्वभूतानां नमामो भूमिमातरम्।....." सब पूरा भाव होता है। लेकिन पर प्रार्थना के अंत में सब 'विश्व धर्म की जय' बोलते हैं। यहाँ भारत में प्रार्थना के अंत में 'भारत माता की जय' बोलते हैं। कुछ फर्क है। भारत के अलावा विश्व के अन्य देशों (लगभग नब्बे प्रतिशत से अधिक जगहों पर) में संगठन का नाम 'हिन्दू स्वयंसेवक संघ' ही है। कुछ स्थानों पर अलग-अलग नामों से शुरू हो गया था। वो वैसे ही अभी भी है। सविनय संघ, भारत स्वयंसेवक संघ दक्षिण अफ्रीका में है। और वर्मा (म्यांमार) और नेपाल में थोड़ा भिन्न नाम है। लेकिन जितने भी नये-नये काम शुरू हुए हैं और लगभग सभी अधिकांश स्थानों पर 'हिन्दू स्वयंसेवक संघ' ही नाम है। यह परिवर्तन कुछ उसी प्रकार से है जैसे 'प्रज्ञा प्रवाह'(संघ का इंटेलेक्चुअल फोरम) अनेक प्रान्तों में तो 'प्रज्ञा प्रवाह' नाम से ही चलता है, मगर तेलंगाना में वो 'प्रज्ञा भारती' के नाम से चलता है या गुजरात में 'भारतीय विचार मंच' के नाम से चलता है। ऐसे केरल में कुछ अलग नाम है। ऐसे कुछ- कुछ भिन्नतायें तो हैं, लेकिन ओवरआल एक सूत्र तो कॉमन ही है।

प्रश्न-: राष्ट्र की अर्थनीति कैसी हो ? इसको लेकर के राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का चिन्तन क्या है ? इस पर थोड़ा प्रकाश डालें।

उत्तर- वैसे संघ ने सोचा है कि संघ की प्रेरणा लेते हुए अलग-अलग क्षेत्रों के अन्दर अलग-अलग प्रकार की चैलेंजेस (समस्याएँ) होती हैं, तो अर्थनीति के बारे में भी उस विषय की गहराई से स्टडी करते हुए उस चिन्तन को भी विकसित करना होगा। तो ऐसा दत्तोपंत ठेंगड़ी जी और दीनदयाल उपाध्याय जी ने किया है। ठेंगड़ी जी के बारे में एक छोटी-सी और रोचक कथा बताते हैं लोग कि जब ठेंगड़ी जी मजदूर संघ में गये और वहाँ काम किया। पहले तो तीन-चार वर्ष दूसरे लेफ्ट ऑर्गेनाइजेशन में थे। उसमें कांग्रेस का एक इंटक या ऐटक ऐसा कुछ विषय पर काम करते थे। उस समय वे विभिन्न आर्थिकी आदि से जुड़े विषयों पर लेख भी लिखा करते थे। बीच-बीच में किसी विषय को लेकर लिखे गये

उनके लेख ऑर्गनाइजर में छपते थे। तो उनके लिखने का, सोचने का, उनके लेख की गहराई, उनका आर्टिक्लेशन, उनके सोच की ऊँचाई आदि को देखते हुए अपने कुछ कार्यकर्ताओं को लगा कि लेबर का कार्य तो कोई भी कार्यकर्ता शायद कर लेगा। लेबर गेटमीटिंग्स है, या फिर उनके कुछ स्ट्राइक्स हैं या उनके कुछ आर्थिक डिमांड्स हैं, यानि ये काम कोई भी कर सकता है। लेकिन इस प्रकार से मौलिक चिन्तन करते हुए अलग-अलग विषयों के ऊपर इतना उत्कृष्ट ढंग से लिखना ये बहुत कम लोगों को आता है। मगर काम के कारण इनको अपने लेखन के लिए पर्याप्त समय इनको नहीं मिलता होगा। लेकिन अगर इनको समय निकालकर इस काम के (लेखन के) पीछे ज्यादा प्रायोरिटी देना सम्भव हो पाया तो बहुत अच्छा रहेगा। तो लोगों ने उनसे कहा, तो उन्होंने (ठेंगड़ी जी ने) कहा कि ऐसा नहीं है। संघ ने कुछ सोचकर मुझे ये काम दिया है। वो करते-करते कितना समय मिलता है, मैं करता हूँ। और यह पर्याप्त है। लोग कहते हैं- आपको शायद खुद के बारे में बताने में संकोच लगता होगा। आप खुद मत जाइये, हम जाकर श्री गुरुजी से इसके बारे में रिक्वेस्ट करेंगे। तो फिर उन लोगों ने जाकर गुरुजी से कहा कि आप जरा हो सके तो एक और प्रचारक और एक कार्यकर्ता मजदूर संघ को दीजिए। लेकिन इनको (ठेंगड़ी जी को) ज्यादा लिखने के लिए बताइये। तो फिर उन्होंने (गुरुजी ने) कहा कि- (उस समय पर नागपुर के एक बहुत बड़े विद्वान थे- बादशाह श्री हरिदास, इनके भगवान कृष्ण के ऊपर, शिवाजी के ऊपर धाराप्रवाह छः-छः, आठ-आठ, दस-दस दिन भाषण नागपुर में, पूना आदि शहरों में हुआ करते थे।) मेरी अपेक्षा, मेरी जो एक्सपेक्टेशन या संकल्पना है, वो और एक बादशाह श्री हरिदास निर्माण करने की नहीं है। तो जो ऐसे काम्प्लेक्स लेवल हैं या इकॉनामिक्स है, इस विषय के अन्दर बहुत गहराई तक जाकर प्रत्यक्ष अनुभव के आधार के ऊपर उस प्रकार चिंतन, आर्थिक-चिंतन विकसित करें। और इसलिए तो काम प्रमुख है। लेख कितना भी अच्छा है, उपयोगी है, आवश्यक है, महत्व का है लेकिन वो दोयम है। तो जितना समय मिला उतना करेंगे, तो भी पर्याप्त है। गुरुजी खुद ही बड़े इन्टलेक्चुअल थे। उनको इन्टलेक्चुअल रिकॉग्नेशन ऑफिशियेशन ये नहीं था। ऐसी तो कोई बात नहीं थी। लेकिन क्लीयरिटी कितनी थी कि- व्हाट इज प्राइमरी, व्हाट इज सेकेन्डरी। तो फिर 'इंटीग्रल ह्यूमैनिज्म' के रूप में दीनदयाल जी ने कुछ प्रयास किया है, कि किस प्रकार की अर्थनीति उसमें अनेक अंग और उसमें अनेक एस्पेक्ट हो सकते हैं। जैसे उनका एक आग्रह रहता था- कि अर्थ का अभाव भी न रहे और अर्थ का अधिक प्रभाव भी न रहे। इसका सन्तुलन रखते हुए; फिर कहीं पर मेरा ख्याल है 'द थर्ड वे' पुस्तक में ठेंगड़ी जी श्री अरबिंदो को उद्धरित करते हुए कहते हैं- ऐसी अर्थव्यवस्था जिसके अन्तर्गत मॉडेस्ट समय के अन्दर मॉडेस्ट ऐफर्ट से अधिकांश

लोगों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाये, और अधिक समय डीपर कल्चरल एण्ड फाइन-आर्ट्स एण्ड सिविलाइजेशनल, स्प्रीचुअल अनफोल्डमेंट के लिए हो। यानि चौबीस घण्टे बस कमाने के पीछे लगना पड़ता है और पूरा जीवन अर्थ को मैनेज करने में चला जाता है। दिस इज नॉट ए वेरी हेल्दी एण्ड वेरी डिजायरेबल अरेंजमेंट, तो ऐसे अनेक अर्थ के बारे में ऐस्पेक्ट हैं, जिनके बारे में बात किया जा सकता है।

प्रश्न-: आपने लम्बे समय तक संघ के विश्व विभाग का काम देखा है, उसके बारे में कुछ बताइये।

उत्तर- अभी वर्तमान में मैं प्रज्ञा प्रवाह के अन्तर्गत भारतीय ज्ञान परम्परा या इंडियन नॉलेज सिस्टम का एक बड़ा राष्ट्रीय स्तर पर इकोसिस्टम कैसे बने इसके लिए काम कर रहा हूँ। जहाँ तक विश्व विभाग की बात है तो मेरा ख्याल है- चौदह सौ के ऊपर शाखाएँ हैं। सौमित्र गोखले उसके ओवरआल इंचार्ज हैं। एकदम याद तो नहीं है लेकिन मेरा ख्याल है संघ-सम्पर्क 50 से अधिक देशो में है। और अच्छे-अच्छे कार्यकर्ताओं की बैच भी है। राम वैद्य जी सहसंयोजक हैं विश्व विभाग के। उन्होंने संस्कृत विषय में पीएच.डी. की है। उपनिषद्, पुराण, गीता के अच्छे विद्वान हैं। इग्लैण्ड उनका केंद्र है, साथ ही वे यूरोप, अफ्रीका व अन्य स्थान भी देखते हैं। इसके अलावा भारत से अभी छः-सात साल पहले गये अभी वे पूरे अमेरिका के प्रचारक हैं- वेंकट राघव, इन्होंने इजीनियरिंग पास करके आई.आई.एम. कोलकाता से एम.बी.ए. किया। जिस दिन परीक्षा समाप्त हो गयी, उसके दूसरे दिन प्रचारक निकल गये। कुछ वर्षों तक गुजरात में रहे, मूलतः हैं ये कर्नाटक से लेकिन स्वयंसेवक बने गुजरात में, पढ़ाई के टाइम पर । अभी पूरे U.S. का काम देखते हैं। वेंकट जी अच्छे चिन्तक, विचारक, आर्गेनाइजर सभी गुणों से संपन्न हैं। इनकी आउट ऑफ़ बॉक्स थिंकिंग रहती है। अभी अमेरिका में कुछ 240 शाखाएँ हैं। राजस्थान के एक प्रचारक हैं- चन्द्रकांत शर्मा, ये आजकल मीडिया इत्यादि के नैरेटिव आदि का काम देखते हैं। ये भी बड़े अच्छे ऑब्जर्वर, बहुत अच्छी संगठन कुशलता, अफ्रीका में नॉन-इण्डियन अफ्रीकन लोगों के लिए कैसी शाखा व्यवस्था करना, चलाना। वहाँ के अश्वेत लोग हैं, उनको किस प्रकार की फिलॉस्फी, अब भारत का चिन्तन लेकिन भारत हिन्दू राष्ट्र इत्यादि शायद वहाँ के लिए रिलेवेंट नहीं होगा, लेकिन उसी प्रकार का व्यक्ति-निर्माण, उसी प्रकार की संगठित रूप से काम करने की आदत, उसी प्रकार का केवल अपने बारे में नहीं बल्कि संघ के बारे में सोचना और समाज-हित के लिए कुछ करने का ऐसा भाव-निर्माण करना, ऐसे अनेक प्रयास अच्छी तरह से चल रहे हैं। उसी प्रकार से 'दिगन्त दास' उड़ीसा के इंजीनियरिंग करने गये बाद में उन्होंने एम.बी.ए. किया। आजकल उनको विश्वभर में 'योग' का कोऑर्डिनेशन करने का संघ की ओर से दायित्व दिया गया

है। और एक इन्टरनेशनल सेन्टर्स ऑफ कल्चर स्टडीज़ के नाम से प्री-अब्राह्मिक ट्रेडीशन्स है तो उनके भीतर जो नेटिव अमेरिकन्स हैं या रोमास हैं या आस्ट्रेलिया के जनजातीय लोग हैं, इन सब लोगों के बीच हर तीन साल में एक बार उनके लीडर्स को भारत लाकर, भारत के ट्राइबल लोगों के साथ उनके कार्यकम होते हैं। सरसंघचालक जी भी उनके इस कार्यक्रम में अक्सर उपस्थित रहते हैं। उसके लिए भी दिगन्त जी काम करते हैं। दिगन्त जी ने अभी हाल में लन्दन में दो बड़े इन्ट्रेसटिंग प्रयोग शुरू किये हैं- एक वहाँ पर 'अर्थ चैरिटेबल फाउन्डेशन' के नाम से वैचारिक क्षमता-निर्माण करने के लिए फाइनेन्शियल कैपब्लिटी बढ़ाना के उद्देश्य से, और दूसरे धर्म के पॉइंट ऑफ व्यू से पश्चिम के साथ ब्रिटेन की जो अलग-अलग समस्यायें आयीं उसको धर्म के एंगल से, धर्म के लेंस से हम कैसे देखें ? कैसे जवाब दें ? इसके लिए कुछ सौ तक स्कॉलर्स को उन्होंने इनवाइट किया है। उनके कार्यक्रम ब्रिटिश पार्लियामेंन्ट की बिल्डिंग में भी होते हैं। अच्छा काम चल रहा है। इस मंच के माध्यम से कुछ युवाओं को पीएच.डी. करने के लिए अलग-अलग देशों में भी भेजा गया है। बाकी 'सेवा इन्टरनेशनल' के माध्यम से हर साल 10-12 मिलियन तक फंड रेज करके दुनिया भर में जो अनेक सेवा-कार्य चल रहे हैं उनके लिए सहयोग करना। इसके अतिरिक्त स्थानीय लोगों की विभिन्न समस्याओं के निदानार्थ हर प्रकार की मदद करना। ऐसा काम हम सतत कर रहे हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

आधार ग्रन्थ सूची-

- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ‘अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा’ व ‘अखिल भारतीय कार्यकारी मंडल’ द्वारा पारित प्रस्ताव https://www.archivesofrss.org/Resolutions.aspx
- *श्री गुरुजी समग्र-भाग-1-12*.(युगाब्द-5106). नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- गोलवलकर, मा. स. (2018). *विचार नवनीत.* (भारत भूषण आर्य, अनु.) जयपुर : ज्ञानगंगा प्रकाशन.
- *कृतिरूप संघ-दर्शन पुस्तक-माला- (पुष्प- 1-6),* (2018). नागपुर : श्री भारती प्रकाशन.
- डोगरा,अमरनाथ.(संपा.).(2016). *दत्तोपंत ठेंगड़ी जीवन दर्शन (खण्ड-1-9).* नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- ठेंगड़ी, दत्तोपंत (संपा.). (2014). *दीनदयाल विचार दर्शन- भाग-1 (तत्व-जिज्ञासा).* नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- नेने, विनायक वासुदेव (संपा.). (2015). *पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2(एकात्म मानव-दर्शन).* नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- केलकर, भालचन्द्र कृष्णाजी (संपा.). (2016). *पं.दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-3(राजननीतिक चिंतन).* नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- कुलकर्णी, शरद अनंत (संपा.). (2014). *पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-4 (एकात्म अर्थनीति).* नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- भिषीकर, चन्द्रशेखर परमानन्द (संपा.). (2014). *दीनदयाल विचार दर्शन- भाग-5 (राष्ट्र की अवधारणा).* नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- जोग, बलवंत नारायण (संपा.). (2014). *दीनदयाल विचार दर्शन- भाग-6 (राजनीति राष्ट्र के लिए).* नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन

- देवधर, विश्वनाथ नारायण (संपा.). (2014). *दीनदयाल विचार दर्शन- भाग-7 (व्यक्ति-दर्शन)*. नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- सिन्हा, राकेश (2018). *आधुनिक भारत के निर्माता : केशव बलिराम हेडगेवार*. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग-भारत सरकार.
- भिशीकर, सी.पी. (2014) *केशव : संघ निर्माता*,नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन
- रंगाहरि, (2012). *गुरुजी गोलवलकर जीवन चरित्र*. नागपुर : श्री भारती प्रकाशन.
- भागवत, मोहनराव (2018). *भारत का भविष्य-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण*. नई दिल्ली : विमर्श प्रकाशन.
- आंबेकर,सुनील.(2021). *राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ: स्वर्णिम भारत के दिशा-सूत्र*. (जितेन्द्र वीर कालरा,अनु.). नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- *विषय बिन्दु*. (2012). आगरा : शरद प्रकाशन
- तपस्वी, मोरेश्वर गणेश. (2001). *राष्ट्राय नमः*. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- देवरस, बालासाहब. (1997). *हिन्दू संगठन और सत्तावादी राजनीति*. नोएडा : जागृति प्रकाशन.
- गोलवलकर, मा. स. (2017). *एकात्म मानव दर्शन*. नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- उपाध्याय, पं.दीनदयाल. (2017). *एकात्म मानव दर्शन*. नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- भागवत, मोहन .(2021). *यशस्वी भारत*. (श्याम किशोर-संपा.). नई दिल्ली : प्रभात पेपरबैक्स.
- देवरस, बालासाहब. (2016). *सामाजिक समरसता और हिंदुत्व*. नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- शेंडे व.ण.. (1941). *परम पूजनीय डॉ. हेडगेवार*. नागपुर
- जोशी, सुरेश भय्याजी. (2021). *हमारा सांस्कृतिक चिंतन*. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- शेषाद्रि, हो. वे., *भारतीय शिक्षा एक चिंतन*. नागपुर : भारतीय विचार साधना.

- महाजन, रवीन्द्र. (1994). *स्वदेशी प्रश्नोत्तरी.* दिल्ली : स्वदेशी जागरण मंच, प्रकाशन.
- वैद्य, माधव गोविन्द. (2002). *अपनी संस्कृति.* नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- ठेंगड़ी, दत्तोपंत. (1992). *हिन्दू कला दृष्टि: संस्कार भारती क्यों ?.* (रघुनाथ सिंह, अनु.). नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.

सहायक - ग्रन्थ सूची-

- *शाखा दर्शिका.* (1996). जयपुर : ज्ञानगंगा प्रकाशन.
- शारदा, रतन. (2020). *आर.एस.एस. 360°.*नई दिल्ली : ब्लूम्सबरी प्रकाशन.
- शारदा, रतन. (2019). *संघ और स्वराज.* नई दिल्ली : प्रभात पेपरबैक्स.
- आनन्द, अरुण.(2017).*जानिए संघ को.* नई दिल्ली : प्रभात पेपरबैक्स.
- पटले, जोगेश्वर.(2013). *श्री गुरुजी : हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा.* नई दिल्ली : सुरुचि प्रकाशन.
- त्रिवेदी, विजय (2020). *संघम शरणम् गच्छामि : आरएसएस के सफर का एक ईमानदार दस्तावेज.* चेन्नई : एका प्रकाशन.
- कलावडे, सुधाकर. (1979). *भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा.* कानपुर : साहित्य रत्नालय.
- पाण्डेय, कैलाशनाथ. (2012). *भाषा विज्ञान का रसायन.* इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.
- द्विवेदी, मुकुन्द (संपा.). (2001). *भारतीय भाषाएँ और राष्ट्रीय अस्मिता.* दिल्ली : हिन्दी अकादमी.
- जैन, महावीरसरन.(1965). *भाषा एवं भाषा विज्ञान.* इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.
- शर्मा,रामविलास.(2010). *भाषा और समाज.* दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
- झा, ज्ञानतोष (संपा.).(2014). *भाषा की राजनीति और राष्ट्रीय अस्मिता.* नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मण्डल.
- अज्ञेय, स. ही. वा. (2011). *सर्जना और सन्दर्भ.* नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

- गुहा,रामचंद्र.(2011). *भारत : गाँधी के बाद.* (सुशांत झा,अनु.). गुरुग्राम : पेंगुइन बुक्स.
- *डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय- खंड-1 ('भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा-उन्मूलन,भाषाई प्रांतों पर विचार, रानडे,गाँधी और जिन्ना आदि).(2019).* डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान 15, जनपथ, *नई दिल्ली :* सामाजिक न्याय और अधिकारिता मन्त्रालय, भारत सरकार.
- सिंह,नामवर. (2019). *हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग.* इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.
- सुन्दरदास,श्याम.(संपा.).(1973).*हिन्दी शब्दसागर(दसवाँ भाग).* वाराणसी : नागरीप्रचारिणी सभा.
- श्रीवास्तव, मुकुन्दीलाल, कालिकाप्रसाद, राजवल्लभ.(संपा.).(संवत्-2020). *वृहद् हिन्दी कोश.* वाराणसी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड.
- सम्पूर्णानंद.(संवत्-2004). *समाजवाद.* बनारस : श्री काशी विद्यापीठ.
- जैन,निर्मला. (संपा.).(2017). *महादेवी साहित्य (खण्ड-4).*नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
- लिमये, विश्वनाथ.(1976). *मैं या हम.* दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- मुकर्जी,रवीन्द्रनाथ. (1988). *सामाजिक विचारधारा-काम्टे से मुकर्जी तक.* दिल्ली : विवेक प्रकाशन.
- मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, अग्रवाल, भारत .(2021). *समाजशास्त्र.* आगरा : एस बी पी डी पब्लिकेशन.
- मोदी, नरेन्द्र. (2012). *सामाजिक समरसता.* (किशोर मकवाना-संपा.). नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- छीपा, एम. एल., शर्मा, शंकरलाल.(2004). *भारतीय आर्थिक चिंतन.* जयपुर :कॉलेज बुक हाउस (प्रा.) लि.
- द्विवेदी, मुकुन्द (संपा.). (2022). *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली,भाग-9.* नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
- शर्मा, अमित कुमार. (2006). *भारतीय संस्कृति का स्वरूप.* पटना : कौटिल्य प्रकाशन.
- शर्मा, सुभाष. (2013). *संस्कृति और समाज.* नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन.
- दिनकर, रामधारी सिंह. (2010). *संस्कृति के चार अध्याय.* इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.
- पालीवाल, कृष्णदत्त (संपा.). (2011). *अज्ञेय प्रवर्तित हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यानमाला (भाग-1).* नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मण्डल.

- अग्रवाल, वासुदेवशरण. (2003). *कला और संस्कृति.* इलाहबाद : साहित्य भवन प्रा. लि.
- साठे, श्रीराम. (2003). *हिन्दू राष्ट्र : भ्रम और सत्य.* जयपुर : ज्ञानगंगा प्रकाशन.
- पाण्डेय, राजेंद्र. (2003). *भारत का सांस्कृतिक इतिहास.* लखनऊ : उ.प्र. हिन्दी संस्थान.
- श्री अरविन्द. (2012). *मानव चक्र.* पाण्डिचेरी : श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग.
- देवराज. (1961). *भारतीय संस्कृति.* उत्तर प्रदेश : प्रकाशन शाखा- सूचना विभाग.
- उपाध्याय, भगवत शरण. (1955). *सांस्कृतिक भारत.* दिल्ली : राजपाल एंड सन्ज़.
- त्रिपाठी, किरन. (2018). *भारतीय संस्कृति* (इकाई-1). उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय द्वारा छात्रहित में निर्गत प्रकाशन.
- अग्रवाल, पृथ्वीकुमार. (2000). *भारतीय संस्कृति की रूपरेखा.* वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन.
- पालीवाल, कृष्णदत्त (संपा.). (2016). *अज्ञेय रचनावली (खण्ड-11).* नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन.
- सिंह, अभयप्रसाद (संपा.). (2017). *राष्ट्रवाद का भारतनामा :भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद.*हैदराबाद : ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा.लि.
- उपाध्याय, रमेश कुमार व सिंह, योगेन्द्र नारायण (संपा.). (2020-21). *उ.प्र. बोर्ड- हिन्दी पाठ्यक्रम-कक्षा-12.* प्रयागराज : राजीव प्रकाशन.
- बाजपेई, नन्ददुलारे. (1965). *राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध.* वाराणसी : विद्यामंदिर प्रकाशन.
- Jayaprasad, K. (1991). *RSS And Hindu Nationalism : Indroads In A Leftist Stronghold.* New Delhi : Deep & Deep Publication.
- Jaffrelot, Christophe (Editor). (2005). *The Sangh Parivar:A Reader.* Delhi : Oxford University Press.

- Fairchild, Henry Pratt (Editor).(1944). *Dictionary of Sociology*.New York City : Philosophical Library.
- Maciver, R.M. & Page, Charles H. (1950). *Society.* London : Macmillon & Co.
- Ginsberg, Morris.(1923).*Sociology.* London : Oxford Univrsity Press.
- Malkani, K.R.(1980). *The RSS Story.* Delhi : Impex India Publication.
- Mishra, Dina Nath. (1980). *R.S.S. : Myth And Reality.* Ghaziabad : Vikas Publication House Pvt. Ltd.

सहायक पत्र-पत्रिकाएँ -

- प्रतिमान पत्रिका, सम्पादक- अभय कुमार दुबे, जनवरी-जून,2018, वर्ष- 6, अंक- 11
- प्रतिमान पत्रिका, सम्पादक- अभय कुमार दुबे, जनवरी-जून,2019, वर्ष- 7, अंक- 13
- कल्याण 'हिन्दू-संस्कृति-अंक' (चौबीसवें वर्ष का विशेषांक), गीताप्रेस गोरखपुर, दसवाँ पुनर्मुद्रण-(संवत-2076)
- मीडिया नवचिंतन पत्रिका (माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय की इन हाउस पत्रिका), अंक- अक्टूबर-दिसम्बर-2017
- हृदयनारायण दीक्षित, दैनिक जागरण समाचार पत्र, 4 जनवरी 2003

सहायक वेब-सामग्री सन्दर्भ-

- ABPS Annual Report 2024 https://www.rss.org/hindi/Encyc/2024/3/15/ABPS-Annual-Report.amp.html
- संघ कार्यपद्धति का विकास – बापूराव वन्हापांडे (RSS ARCHIVE) https://www.archivesofrss.org/
- संस्कृत भाषा : भारतीय संस्कृति की पहचान एवं विरासत | संस्कृत भाषा का महत्व |- दीपक तिवारी https://www.hktbharat.com/sanskrit-language-higher-education-in-sanskrit-sanskrit-

education-history-of-sanskrit-sanskrit-bhasha-ka-mahatva-sanskrit-bhasha-ka-ithihas%20.html

- चीफ जस्टिस बोले- डॉ. आंबेडकर ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने का दिया था प्रस्ताव https://www.abplive.com/news/india/ambedkar-had-proposed-sanskrit-as-national-language-cji-bobde-1901667/amp
- संस्कृत के प्रबल समर्थक थे आंबेडकर https://www.jansatta.com/sunday-magazine/jansatta-ravivari-artical-ambedkar-was-a-strong-supporter-of-sanskrit/644281/
- संकट में देवभाषा: एक अरब आबादी में 24 हज़ार 821 लोग ही बोलते हैं संस्कृत, हैरान करने वाले हैं यह आंकड़े https://www.amarujala.com/uttar-pradesh/agra/only-24-thousand-821-people-speak-sanskrit-language-in-india
- Samskrita Bharati- https://samskritabharati.in/
- भाषाओं का सिमटता संसार, हर साढ़े तीन माह में मर रही है एक भाषा- भागीरथ श्रीवस https://www.downtoearth.org.in/hindistory/development/sustainable-development/one-language-dying-every-three-and-a-half-months-77495
- अंग्रेजी बनाम स्थानीय भाषाएं https://www.downtoearth.org.in/hindistory/%e0%a4%85%e0%a4%82%e0%a4%97%e0%a5%8d%e0%a4%b0%e0%a5%87%e0%a4%9c%e0%a5%80%e0%a4%ac%e0%a4%a8%e0%a4%be%e0%a4%ae%e0%a4%b8%e0%a5%8d%e0%a4%a5%e0%a4%be%e0%a4%a8%e0%a5%80%e0%a4%af%e0%a4%ad%e0%a4%be%e0%a4%b7%e0%a4%be%e0%a4%8f%e0%a4%82-61129
- मातृभाषा: अपना गौरव अपनी पहचान- डॉ. पवन सिंह मलिक https://www.samvad.in/Encyc/2021/2/21/matrabhasha-our-pride-and-identity.html
- मातृभाषा में शिक्षा की दिशा में सार्थक पहल- ललित गर्ग https://www.pravakta.com/meaningful-initiative-towards-education-in-mother-tongue/
- भाषा के मातृभाषा न रहने के संकट- प्रमोद भार्गव https://www.deshbandhu.co.in/vichar/भाषा-के-मातृभाषा-न-रहने-के-संकट-21905-2
- भारतीय भाषा में संवाद से बढेगा देश का स्वाभिमान : अतुल कोठारी - http://www.vskgujarat.com/भारतीय-भाषा-में-संवाद-से-ब/
- परिवार का महत्त्व और उसका बदलता स्वरूप- गीता आर्य https://www.pravakta.com/importance-of-the-family-and-its-changing-nature/
- "I consider all our languages as national languages":Sri Guruji Golwalkar on 'The Language Problem' https://organiser-org.translate.goog/2022/04/30/78588/bharat/i-

consider-all-our-languages-as-national-languages-sri-guruji-golwalkar-on-the-language-problem-2/?_x_tr_sl=en&_x_tr_tl=hi&_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc,sc

- 'संघ क्यों कर रहा है भारत में कुटुम्ब प्रबोधन'- प्रहलाद सबनानी https://hindivivek.org/40309
- RSS प्रमुख मोहन भागवत ने कुटुम्ब प्रबोधन में दिया सन्देश,कहा-'भारतीय पारिवारिक व्यवस्था श्रेष्ठ...'https://www.jagran.com/uttar-pradesh/bareilly-city-rss-chief-mohan-bhagwat-gave-message-in-kutumb-prabodhan-said-indian-family-system-is-best-23334472.html
- Marriage is 'sanskar', not instrument for enjoyment: RSS general secretary https://www.hindustantimes.com/india-news/marriage-is-sanskar-not-instrument-for-enjoyment-rss-general-secretary-101678808214587.html
- 'क्या होता है लिव-इन रिलेशनशिप, भारत में इसे लेकर क्या है कानून ?' https://www.jansatta.com/explained/what-is-live-in-relationship-what-is-the-legal-rights-of-unmarried-couples-in-india/2493993/
- 'भारत को विश्वगुरु बनाने के लिए मातृशक्ति के योगदान को महत्वपूर्ण मानते है संघ प्रमुख' https://www.naidunia.com/editorial/expert-comment-sangh-chief-considers-contribution-of-mother-power-to-be-important-to-make-india-a-world-leader-7795512
- मंदिर में महिलाओं को एंट्री दिए जाने का संघ ने किया समर्थन - https://navbharattimes.indiatimes.com/india/rss-bats-for-womens-right-to-entertemples/articleshow/51378305.cms
- RSS ने समलैंगिकता पर SC के फैसले का किया समर्थन लेकिन ऐसे संबंधों को बताया अप्राकृतिक https://www.aajtak.in/india/story/rss-supports-decriminalising-homosexuality-but-says-these-kind-relations-are-unnatural-563694-2018-09-06
- समलैंगिकता एक रोग, विवाह को मिली कानूनी मान्यता तो समाज में यह और बढ़ेगा, RSS के सर्वे में डॉक्टरों का दावा https://www.jagran.com/news/national-rss-survey-homosexuality-a-disorde-it-will-further-increase-in-society-if-same-gender-marriage-is-legalised-23404322.html
- 'आरएसएस से जुड़े संगठन ने कहा- स्कूलों में यौन शिक्षा देने की कोई जरूरत नहीं' https://www.abplive.com/news/india/rss-linked-organization-says-no-need-to-give-sexual-education-1191119
- आरएसएस और राजनीति- लोकेन्द्र सिंह राजपूत https://www.pravakta.com/rss-and-politics/
- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राजनीतिक दल नहीं है, बल्कि वह संपूर्ण समाज का संगठन है- https://www.jagran.com/editorial/apnibaat-rashtriya-swayamsevak-sangh-not-political-party-but-it-is-organisation-of-entire-society-19217783.html

- विजयादशमी उत्सव (बुधवार दि. 05 अक्तूबर 2022) के अवसर पर प. पू. सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी का उद्बोधन https://www.rss.org/hindi/Encyc/2022/10/5/Vijaya-Dashami-2022-Full-Speech.html
- विजयादशमी उत्सव (शुक्रवार दि. 15 अक्तूबर 2021) के अवसर पर प. पू. सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी का उद्बोधन https://www.rss.org/hindi/Encyc/2021/10/15/Vijaya-Dashami-2021-Full-Speech.html
- बापू का था एक मूलमंत्र पश्चिमी सभ्यता से बचें और भारत की धर्मपरायण संस्कृति में भरोसा - https://www.jagran.com/news/national-mahatma-gandhi-main-credo-avoid-western-civilization-and-trust-in-the-religious-culture-of-india-jagran-special-20823293.html
- कैसे हुई हिन्दू शब्द की उत्पत्ति ? सिन्धु से सम्बन्ध नहीं,यहाँ हुआ सबसे पहले जिक्र- https://zeenews.india.com/hindi/india/how-did-the-word-hindu-originate-know-history-facts/1433826
- नॉनवेज खाने वालों को संघ प्रमुख मोहन भागवत ने दी ये सलाह- https://www.aajtak.in/india/news/story/rss-chief-mohan-bhagwat-advice-to-those-who-eat-meat-follow-discipline-ntc-1547098-2022-09-30
- No one can put curbs on food choices : RSS Leader - https://www.hindustantimes.com/india-news/no-one-can-put-curbs-on-food-choices-rss-leader-101663178274168.html
- भारतीय शास्त्रीय संगीत विश्व को सत्य, करुना और पवित्रता की ओए ले जाता है- डॉ. भागवत - https://www.rss.org/hindi/Encyc/2017/11/7/SwaraGovindam.html
- संघ में घोष की विकास यात्रा (आलेख)- डॉ. रामकिशोर उपाध्याय, पाञ्चजन्य पत्रिका, https://panchjanya.com/2021/12/01/186640/bharat/ghoshs-development-journey-in-the-sangh/
- कला सिर्फ मनोरंजन नहीं,इससे उन्नयन भी होता है : मोहन भागवत, https://www.jagran.com/delhi/new-delhi-city-ncr-art-is-not-just-entertainment-it-also-enhances-says-rss-chief-mohan-bhagwat-22671539.html

(नोट- सभी वेब-सन्दर्भ के लिंक्स का दिनांक 29 जून 2024 को परीक्षण किया गया, जिसमें सभी लिंक्स सक्रिय पाये गये ।)